औद्योगिक विकास

भारत में औद्योगिक विकास के अध्ययन, उसकी समस्याओं और प्रगति के महत्वपूर्ण परिचय को लेखक ने सरल एवं रोचक भाषा-शैली में प्रस्तुत किया है। पुस्तक आम पाठक व अर्थशास्त्र के छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

एम. आर. कुलकर्णी, 'डा. एल. आर. कडियाली एंड एसोसिएटस फार दि रोड यूजर कॉस्ट स्टडी' में वरिष्ठ अर्थशास्त्री के रूप में कार्यरत हैं। यह परियोजना एशियन डवलेपमेंट बैंक और भूतल परिवहन मंत्रालय, भारत सरकार द्वारा प्रायोजित है। श्री कुलकर्णी लगभग तीन दशकों तक योजना आयोग के साथ जुड़े रहे हैं। श्रेष्ठ अकादमिक स्तर पाने के उपरांत उन्होंने डेकन एजुकेशन सोसायटी, पुणे में अर्थशास्त्र पढ़ाया और उसके उपरांत सन् 1958 में योजना आयोग में आये। भारतीय शिष्ट मंडल के सदस्य के रूप में भारत और जर्मन जनवादी गणराज्य के योजना विशेषज्ञों की सन् 1982 में बर्लिन में हुई बैठक में भी वे उपस्थित थे।

भारत–देश और लोग

औद्योगिक विकास

एम. आर. कुलकर्णी

अनुवाद

भोला नाथ गोयल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

अन्ना

और

वाहिनी

की स्मृति में

विषय सूची

भाग 3 : नियोजन का युग

मूल अंग्रेजी के द्वितीय संस्करण की भूमिका

यह कार्य श्री महेन्द्र देसाई और डा. बी. वी. केसकर के प्रारंभिक प्रोत्साहन के बिना हाथ में लेना संभव नहीं था। श्री देसाई, जो योजना आयोग के सूचना सलाहकार थे, की भारत के औद्योगिक विकास पर एक पुस्तक लिखे जाने की तीव्र इच्छा ने मेरी झिझक को कम कर दिया। नेशनल बुक ट्रस्ट के अध्यक्ष होने के नाते, डा. केसकर ने तत्काल प्रस्तावित किया इस पुस्तक को नेशनल बुक ट्रस्ट की 'भारत–देश और लोग' पुस्तकमाला के अंतर्गत सम्मिलित किया जाये।

सन् 1971 में प्रकाशित पुस्तक का प्रथम संस्करण एक दो साल पहले बिक चुका था। नये संस्करण का तत्काल प्रकाशन आवश्यक हो गया था, क्योंकि औद्योगिक क्षेत्र में अब तक बहुत से बदलाव आ गये थे। इसलिए पुस्तक को पूरी तरह संशोधित किया गया तथा अध्याय 8 एवं 9 में 'नियोजन के युग' को सम्मिलित कर लगभग दोबारा ही लिखना पड़ा। 'प्रत्याशा' नामक एक नये अध्याय को भी इसमें जोड़ा गया। आशा की जाती है कि इन संशोधनों के पश्चात यह अद्यतन संस्करण पाठकों के लिए अधिक उपयोगी होगा। स्वतंत्रता पूर्व के आंकड़े ब्रिटिश माप प्रणाली में ही उपलब्ध थे। इन्हें पुस्तक में ज्यों का त्यों रखा गया है।

अध्याय 8 से अंत तक मीटरीक प्रणाली का प्रयोग किया गया है, जिसका संबंध स्वतंत्रता पश्चात की अवधि से है। पहले संस्करण की तरह ही इस संस्करण को तैयार करने में भी अनेक मित्रों ने सहयोग दिया है। पांडुलिपि को मेरे पत्रकार मित्र थॉमस मैथाई ने पढ़ा और गद्य तथा विषय सूची में संभावित सुधार के सुझाव दिये। जिन्हें मैंने सहर्ष स्वीकार किया। मेरा सौभाग्य रहा कि मैं योजना आयोग विशेषकर 'पर्सपैक्टिव प्लानिंग डिवीजन' के अपने सहयोगियों के विशेष ज्ञान का उपयोग स्वतंत्रतापूर्वक कर सका। सन् 1960 के बाद से औद्योगिक विकास के विस्तृत विश्लेषण के लिए मैं, अपने सहकर्मी श्री एस. पी. कुमार तथा मेरे द्वारा किये गये एक संयुक्त अध्ययन पर अत्यधिक निर्भर रहा। मैं अपने उन सभी मित्रों का आभारी हूं, जिन्होंने

इस कार्य के पूर्ण होने में किसी भी रूप में सहायता की। श्री डी. आर. वोहरा का विशेष रूप से आभारी हूं, जिन्होंने पांडुलिपि को प्रेस के लिए तैयार करने का कार्य सहर्ष पूरा किया।

अंत मे, यदि मेरी पत्नी सुलभा व दोनो बेटे सतीश और संदीप देर रात तक तथा सप्ताहांत में कार्य करने मे मुझे सहयोग न देते तो यह संस्करण इतनी शीघ्र तैयार कर पाना कठिन था।

नयी दिल्ली **एम. आर. कुलकर्णी**
विजयदशमी
27 अक्तूबर, 1988

मूल अंग्रेजी के तृतीय संस्करण की भूमिका

दूसरे संस्करण के पश्चात भारत में औद्योगिक विकास के क्षेत्र में हुए विकास तथा महत्वपूर्ण बदलावों को देखते हुए पुस्तक का नया संस्करण प्रकाशित किये जाने की आवश्यकता प्रतीत हुई। राष्ट्रीय आय तथा औद्योगिक उत्पादनों में हुई वृद्धि की दर ने अर्थव्यवस्था को विकास की ओर अग्रसर किया है। हाल के वर्षों में बढ़ती हुई उदात्तीकरण की नीति ने औद्योगिक अर्थव्यवस्था को प्रतियोगी एवं दक्षतापूर्ण बनाया है।

वर्तमान संस्करण औद्योगिक विकास जनित प्रगति को जानने का प्रयास है। औद्योगिक विकास के महत्वपूर्ण पहलुओं पर प्रकाश डालने के लिए इस अध्ययन को नये रूप में लिखा गया है।

पहले संस्करणों की तरह, इस संस्करण को तैयार करने में भी बहुत से मित्रों का सहयोग प्राप्त हुआ है। मेरा सौभाग्य रहा कि मैं योजना आयोग के अपने सहयोगियों, विशेषकर उद्योग एवं खनिज विभाग तथा 'पर्सपैक्टिव प्लानिंग डिवीजन' के ज्ञान का स्वतंत्रतापूर्वक उपयोग कर सका। पांडुलिपि को तैयार करने में श्री एम. के. लूथरा द्वारा दी गयी सहायता के प्रति भी मैं आभारी हूं।

नयी दिल्ली
15 अगस्त, 1990

एम. आर. कुलकर्णी

भाग 1

आधुनिक उद्योग का उत्थान

अध्याय 1

एक परिवर्तन : आधुनिक उद्योग की ओर

एक प्राचीन उद्‌गम

प्राचीन काल से ही हमारे आर्थिक क्रियाकलाप हमारे समाज की सामाजिक और सांस्कृतिक संरचना के ताने बाने में घुले-मिले रहे हैं। भारतीय लोगों के आर्थिक संगठनों और लक्ष्यों को संयुक्त परिवार प्रणाली, जाति व्यवस्था, आत्मनिर्भर ग्रामीण समुदाय, अनेक प्रकार की वर्जनाओं और निषेधों से जुड़े सामान्य प्रकार के धार्मिक और सामाजिक अवरोधों आदि के संदर्भो के बगैर नहीं समझा जा सकता। यह बदलते हुए समय की आवश्यकताओं के अनुसार निर्मित एक सुदृढ़ सामाजिक व्यवस्था थी। यह तब तक समाज में होने वाले सभी प्रकार के उतार चढ़ावों को सहन कर सकती थी जब तक कि इसके सामने 18वीं शताब्दी के प्रारंभ में हुए आधुनिक यूरोप की औद्योगिक प्रणाली का अतिक्रमण प्रकट नहीं हुआ। भारतीय अर्थव्यवस्था, यदि तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार इस तरह की अभिव्यक्ति ठीक हो, की विशेषता बाह्य संपर्को से वंचित आत्मनिर्भर ग्रामीण समाजों की बहुलता थी। जाति व्यवस्था के ढांचे के अंतर्गत, पुत्र पिता का ही अनुसरण करता था, क्योंकि प्रचलित विश्वास के अनुसार यह पूर्वनिश्चित होता था कि प्रत्येक व्यक्ति का भविष्य में जीवन कैसा होगा और वह क्या कार्य करेगा। ये सब उनके कर्म ही थे। जाति के अंतर्गत संयुक्त परिवार थे जहां इसके सभी सदस्यों को न्यूनतम आवश्यक सामाजिक सुरक्षा

उपलब्ध थी।

गांवों में रहने वाले कुछ लोग जहां खेती का काम करते थे, वहां बाकी लोग अपनी अपनी जाति के आधार पर अपने वंशानुगत व्यवसाय के अनुसार कारीगर थे। अच्छा खासा श्रम विभाजन था, लेकिन कुल मिलाकर आवश्यकताएं बहुत कम और सीध -सादी थीं। एक गांव में मुख्यतः बढ़ई, लुहार, कुम्हार, चर्मकार, मोची और अन्य छोटे काम करने वाले कारीगर होते थे। बड़े गांवों में अपने बुनकर, सूत कातने वाले, सुनार और दर्जी आदि भी होते थे। इन कारीगरों को अपने काम के लिये नकद भुगतान नहीं होता था। वरन् फसल के बाद परंपरागत तरीके से उत्पादन का एक निश्चित हिस्सा मिलता था। ग्रामीण समुदायों की आत्मनिर्भरता की दिनचर्या और इससे जुड़ी अन्य बातें इस देश की ही कोई विशिष्टता नहीं थीं। औद्योगिक विकास की इसी प्रकार की ऐतिहासिक परिस्थितियों में से गुजरे अन्य देशों में भी ये देखें जा सकते थे। लेकिन भारतीय व्यवस्था में यही अनूठापन था कि अधिकांश ग्रामीण कारीगर निश्चित फसली भुगतान के बदले में वर्ष भर गांव के कामों को करते थे। वे पूरे गांव के सेवक (सहायक) माने जाते थे। मुश्किल से ही कोई दक्षता थी। एक प्रकार से श्रम विभाजन भी उपयुक्त ढंग से न था। आज के बर्मा और रूस की भांति लुहारों का पूरा गांव कहीं भी देखने को नहीं मिलता था।

स्थानीय तौर पर उपलब्ध कच्चे माल और पारंपरिक रूप से प्राप्त कौशल और उपकरणों के आधार पर गांव के कारीगर बड़ी कार्य कुशलता से सुरुचिपूर्ण वस्तुएं बनाते थे। कारीगरों की इन पीढ़ियों ने भारत को विभिन्न प्रकार के कलापूर्ण हस्तशिल्प की दीर्घकालीन व चमत्कारपूर्ण परंपरा प्रदान की। वस्त्र उद्योग में भी सूती कपड़े ने हमारे इतिहास में और बाहरी दुनिया के साथ हमारे संबंधों में अहम् भूमिका निभायी है। ईसा पूर्व सन् 800 में मनु ने भी सूती कपड़े का जिक्र किया है। इस बात के काफी प्रमाण मौजूद हैं कि ईसा से 500 वर्ष पूर्व के युग में भारतीय बुनाई का काम जानते थे जबकि यूरोपीय तब तक जानवरों की खाल ही पहनते थे। सत्रहवीं सदी के पुर्तगाली लेखक 'प्यारर्द' ने लिखा है कि चीन से लेकर 'गुड होप केप' तक प्रत्येक स्त्री-पुरुष पैरों से सिर तक भारत में निर्मित कपड़े पहनता था। ढाका की मलमल लगातार शताब्दियों तक संसार भर की ईर्ष्या का कारण बनी रही। धर्मयुद्धों ने पश्चिम का संपर्क पूर्व से बनाया, लेकिन भारतीय सूती, रेशमी कपड़ों, मसालों और बहुमूल्य हीरे जवाहरात ने इन संबंधों को दृढ़ता दी। दुर्भाग्य से भारत का सूती कपड़ा निम्न स्तर का था लेकिन यह उत्कृष्ट कारीगरी थी जिसके कारण भारत ने अपने वस्त्रों के लिये नाम कमाया।

भारतीय रेशम, जरी और कढ़ाई के काम ने अपनी सुंदरता और अनूठापन आज तक कायम रखा है। अपनी विशिष्टता, विविधता और पारंपरिक सौंदर्यपूर्ण आकर्षण के कारण ही ये मशीन से बने कपड़े के मुकाबले में अपना अस्तित्व कायम रख

सके हैं।

प्राचीन भारत में लौह और इस्पात का काम, एक मुख्य उद्योग न होते हुए भी, प्रसिद्धि पर था। दिल्ली में कुतुब मीनार के पास लौह खंभ, जो अनुमानतः सम्राट विक्रमादित्य द्वारा बनवाया गया था, 1500 वर्षों से भी अधिक पुराना है और ऐसा लगता है कि यह अनंतकाल तक ऐसे ही रहेगा। यह प्राचीन भारत की ढलाई और निर्माणकला की विलक्षणता का एक गौरवपूर्ण स्मारक है। यह भी कहा जाता है कि दमिश्क के प्रसिद्ध धारदार फलके भारत से आयात किये गये इस्पात से बनते थे। गांव में लुहार अपने पुरातन तरीकों से लोहे को पिघलाते थे और उनसे घर के दैनिक प्रयोग की वस्तुएं बनाते थे। प्राचीन काल में भारतीय धातु निर्माण कला में सिद्धहस्त होते थे।

नगरीय हस्तशिल्प

आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर लेकिन संकुचित मनोवृत्ति वाले ग्राम समूहों के साथ साथ ऐश्वर्य और विशेष प्रकार के स्थानीय निर्माण के लिए छोटे परंतु विभिन्न प्रकार के नगरीय केंद्र भी थे। ये सामान्य रूप से रियासतों की राजधानियों, कुलीन स्थानों, तीर्थ धामों अथवा ऐसे स्थानों पर होते थे, जहां से सामान निर्यात किया जा सकता था। मूल रूप से ये औद्योगिक केंद्र नहीं थे वरन् अन्य कारणों से इन स्थानों की प्रसिद्धि के कारण वहां पर उद्योग स्थापित हुए थे। प्रोफेसर गाडगिल के अनुसार, भारतीय नगरों की प्रमुख विशेषता इनका उद्योगरहित स्वभाव था, क्योंकि इन नगरों का महत्व उद्योगों के कारण नहीं था। बनारस जैसे तीर्थ स्थानों ने पीतल, तांबा और कांस्य धातु के उद्योगों में विशेष नाम कमाया क्योंकि यहां पर इनसे पूजा, अर्चना तथा धार्मिक कृत्यों का सामान बनता था। राजकीय संरक्षण के कारण नगरों में विलास वस्तुओं के उद्योगों की प्रधानता रही। इस प्रकार अनेक नगर राजदरबारों, धनी लोगों अथवा निर्यात के लिये अत्यधिक कलापूर्ण एवं उपयोगी वस्तुओं के विशेष उत्पादन के केंद्र बन गये थे। इन वस्तुओं में उच्चकोटि का सुंदर सूती कपड़ा, सोने तथा चांदी के आभूषण और बर्तन, नक्काशीदार आबनूस और हाथीदांत का सामान, चंदन की लकड़ी के संदूक और रेशमी कपड़ा आदि थे। ढाके की मलमल, बनारस और मुर्शिदाबाद की रेशम, कश्मीर के शाल और सूरत का जरी का काम विशेष कोटि के स्थानीकृत उद्योगों के उदाहरण हैं। इन केंद्रों के कारीगर बहुत दक्ष थे। इन्होंने मध्य युग के यूरोपीय संगठनों की भांति स्वयं को गठित कर लिया था। इनकी निर्माणकला में उच्चकोटि की गुणवत्ता और स्थायी उपयोगिता का उचित और सुंदर मिश्रण होता था। गांव के शिल्पी जहां नियमित रूप से विक्रय के लिये सामान बनाते थे वहां नगरों के कारीगर कभी नौसिखियों की सहायता से अथवा कभी बिना किसी सहायता के स्वतंत्र रूप

से काम करते थे। कुछ निर्माता अपना सामान विक्रेताओं अथवा दलालों के लिए भी बनाते थे। ऐसे व्यापारी जो उत्पादन में पूंजी विनियोग तथा उसका संगठन और विपणन करते थे, बड़े ही प्रभावशाली होते थे। कारण यह था कि कारीगर व्यक्तिगत रूप से बाजार में वस्तुओं की मांग और गुणवत्ता को जांचने में समर्थ नहीं होते थे।

सूती और रेशमी कपड़ों, कढ़ाई का काम तथा गर्म कपड़ों (दरी निर्माण सहित) के उत्पादन के अतिरिक्त अन्य उद्योगों जैसे लकड़ी, पत्थर और हाथी दांत पर नक्काशी, पीतल, चांदी और तांबे के काम, रंगाई, छपाई और रोगन संबंधी काम सहित सुंदर और कलापूर्ण वस्तुओं का उत्पादन मुख्य रूप से होता था। इस प्रकार के उद्योग मुख्य रूप से शहरी क्षेत्रों में ही होते थे। कारीगर अपने घरों अथवा दुकानों पर ही काम करते थे और प्रायः ऐसे स्थानों और गलियों में रहते थे, जो उनकी वस्तुओं के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थीं।

ग्रामीण उद्योगों और नगरीय हस्तशिल्पों के अतिरिक्त, मैसूर और छोटानागपुर के लौह-प्रगालक, कांच और चूड़ी निर्माताओं की भांति कुछ स्थानीकृत उद्योग भी थे। लेकिन ये मुख्य रूप से कच्चे माल और विशेष प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि पर निर्भर थे। कुल मिलाकर नगण्य ही थे और इनका भविष्य भी अन्य दो वर्गों की तरह ही रहा।

पतन के कारण और प्रक्रिया

पंद्रहवीं और 16वीं शताब्दी के दौरान इंग्लैंड में व्यापारिक क्रांति हुई। यह एक प्रकार से औद्योगिक क्रांति की पूर्वगामी थी। व्यापारिक क्रांति के कारण कृषि और यातायात में आधुनिकीकरण एक मौलिक परिवर्तन था। इन दो शताब्दियों में यूरोप की स्थिति में तेजी से परिवर्तन आया और इनका सीधा एवं गहन प्रभाव पश्चिमी देशों के साथ भारत के संबंधों पर पड़ा। पंद्रहवीं शताब्दी के अंत में अमेरिका की खोज और भारत के लिए समुद्री रास्ते की जानकारी ने यूरोप की ज्ञान और अनुभव की सीमाओं को झकझोर कर रख दिया। धर्मयुद्धों के द्वारा बना पूर्व-पश्चिम का पहला संबंध धीरे धीरे निकटतम और बहुमुखी होता गया। सदियों की अलगाव की स्थिति समाप्त हुई और भारत रातों रात विदेशी व्यक्तियों और उनकी संस्कृति के संपर्क में पूरी तरह से ढलकर सामने आया।

अठारहवीं शताब्दी में यूरोप निवासियों ने भारत को मुख्य रूप से मसालों, रेशम और बहुमूल्य हीरे जवाहरात जैसे सामान के व्यापार में ऊंचा लाभ कमाने के साधन के रूप में माना। औद्योगिक क्रांति अभी पूरी तरह इस स्थिति तक नहीं आयी थी कि पश्चिमी देश मशीनों द्वारा निर्मित सस्ता सामान बाजार में भेजने लगें जिससे भारत और विदेश के हितों का अंतर स्पष्ट हो जाये। ईस्ट इंडिया कंपनी की स्थापना का

उद्घोषित उद्देश्य व्यापार करना था और अपने कार्य के पहले 150 वर्षों में यह एक प्रभावी और शुद्ध व्यापारिक एजेंसी ही बनी रही। इसके बढ़ते हुए व्यापार के कारण भारत को अपने सामान के विनिमय में कुछ समय के लिए लोकप्रिय बहुमूल्य धातुओं की प्राप्ति हुई। कंपनी ने स्वदेशी उद्योग के संगठन में अथवा इसकी कार्य प्रणाली में कोई परिवर्तन नहीं किया। परिस्थिति के अनुसार कंपनी ने सामान या तो व्यापारियों से खरीदा था या फिर सीधे कारीगरों से। मद्रास में कंपनी ने राजदरबारों के समय की तरह कारीगरों को अपने कारखानों में नौकरी के लिये आकर्षित करने का प्रयत्न किया।

कंपनी द्वारा राजनैतिक सत्ता के अधिग्रहण के साथ भारत के व्यापारिक हितों को हानि हुई। कंपनी ने भारत के राजकुमारों और सामंतों से व्यापार की लाभप्रद शर्तें तय कीं। कंपनी के कर्मचारियों ने भी अपने व्यक्तिगत लाभ के लिए अपने अधिकारों का दुरुपयोग किया और देशी व्यापारियों का स्थान स्वयं लेने लगे। जल्दी से जल्दी अधिक लाभ कमाने के चक्कर में उन्होंने फैलते विदेशी व्यापार को कच्चा माल सप्लाई करने के लिए स्थानीय देशी उत्पादकों को छोटा लेकिन जटिल रास्ता अपनाने के लिए विवश किया। इस प्रक्रिया में उन्होंने पलासी की लड़ाई के बाद बंगाल के उद्योग को अत्यधिक आघात पहुंचाया। जब तक कंपनी को यह अहसास हो कि वह सोने के अंडे देने वाली मुर्गी को ही समाप्त कर रही है, तब तक काफी समय बीत चुका था। नील, रेशम और सूती वस्त्र उद्योग को पुनर्जीवित करने के इसके प्रयत्नों को कोई अधिक महत्वपूर्ण सफलता नहीं मिली क्योंकि इंग्लैंड में उत्पादन की गति तीव्र हो चुकी थी और इस उत्पादन में पक्षपातपूर्ण टैक्स नीति का सहयोग भी मिल रहा था।

अठारहवीं शताब्दी में मुद्रा और वित्त संबंधी अव्यवस्था तेजी से फैली। बंगाल में स्थान स्थान पर चुंगी लगाने के कारण सामान के आवागमन की दिक्कतों ने सोने पर सुहागे का काम किया। इससे देशी व्यापारियों को अधिक नुकसान हुआ क्योंकि कंपनी ने भारतीय शासकों पर अपनी स्वार्थपूर्ण शर्तें लाद दीं। यूरोप के साथ शुरू हुए व्यापार के अवसरों को भी भारतीयों ने नहीं पहचाना। न तो ये नयी मंडियों पर अपना अधिकार जमा सके और न ही व्यापार की दौड़ में अपना स्थान बनाने के लिए नयी तकनीक और कौशल अपना सके। तेजी से बदलती हुयी परिस्थितियों में अलग थलग पड़ गये ग्रामीण समुदायों की दुर्बलता विशेष रूप से प्रकट हुई।

अठारहवीं शताब्दी में ऊंचे स्तर पर इंग्लैंड में मशीनों द्वारा उत्पादन पूरी तरह से होने लगा था। इससे ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापार का रूप बदलने लगा। इस शताब्दी की मुख्य घटना थी भारत में स्वदेशी उद्योग का तीव्र पतन। शताब्दी के अंत में यह पतन प्रक्रिया पूरी हो गयी थी। फैक्ट्री उत्पादित आयातित वस्तुओं ने स्थानीय हथकरघा उद्योग को सभी स्थानों पर समाप्त कर दिया था। यद्यपि शताब्दी

के प्रारंभ में, लंकाशायर उद्योग भारतीय उत्पादकों पर अधिक भारी करों के कारण भारतीय उद्योग की प्रतिस्पर्धा में टहर सका। भारत का सूती और रेशमी कपड़ा इंग्लैंड के बाजारों में वहां के उत्पादित कपड़ों के आधे मूल्य पर बेचा जाता था। इसलिए इंग्लैंड में उत्पादित कपड़े की सुरक्षा के लिए यह आवश्यक हो गया कि या तो भारतीय कपड़े की कीमत पर 70 से 80 प्रतिशत टैक्स लगाया जाये या उसका निषेध किया जाये। आर्थिक और तकनीकी कारणों के साथ साथ बदलते फैशन और रहन सहन के तरीकों ने भी हथकरघा कपड़ों के विरुद्ध काम किया क्योंकि यूरोप में अब मशीनों द्वारा बनाया गया कपड़ा पसंद किया जाने लगा था। यूरोप निवासियों के साथ बढ़ते राजनैतिक और सामाजिक संबंधों के कारण धनी और उच्चवर्गीय भारतीयों ने भी यूरोपवासियों के रहन सहन के तरीकों को अपना लिया और इस प्रकार वहां पर निर्मित कपड़ों की मांग में वृद्धि हुई। जैसाकि प्रायः होता है, विदेशी सत्ता का सर्वाधिक हानिकारक प्रभाव विजेता द्वारा विजितों पर अपने आदर्शों को लादना होता है। ऐसी स्थिति में भारत के शिक्षित वर्गों ने तुरंत प्रत्येक भारतीय वस्तु को बहिष्कृत कर विदेशी वस्तु को अपना लिया। उद्योगों के लिए प्राचीनकाल से प्रसिद्ध और समृद्ध कुछ नगरीय केंद्र विदेशी प्रतिस्पर्धा में पूर्णरूप से कुचल दिये गये। ब्रिटिश मलमल का आयात बढ़ता गया जो सन् 1824 के 10 लाख गज से सन् 1837 में 6 करोड़ 40 लाख गज तक हो गया। इसी अवधि में ढाका के मलमल निर्माताओं की संख्या 1 लाख 50 हजार से घटकर केवल 20 हजार रह गयी।

सन् 1851 की 'लंदन प्रदर्शनी' से यूरोपवासियों की रुचि भारत के पारंपरिक कलापूर्ण हस्तशिल्प में हुई। भारत के धनी वर्ग ने भी अपने इन नये स्वामियों का अनुकरण करते हुए देशी हस्तशिल्प में अचानक रुचि लेना शुरू किया। इस प्रकार देशी उद्योग का कुछ पुनरुत्थान हुआ। लेकिन पूर्णरूप से देखने पर यूरोपवासियों की अविवेकपूर्ण इस संरक्षता और भारतीयों द्वारा यूरोपवासियों के अंधानुकरण का प्रभाव उल्टा ही हुआ। विदेशियों ने नये डिजाइन और नमूने दिए जिनको समझने और नकल करने के लिए देशी कलाकारों को अपनी पारंपरिक कला और उत्साह त्यागना पड़ता था। इस अनुकरण के फलस्वरूप निर्मित माल को गुणवत्ता, डिजाइन और कारीगरी की दृष्टि से अधिक सम्मान नहीं मिला और इस कारण इसे उचित मूल्य भी प्राप्त नहीं हुआ। इसका सीधा परिणाम हुआ कि बाजार में सस्ते और अपरिष्कृत सामान की अधिकता हो गयी और शुद्ध कला तथा शिल्प का ह्रास हो गया। इसके साथ साथ, शिल्पियों के एक नये वर्ग का उदय हुआ जिन्होंने विदेशियों की रुचि और फैशन के अनुसार निर्माण कर, अपने देश के शिल्प और कौशल के पतन में योगदान दिया। जैसे जैसे सुसंबद्ध और स्थायी देशी मंडी का स्थान एक अनिश्चित परंतु फैलते, आंतरिक और विदेशी मंडी ने लिया वैसे वैसे शिल्पी और कारीगर का संबंध समाप्त होता गया और बिचौलियों का प्रभाव बढ़ता गया। इस प्रकार शिल्पी केवल मजदूरी कमाने वाले

मजदूर बनकर रह गये और उनकी कुशल शिल्पी बनने की आकांक्षा ही समाप्त प्रायः हो गयी।

पारंपरिक शिल्प के विशाल और अत्यधिक प्रसिद्ध भारतीय उद्योग केंद्र के विनाश के लिए उत्तरदायी राजकीय संरक्षता का ह्रास और समाप्ति थी। केवल कला ही नहीं थी जो क्षीण होती गयी वरन् सक्रिय और समृद्ध नगरीय केंद्रों के भी बुरे दिन आ गये थे और वे नगरों की छाया मात्र रह गये थे। सत्ताधीश हिंदू राज्यों की समाप्ति के साथ ही देवगिरी और पैठन की महत्ता समाप्त हो गयी। बीजापुर जो कभी समृद्धि की चोटी पर था, आदिलशाही के पतन के साथ ही अपने वैभव को खो बैठा। यही स्थिति गोलकुण्डा, अहमदनगर और तंजौर की हुई। उत्तर में सन् 1857 के संघर्ष के बाद अवध के नवाबों के पतन से लखनऊ का भी यही भाग्य रहा। राजकीय संरक्षण की समाप्ति से ही ढाका का प्रसिद्ध मलमल उद्योग का अस्तित्व भी समाप्त हो गया। 19वीं शताब्दी के दूसरे अर्धशतक में नगरीय हस्तशिल्प की अवनति इतनी तीव्र गति से हुई कि एक दशक के थोड़े समय में ही वे सब 'अतीत की एक याद–केवल परंपरा' ही बन कर रह गये।

उन्नीसवीं शताब्दी में भारतीय उद्योगों के पतन के कारणों में एक मुख्य कारण विदेशी सत्ता द्वारा सहायक और भारत विरोधी नीतियों का अनुकरण और बौद्धिक एवं सामाजिक स्तर पर अनुकूल वातावरण का अभाव था। शुरू के वर्षों में ईस्ट इंडिया कंपनी का रुख भारतीय उद्योगों के लिए प्रतिकूल न होकर उदासीनता का था। कुछ विशेष मामलों में कंपनी ने इन उद्योगों के विकास में प्रोत्साहन और सहायता भी दी जिससे कि उसका अपना व्यापार इंग्लैंड के साथ चलता रहे। लेकिन सन् 1813 में भारत के साथ व्यापार का इसका एकाधिकार समाप्त हो गया और लाभ कमाने वाले अंग्रेज व्यापारियों में भारतीय मंडी में छा जाने की होड़-सी लग गयी। सन् 1857 के बाद इस देश की सत्ता जब सीधे होम गवर्नमेंट के हाथ में आ गयी तब स्थिति में परिवर्तन आ गया था। अब भारत में अधिकार कायम रखने के लिए किसी प्रकार की शक्ति अथवा राजनैतिक सत्ता की आवश्यकता नहीं थी। जब लंकाशायर उद्योग पूरी तरह जम गया और भारतीय उद्योग को शक्तिविहीन कर दिया गया तो सीमा शुल्क भी समाप्त कर दिया गया। होम गवर्नमेंट की मुक्त व्यापार की नीति का विस्तार भारत तक कर दिया गया और आने वाले वर्षों में इंग्लैंड से फैक्ट्री-उत्पादित सामान के अप्रतिबंधित आयात ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अस्त व्यस्त कर दिया। मुक्त व्यापार की नीति और आर्थिक विचारधारा में जो 19वीं सदी के इंग्लैंड के लिए इतनी लाभप्रद और उत्साहजनक सिद्ध हुई कि तत्कालीन भारत के लिए बहुत अधिक घातक सिद्ध हुई। जहां उन्होंने इंग्लैंड में असीमित व्यक्तिगत स्वतंत्रता देकर औद्योगिक क्रांति में कदम रखा वहां भारतीय उद्योगों के जीवन को अंधकारमय कर दिया।

मुक्त व्यापार की नीति अपनाने का अर्थ था कि कृषि के वर्चस्व को बरकरार

रखा जायेगा। ऐसे उद्योगों को जो ब्रिटिश उद्योगों की प्रतियोगिता में आते हैं (जैसे कपड़ा उद्योग) हतोत्साहित किया जायेगा और सरकारी खर्चों और कार्यों को कम किया जायेगा। तकनीकी शिक्षा, व्यापारिक बौद्धिकता, खनिज साधनों का सर्वेक्षण और खोज का कार्य आदि में सरकार ने अपने उत्तरदायित्व को अनिच्छा से माना और बेमन से उसे निबाहा। रेलवे दर निर्धारण नीति जानबूझ कर इस प्रकार की रखी गयी कि स्थानीय उद्योग के विकास में बाधक हो और आयात-निर्यात के लिए लाभप्रद हो। रेलवे लाइन इस तरह से बिछायी गयी कि बड़े शहरों को बंबई, कलकत्ता और मद्रास जैसे बड़े बंदरगाहों से जोड़ा जा सके और फीडर लाइन कहीं नहीं बिछायी। रेलवे का प्रबंध और स्वामित्व अनेक हाथों में होने के कारण उनकी नीतियों में कोई समन्वय नहीं था। इसलिए पूरी तरह से, स्थानीय उद्योगों के विकास अथवा पुनरुत्थान में रेलवे का योगदान न के बराबर ही था। मुक्त व्यापार और रेलवे नीति ने मिलकर भारतीय उद्योगों के सर्वनाश का ही काम किया।

भारतीय उद्योग की प्रतिस्पर्धा में लंकाशायर सूती वस्त्र उद्योग को सुरक्षा प्रदान करने के लिए होम गवर्नमेंट की नीतियां और क्रमबद्ध प्रयत्न भारत और इंग्लैंड के राजनैतिक और आर्थिक इतिहास का एक दुखद अध्याय है। एक विद्वान के अनुसार, इंग्लैंड का भारत पर राजनैतिक सत्ता ग्रहण और अवधारणा का मुख्य उद्देश्य लंकाशायर में उत्पादित कपड़े को एक मंडी प्रदान करना था। सूती कपड़ा उद्योग में प्रतिस्पर्धा, पुराने हस्तशिल्प की अपेक्षा नये शक्ति उद्योग और भारत की नयी मिलों की तुलना में इंग्लैंड की कुशल मिल आदि विवेकशील भारतीयों में कई पीढ़ियों तक गहरे विवाद के विषय रहे। भारतीय सूती कपड़ा उद्योग को हानि पहुंचाते हुए लंकाशायर उद्योग के पक्ष में अविवेकपूर्ण सुरक्षा के आरोप के संबंध में आगे के एक अध्याय में बात की जायेगी। यहां इतना ही कहना काफी होगा कि यह तब तक नहीं हुआ जब तक स्वदेशी सत्याग्रह ने राष्ट्रव्यापी आंदोलन का रूप धारण नहीं कर लिया और प्रथम विश्वयुद्ध का दबाव नहीं पड़ा और तब सरकारी नीतियों के देशी उत्पादन को पारंपरिक और आधुनिक के पक्ष में झुकना पड़ा।

स्वदेशी भावना का उदय काफी देर से हुआ। जब तक यह एक शक्ति के रूप में उभर कर सामने आयी, तब तक काफी नुकसान हो चुका था और इसको रोकना केवल किसी सरकारी नीति अथवा कुछ देशभक्त भारतीय उद्यमियों के छुट-पुट प्रयत्नों से संभव नहीं था। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में अनेक आधुनिक नये उद्योगों की स्थापना हुई और उन्होंने उन्नति भी की। लेकिन पारंपरिक उद्योगों की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। अब उनका मुकाबला अपने ही देश के संगठित क्षेत्र के उद्योगों से है। कहा जाता है कि भारतीय हथकरघा बुनकरों की स्थिति, एक शताब्दी के बाद या यूं कहें कि ब्रिटिश राज्य के बाद, 1800 ईस्वी के ब्रिटिश बुनकरों की स्थिति से कुछ बेहतर नहीं है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद स्थिति में संभवतः सुखद

परिवर्तन आया है लेकिन हमें अपने पारंपरिक उद्योगों की समस्या का एक संतोषजनक समाधान खोजना है।

आधुनिक उद्योग का उत्थान

भारत में प्राचीन उद्योगों का पतन और आधुनिक उद्योगों का उत्थान न तो एक साथ हुआ है और न ही इनका पारस्परिक कोई संबंध है। मशीन उत्पादन पर आधारित फैक्ट्री पद्धति के प्रारंभ से पूर्व ही हस्तशिल्प उद्योग के बुरे दिन आ गये थे। फैक्ट्री पद्धति को आधुनिक औद्योगिक संगठन का प्रतीक समझना चाहिए। उदाहरणस्वरूप बर्नियर ने भारत में 17वीं सदी के कारखानों में बिना किसी वास्तविक पूंजीवादी निवेश की दिशा के एक ही छत के नीचे मुख्य रूप से आदमी ही काम करते देखे थे। अपवाद रूप में हीरे और नमक का खान उद्योग तथा जलयान-निर्माण उद्योग थे क्योंकि इनमें कुछ न कुछ संगठन की आवश्यकता होती थी। टैवर्नीयर ने भी 60,000 कामगारों की हीरे की खानों का उल्लेख किया है। लेकिन व्यक्तिगत कामगारों द्वारा सीधे बाजार में ही अपना माल देने की प्रथा थी।

भारत में पूंजीवादी औद्योगिक पद्धति के देरी से और धीमी गति से उभरने के अनेक कारण हैं। सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियां पूंजीवादी वर्ग के उदय के अनुकूल नहीं थीं। शताब्दियों तक भारतीय समाज में मध्यम वर्ग जैसा कुछ नहीं था। बनते बिगड़ते राज्यों और रियासतों के दौर में तथा धर्मिक और सामाजिक प्रतिबंधों के कारण अशांति के समय में धन संचय करना भी कोई आसान नहीं था। व्यापार के साथ एक प्रकार का सामाजिक कलंक जुड़ा था और व्यापारी की प्रतिष्ठा समाज में विशेषकर अच्छी नहीं थी। दूसरी ओर इंग्लैंड में पूंजीवाद और फैक्ट्री पद्धति अपने प्रारंभिक रूप में 18वीं शताब्दी के मैकेनिकल आविष्कारों से पूर्व ही विद्यमान थी।

ईस्ट इंडिया कंपनी ने पूंजीपतीय संगठन की महत्ता का समुचित रूप से आदर किया और प्रारंभ से ही मध्यस्थ की भूमिका को समाप्त करने की दृष्टि से पूंजीपतीय उत्पादन को प्रोत्साहित किया। परंतु इस व्यवस्था को अपनाने के अवसर सीमित ही थे क्योंकि यहां के निवासी न तो मानसिक रूप से तैयार थे और न तकनीकी दृष्टि से इसके लिए योग्य थे। कंपनी ने इसीलिये बागान उद्योगों की तरफ ध्यान दिया और नील बागान से शुरुआत की। सन् 1839 में आसाम चाय कंपनी की स्थापना हुई और पांचवें दशक में प्रथम जूट और सूती कपड़ों की मिलों की।

यूरोप अथवा इंग्लैंड की भांति भारत में औद्योगिक क्रांति को अवस्थाओं में विभक्त करना सरल नहीं है। प्रथम शक्ति चालित मशीन, जो कि पशुशक्ति द्वारा चालित कपड़ा मिल थी, 19वीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में कलकत्ता के पास कहीं लगाई गयी थी। भापशक्ति का प्रयोग सफलतापूर्वक जलयानों में किया गया था और इंजनों

का प्रयोग कलकत्ता के पास, जहां यूरोपियों का बाहुल्य था, कोयले की खानों, बंदरगाहों, कागज की मिलों तथा सूत की कताई और बुनाई के लिए किया गया। लेकिन महत्वपूर्ण परिवर्तन सन् 1850 के बाद ही हुए जब पहली रेलवे लाइन बिछायी गयी, कोयले की खानें खुलीं और सूत तथा जूट की मिल शुरू हुई। स्वेज नहर के खुलने से यूरोप से सामान के आयात और विचारों के प्रेषण में गति आयी। आने वाले पचास वर्षों में फैक्ट्री व्यवस्था ने इस देश में अपनी जड़ें जमा लीं। यह भी सत्य है कि शताब्दी के बदलने के समय तक, सूत और जूट, दो ही बड़े पैमाने के आधुनिक उद्योग थे लेकिन कोयला-खदान, लौह-प्रगालन और रेलवे कारखानों की सीमित शुरुआत भी हो चुकी थी। इस प्रकार अधिक व्यापक स्तरीय और तीव्र औद्योगिक विकास की स्थिति बन चुकी थी। भारतीय महाद्वीप पर सड़कों और रेलवे का जाल, जलयान सुविधाओं का विकास, आंतरिक और विदेशी व्यापार का विस्तार और आधुनिक बैंकिंग और राजस्व का उद्भव, विधि-नियमों की स्थापना, राजनैतिक स्थायित्व और शांति के वातावरण जैसी व्यापारिक क्रांति की सारी पूर्व शर्तें शताब्दी के बदलते बदलते पूरी हो चुकी थीं। सन् 1850 का वर्ष एक विभाजक वर्ष माना जा सकता है जब इस देश में आधुनिक उद्योग का निरूपण हुआ।

अध्याय 2

आधुनिक उद्योग का प्रारंभ : बागान उद्योग

क्या बागान एक उद्योग है ?

भारत में बागान का आविर्भाव आधुनिक फैक्ट्री उद्योग के लगने से कुछ दशकों पहले हो चुका था। जैसाकि हमने पूर्व पृष्ठों में देखा, आधुनिक उद्योग संगठन का प्रमाणक फैक्ट्री उत्पादन है। बागान को उद्योग कहलाने का अधिकार है, यद्यपि मूल रूप में यह कृषि उत्पादन का ही एक रूप है। एक तो नील के अलावा, ये सारे हाल ही के उद्भूत हैं। दूसरे, बागान की शुरुआत, इनकी वित्तीय व्यवस्था और इनका प्रबंध सभी कुछ यूरोपवासियों द्वारा किया गया था और इस प्रकार स्वाभाविक रूप से इन पर आधुनिक यूरोपीय प्रबंध व्यवस्था की छाप थी। यद्यपि, प्रारंभ में यह सब व्यक्तिगत पूंजीपतियों द्वारा शुरू किये गये थे, फैक्ट्री व्यवस्था 19वीं शताब्दी में अपनायी गयी। धीरे धीरे ये उत्पादन संस्थानों के अनुरूप ही ज्वाइंट–स्टाक कंपनी में परिवर्तित हो गयी। इसके साथ ही नील, चाय अथवा कॉफी के उत्पादन का प्रारंभिक लक्ष्य सदैव ही अपने सहायक के रूप में फैक्ट्री की स्थापना रहा है, जहां वे अपने उत्पादन को परिमार्जित और परिष्कृत कर बिक्री के लिए तैयार कर सके। इसके अर्थ थे एक स्थायी श्रम शक्ति की नियुक्ति, आधुनिक मशीनों और नये उत्पादन तरीकों का प्रयोग। आधुनिक फैक्ट्री उद्योग के पूर्वगामी के रूप में भारत के औद्योगिक विकास में बागान का एक निश्चित स्थान है।

नील

नील की जानकारी और इसका उत्पादन प्राचीन भारत में भी होता था। रंगाई के लिए इसका प्रयोग पहली शताब्दी अथवा इससे पहले से भी होता आया है। पश्चिमी

भारत, विशेषकर गुजरात, इसका प्राचीनतम स्थान है। यूरोप में इसका प्रचार सिकंदर महान् द्वारा किया गया। अमेरिका में यह सोलहवीं शताब्दी में पहुंचा और बड़े पैमाने पर इसकी खेती वैस्ट इंडीज में शुरू की गयी। डच, स्पेनी और पुर्तगालियों के हाथों में भारतीय नील व्यापार की एक महत्वपूर्ण वस्तु बन गयी। लेकिन यूरोपीय सूती कपड़ा उद्योग ने भारतीय नील के आयात का डट कर विरोध किया क्योंकि नीले रंग की रंगाई के लिए उनके यहां एक विशेष पौधा होता था और भारतीय नील उसके लिए एक खतरा था। अनेक यूरोपीय देशों में संभवतः इंग्लैंड को छोड़कर नील के प्रयोग पर कठोर जुर्माना किया जाता था। फिर भी, सूती कपड़े के मशीनी उत्पादन के विकास और वेस्ट इंडीज के उत्पादन में कमी के कारण, यूरोप में भारतीय नील की मांग बढ़ती ही गयी। इस प्रकार 18वीं शताब्दी के अंतिम दशक में भारत नील पूर्ति का मुख्य स्रोत बन गया। लेकिन बड़े पैमाने पर इसकी खेती 19वीं शताब्दी में ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों ने प्रारंभ की। इस तरह किसी भी तरह का प्रथम उद्योग जिसमें यूरोपियनों की रुचि थी, वह नील बागान था। उन्नीसवीं शताब्दी के अर्धशतक के प्रारंभ में, कंपनी ने, बागान, बिहार और उड़ीसा के राजस्व संबंधी विषयों के अधिग्रहण के बाद अपना ध्यान व्यापार से हटाकर उत्पादन पर लगाया। इसमें यूरोपियनों को इस काम के लिये प्रोत्साहित ही नहीं किया वरन् स्वयं भी उत्पादन का काम अपने हाथों में लिया। भारत-निवासी यूरोपीय पूंजीपतीय स्थिति और फैक्ट्री उत्पादन से परिचित तो थे, परंतु स्थानीय परिस्थितियां इस प्रकार के काम के लिये परिपक्व नहीं थीं। वैस्ट इंडीज के उदाहरण को ध्यान में रखकर, उन्होंने अपनी सारी शक्ति और साधन बागान उद्योग के विकास में लगा दिये।

नील की खेती को भारत में पूंजीपतीय संगठन की शुरुआत नहीं मानी गयी। वास्तव में, इससे पूंजीपतीय विकास का कोई अवसर ही नहीं मिला। लेकिन भारत में पूंजीवाद के विकास की विभिन्न अवस्थाओं के कारणों को खोजने का दिलचस्प विषय अवश्य मिल गया। प्रारम्भ में ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपनी ओर से ही उत्पादन की योजनाएं दीं। बाद में, इसने बागान स्वामियों को उनकी फसल को खरीदने की गारंटी देकर और भविष्य की फसल के बदले अग्रिम ऋण देकर प्रोत्साहित किया। इस स्थिति में, बागान मालिकों ने भी बदले में उसी प्रकार उत्पादकों से समय पर माल दिलवाया। अंततः बागान मालिकों ने किराये पर मजदूर लगाकर खेती करने का काम खुद ही शुरू किया, यद्यपि निश्चित रूप से यह एक सामान्य घटना नहीं बन सका।

भारत में नील के पारंपरिक स्रोत गुजरात, उत्तर प्रदेश, पंजाब और बंगाल थे। ईस्ट इंडिया कंपनी का अधिकार शुरू में बंगाल पर हुआ। अतः इन्होंने नील बागान के अपने प्रयत्न यहीं पर केंद्रित किये। यह कहा जाता है कि कंपनी ने सन् 1780 से शुरू कर बहुत अधिक पूंजी लगायी परंतु उससे अधिक हानि ही उठायी। यद्यपि

कुछ यूरोपीय और भारतीय उद्यमियों ने व्यक्तिगत तौर पर नील की खेती का काम मद्रास और उत्तर-पश्चिम प्रांत (अब उत्तर प्रदेश) जैसे दूर दराज क्षेत्रों तक फैलाया। व्यापार पर कंपनी का एकाधिकार होते हुए भी निजी स्तर पर भी निर्यात को प्रोत्साहन दिया गया।

नील बागान यूरोपीय नियंत्रण में विकसित हुआ। लेकिन, चाय और कॉफी की भांति प्रबंध व्यवस्था उनके नियंत्रण में नहीं थी। इस प्रकार वास्तव में नील के यूरोपीय 'बगान स्वामी' नहीं थे। नील उद्योग का संगठन अन्य बागान उद्योगों से भिन्न भी था। यूरोपीय 'बागान स्वामी' प्रत्यक्ष रूप से नील की खेती नहीं करते थे। वे केवल उत्पादकों को फसल पर अग्रिम धन देकर निश्चित मूल्य पर माल देने के लिए बांध देते थे। कुछ मामलों में तो, बागान के स्वामी उत्पादकों को नील पैदा करने के लिए पट्टे पर अपनी भूमि दे देते थे। समय के परिवर्तन के साथ साथ इस व्यवस्था में बहुत कुछ अंतर भी आ जाता था। कुछ व्यापारी नील खरीदारों की स्थिति से शुरू कर भूमि अधिग्रहण कर लेते थे और इनमें से कुछ तो स्वतंत्र उत्पादकों के रूप में उभर कर आते थे। दूसरे बागानों के विपरीत, बड़े पैमाने पर उत्पादन नियमित रूप से नहीं था और परिणामस्वरूप, इस उद्योग को उत्पादन के आधुनिक तरीकों का कोई लाभ नहीं मिला। यद्यपि कृषकों को अन्य फसलों के साथ साथ या उनके स्थान पर नील उत्पादन की आकस्मिक सुविधा मिलती थी।

यूरोपीय स्वामियों और भारतीय कृषकों के कटु संबंधों की कहानी एक दुखद अध्याय है। इसने लेखकों और राजनैतिक नेताओं को यूरोपीय स्वामियों द्वारा किये गये किसानों के शोषण के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए प्रेरित किया और इसकी परिणति महात्मा गांधी द्वारा संचालित विश्व प्रसिद्ध चंपारन सत्याग्रह में हुई। प्रारंभ के कुछ बागान स्वामी तो अमेरिका के गुलाम चालक थे जिनसे किसी भी प्रकार के सभ्य व्यवहार की आशा करना बेकार था। लेकिन दूसरे भी इनसे कुछ अच्छे नहीं थे। गत शताब्दी के छठे दशक में एक नील आयोग ने बागान स्वामियों और इनके एजेंटों की दुर्नीतियों की छानबीन की और एक यंत्रणापूर्ण स्थिति को उद्घाटित किया। आर. सी. दत्त ने लिखा है कि बंगाल के नील उत्पादकों का शोषण आधी शताब्दी तक चलता रहा, जब तक कि बंगाल निवासियों ने एक जुट होकर इसका विरोध नहीं किया। सन् 1859 के नील उपद्रवों के बाद बंगाल के अनेक भागों में यूरोपियनों के द्वारा नील की खेती समाप्त हो गयी। शोषण का परिणाम था असंतुष्टि और उपद्रव जो सन् 1917 के चंपारन सत्याग्रह तक चलता ही रहा, विशेषकर बिहार में, जब तक इस विद्रोह ने एक सार्वजनिक राजैनतिक संघर्ष का रूप ही धारण नहीं कर लिया।

इस क्षेत्र में काम करने में ब्रिटिश पूंजी और उत्साह ने ही प्रथम स्थान लिया। लेकिन फ्रेंच और आंग्ल-भारतीय स्वामी भी थे जिन्होंने नील उत्पादन का कार्य अपने हाथ में लिया। बंगाल और बिहार में डेल्टा क्षेत्रों को मुख्य रूप से विकसित किया

गया। इस उत्पादन के पूर्वी प्रांतों से स्थानांतरण के कारण गुजरात और पश्चिमी भारत से इसका उत्पादन समाप्त हो गया। नील उत्पादन में बागान के नये तरीकों को सुविधापूर्वक अपनाने के उद्देश्य से वैस्ट इंडीज से अनुभवी व्यक्ति लाये गये। सन् 1860 के आयोग के बाद नील उत्पादन बंगाल से बाहर ले जाया गया। यह बिहार, उत्तर प्रदेश, जहां इतना शोषण नहीं था और पंजाब तथा मद्रास के नये स्थानों में स्थापित हुआ।

उद्योग के संघर्षपूर्ण समय गुजरने के बावजूद 19वीं शताब्दी में उत्पादन में वृद्धि होती रही। नियति में भी समान गति से वृद्धि होती रही। शताब्दी के अंतिम वर्षों में जर्मन सिंथेटिक रंग बाजार में आ गया जिससे भारतीय रंगों को कठिन प्रतियोगिता का सामना करना पड़ा। एक शताब्दी की अभूतपूर्व प्रगति की पृष्ठभूमि को देखते हुए इस विकास का परिणाम घातक हुआ। सन् 1896 तथा सन् 1914 के बीच के वर्षों में नील की खेती और इसके निर्यात में अचानक गिरावट आयी। अठारह वर्ष पहले जो इसका निर्यात और उत्पादन था अब गिरकर उसका केवल दसवां हिस्सा ही रह गया था। कोलतार निर्मित रंगों के साथ कड़े मुकाबले के कारण मूल्यों में भी गिरावट आयी। सन् 1912-13 में एक फैक्ट्री का मूल्य 232 रुपये मन से गिरकर 130 रुपये मन तक आ गया। प्रथम विश्वयुद्ध से मिली राहत अल्पकालिक रही। उद्योग की समाप्ति के समय, युद्ध-पूर्व के एक लाख पौंड के निर्यात में वृद्धि हुई जो सन् 1914-15 में 6 लाख तक पहुंची और सन् 1916-17 में 15 लाख पौंड तक पहुंच गयी। बागान के स्वामियों का भाग्य तो चमक उठा जबकि कृषक मुद्रा-स्फीति के भार से दबे रहे। नील में गुणवत्ता की दृष्टि से उन्नति करने तथा उसका स्तर बनाने के प्रयत्न किये गये, लेकिन कोलतार रंगों के कारण इस उद्योग का खात्मा ही हो गया।

इस उद्योग का अर्थशास्त्र अटकलबाजी पर ही आधारित है। सन् 1849-58 के दशक में नील का निर्यात लगभग 2 करोड़ रुपये के आसपास रहा। सर्वाधिक 2 करोड़ 40 लाख रहा। बंगाल के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गवर्नर के अनुमान के अनुसार सन् 1860 में बंगाल के डेल्टा में नील खेती को 20 रुपये प्रति एकड़ की दर से हानि उठानी पड़ी। अन्य क्षेत्रों में, कृपकों ने विभिन्न रूप से लाभ उठाया भी। लेकिन सामान्य रूप से, किसानों की स्थिति सब जगह गिरती ही रही। उद्योग के सुनहरे दिनों में निर्यात 3 करोड़ 50 लाख तक पहुंच गया। लेकिन सिंथेटिक रंगों के प्रतिस्पर्धात्मक घातक प्रहार के कारण, न तो नील का निर्यात और न ही इसका उत्पादन ही भारतीय अर्थ व्यवस्था में अपना स्थान बना सका। इस उद्योग के समापन को इसके अवसादपूर्ण अतीत के साथ प्रचलित दुख मिश्रित राहत के रूप में देखना चाहिए।

चाय

प्रारंभिक इतिहास

यद्यपि भारत का नाम चाय के साथ अटूट रूप से जुड़ा है तथापि अनेक लोगों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि भारतीय चाय का इतिहास डेढ़ सौ वर्षों से अधिक का नहीं है। ब्रह्मपुत्र घाटी में झाड़ीदार चाय ऊबड़ खाबड़ रूप में उगती थी लेकिन निश्चित रूप से यह कोई नहीं जानता था कि इससे वास्तविक चाय बन सकती है। चीन में चाय का प्रचलन बहुत पहले से था और यूरोप में यह बहुत बाद में आयी। 19वीं शताब्दी के अंतिम समय में ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा यूरोप के साथ व्यापार की यह एक मुख्य वस्तु बन गयी थी। चीन से चाय के पौधे और बीजों का भारत में उत्पादन के लिए आयात के प्रयत्न किये गये। ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी भारत में चाय उत्पादन के लिए उत्सुक थे लेकिन चीन के साथ कंपनी के व्यापार एकाधिकार के कारण, कंपनी के निर्देशकों का बोर्ड इस संबंध में अधिक उत्साही नहीं था। यह एकाधिकार सन् 1833 में समाप्त हो गया और इसके बाद के वर्षों में भारत में चाय उत्पादन के अवसरों को खोजने के लिए कड़े कदम उठाये गये। कंपनी के निर्देशकों के निर्देशानुसार अगले वर्ष ही लार्ड बेंटिंक ने एक कमेटी चीन भेजी जो अपने साथ चीनी चाय के पौधे, बीज और श्रमिक लेकर आयी। यहीं से भारत में चाय उद्योग का सूत्रपात हुआ।

चाय बागान ने यूरोपीय पूंजी और उद्यम को निवेश का एक नया अवसर दिया। भारत में व्यापक स्तर पर चाय उत्पादन के आवश्यक साधन मौजूद थे। असम और इसके आसपास के स्थानों में इस प्रकार के विस्तृत क्षेत्र थे जो जलवायु और स्थलाकृति की दृष्टि से चाय उत्पादन के लिये सर्वोत्तम थे और शुरुआत करने के लिये वहां पर पर्याप्त मात्रा में सस्ते श्रमिक भी उपलब्ध थे। बाद में श्रमिकों को दूर के स्थानों से भी लाना पड़ा परंतु यह कोई बड़ी गंभीर समस्या नहीं थी। कंपनी ने अपनी पूरी ईमानदारी के साथ चाय उत्पादन का काम प्रारंभ किया। भारत में उत्पादित चाय लंदन के बाजारों में सन् 1838 में सबसे पहले उपलब्ध हुई। इसी वर्ष असम चाय कंपनी की स्थापना हुई और इसने अगले ही वर्ष चाय उत्पादन का काम सरकार से अपने ही हाथों में लेकर एक दशक तक चाय उत्पादन पर अपना वास्तविक एकाधिकार रखा। इसी बीच स्वदेशी पौधे से चाय बनाने के प्रयत्नों में सफलता मिली और शीघ्र ही 'भारतीय' चाय बाजार में आ गयी। अगले बीस वर्षों में, चाय उत्पादन के क्षेत्रों में तीव्रता से वृद्धि हुई और असम, बंगाल, दक्षिण भारत और श्रीलंका तक का क्षेत्र इसके अंतर्गत आ गया था।

चाय उद्योग गत शताब्दी के पांचवें दशक तक कठिन घड़ियों से गुजरा। 'असम

टी कंपनी' का प्रबंध प्रारंभ में ठीक नहीं था। इसने कोई लाभांश तो घोषित किया ही नहीं वरन् पूंजी का भी अपव्यय किया। तथापि प्रारंभिक कठिनाइयां शीघ्र ही दूर हो गयीं और कंपनी ने अच्छा खासा लाभ कमाना शुरू कर दिया। अभूतपूर्व वृद्धि का समय आने वाला था। चाय उत्पादन एक उन्माद की स्थिति तक पहुंच गया था।

'चाय उन्माद' के इस समय में सट्टा इतना प्रबल हो गया था कि झाड़ झंखाड़ वाले जंगलों की मांग बढ़ गयी थी और भाव आसमान को छूने लगे थे। एक ही बाग का क्रय और विक्रय इतना अधिक हो जाता था कि क्रेता और विक्रेता को अपनी वस्तु के बारे में पता ही नहीं चलता था। इससे पहले, सरकार कृषि अनुदान देते समय भूमि का उचित सर्वेक्षण और एक निश्चित समय तक भूमि का एक भाग कृषि के उपयोग में लाने जैसी कुछ शर्तों को पूरा करने पर जोर देती थी। स्थानीय अधिकारी भी इस प्रकार की भूमि के निवासी जनजातियों के अधिकारों की रक्षा में अपनी इच्छानुसार व्यवहार करते थे। लेकिन, भूमि के सट्टे के स्वर्णकाल में सरकार पर बागान के भावी स्वामियों द्वारा दबाव डाला जा रहा था और इस प्रकार भूमि ग्रहण के लिए जबर्दस्त होड़ लग गयी थी जिसमें न तो जनजातियों के हितों की कोई सुरक्षा थी और न ही अनुदान के लिए कोई शर्त अथवा गारंटी थी।

इस प्रबल सट्टे और अप्रत्याशित वृद्धि के कारण विनाश निश्चित था, और छटे दशक में कंपनियों को अत्यधिक हानि उठानी पड़ी। इस हानि की वसूली की गति धीमी रही। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों का समय उद्योग के लिए कुछ सफलता का समय सिद्ध हुआ। कृषि के तरीकों में भी सुधार हुआ और प्रति एकड़ उत्पादन में भी वृद्धि हुई। चाय उत्पादन के मुख्य केंद्र असम में, चाय बागान की संख्या सन् 1850 में एक से बढ़कर सन् 1871 में 295 तक हो गयी थी, कृषि का क्षेत्र 1876 एकड़ से बढ़कर 31000 एकड़ तक हो गया और उत्पादन में भी दो लाख पौंड से बढ़कर 62 लाख पौंड से अधिक की एक प्रभावशाली वृद्धि हुई। चाय उत्पादन का विस्तार बंगाल और मद्रास में काफी हुआ परंतु असम जैसी तेजी नहीं थी। आने वाले बीस वर्षों में, प्रगति की गति काफी तेज थी। भूमि का क्षेत्र सन् 1885 में 2,84,000 एकड़ से बढ़कर सन् 1896 में 433,133 एकड़ तक पहुंच गया। इसका दो तिहाई एकड़ असम में थी, एक चौथाई बंगाल में और शेष उत्तर प्रदेश, पंजाब, मद्रास और त्रावणकोर में थी। इन क्षेत्रों का उत्पादन भाग भी लगभग उसी अनुपात में था। शताब्दी के बदलते बदलते प्रमुख चाय निर्यातक के रूप में चीन का स्थान भारत ने ले लिया था। शताब्दी के अंतिम समय में चाय की खेती का क्षेत्र पांच लाख एकड़ था और चाय उत्पादन दो हजार लाख पौंड था। यह किसी भी स्तर से अप्रत्याशित प्रगति थी।

गुणवत्ता की दृष्टि से भी काफी सुधार हुआ। इन वर्षों में एकड़ के विस्तार के अनुपात में उत्पादन में असीमित वृद्धि हुई। सन् 1885-1905 के बीस वर्षों में क्षेत्र में 85 प्रतिशत की वृद्धि हुई और उत्पादन में 192 प्रतिशत। ब्रह्मपुत्र और सूरमा घाटियों

में प्रति एकड़ औसत उत्पादन बहुत अधिक था। ऊंचे स्तर के कामों और नयी नयी मशीनों का परिणाम था सस्ता और उच्च कोटि का उत्पादन। फलस्वरूप भारतीय चाय ने यूरोपियन मंडियों से चीनी चाय को एक प्रकार से निष्कासित कर दिया। इसी दौरान श्रीलंका भी एक नये प्रतियोगी के रूप में उभरा। तथापि उत्पादन की क्वालिटी और सस्ते मूल्य के कारण चाय उत्पादन में ही नहीं वरन् निर्यात में भी भारत ने अपना शीर्ष स्थान बनाकर रखा।

उत्पादन और भूमि क्षेत्र के सतत् विकास के अनुपात में मंडियों का विस्तार उतना नहीं हो सका। इंग्लैंड की प्राचीन मंडी भी वृद्धि की सीमा तक पहुंच चुकी थीं। कुछ वर्षों से चली आ रही आंतरिक उपभोग में वृद्धि भी अब कम होती जा रही थी। परिणामस्वरूप सन् 1902 और 1906 में प्रति एकड़ उत्पादन में गिरावट आयी। यद्यपि इसके बाद एक बार फिर सफलता की किरण नजर आने लगी थी। अमेरिका, आस्ट्रेलिया, कनाडा और विशेष रूप से रूस में नयी मंडियों की खोज में सफलता मिली थी। प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने से भारतीय चाय उद्योग को प्रारंभिक धक्का लगा। इसका परिणाम उत्पादन में कमी और रूस के मार्केट की हानि थी। लेकिन शीघ्र ही मांग और मूल्य में वृद्धि हुई।

इसी दौरान चाय की क्वालिटी में सुधार के प्रयत्न शुरू किये गये। सन् 1899 में 'इंडियन टी एसोसिएशन' की स्थापना इसी उद्देश्य से की गयी। चाय की बिक्री और निर्यात की आय पर सीमित शुल्क लगाया गया और यह शुल्क 'एसोसिएशन' को दिया गया।

संगठन और प्रबंध

शुरू में चाय का उत्पादन ऊंचे पर्वतीय क्षेत्रों तक ही सीमित था क्योंकि यही समझा जाता था कि इस उद्देश्य के लिए मैदानी क्षेत्र ठीक नहीं होते। यह धारणा बाद में गलत सिद्ध हुई क्योंकि बंगाल में और दक्षिण में इसका अधिक विस्तार मैदानों में ही हुआ। चाय बागान के क्षेत्रों में और उसके अनुसार ही चाय उत्पादन के तरीकों में विभिन्नता होते हुए भी एक विशिष्ट चाय भूमि का अर्थ बड़े पैमाने की उत्पादन की एक इकाई से माना जाता था। समय बीतते बीतते छोटी छोटी इकाइयों के संगठित होने के कारण अथवा सामान्यतः सघन आसपास के क्षेत्रों में अधिकाधिक भूमि ग्रहण के कारण व्यक्तिगत इकाइयों का विस्तार होता गया। बाद में स्वामित्व की अनेकों इकाइयों ने स्वयं को संयुक्त स्टाक कंपनियों (अधिकांशतः इंग्लैंड में पंजीकृत) में परिवर्तित कर लिया और परिणामस्वरूप बागान संपत्तियों के आकार में वृद्धि हुई और एक संगठित रूप सामने आया। दूसरा परिणाम था प्रबंधकारिणी समिति व्यवस्था का आविर्भाव जिसके कारण संगठित इकाई की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के पूरा होने में

शीघ्रता आयी। समय समय पर कुछ बागान मालिकों ने वित्त संबंधी अथवा अन्य किसी व्यक्तिगत कारणों से बागानों की प्रबंध व्यवस्था में कठिनाई महसूस की और उस लिये उन्हें प्रबंध के निए अन्य व्यक्तियों को सौंप दिया। समय बीतता गया और असम के बागान कलकत्ता के व्यवस्थापक एजेंटों के नियंत्रण में आ गये जबकि दक्षिण की बागान कंपनियां अथवा मालिकाना फर्मों के स्वामित्व एवं नियंत्रण में थीं। यूरोपियन प्रबंधकों का अधिकार विशेष रूप से बड़े पैमाने के बागानों पर था। शताब्दी के परिवर्तन के समय मालिकाना अधिकार यूरोपियनों से भारतीयों के हाथों में आना स्पष्ट हो गया था।

यद्यपि चाय उत्पादन बड़े पैमाने पर होता था, बागानों में मशीनों का कोई उपयोग नहीं था। बोने, जोतने और रोपाई से लेकर पत्तियां तोड़ने तक, सभी काम हाथों से होता था। इस प्रकार यह उद्योग अपनी उत्पादन प्रक्रिया में श्रम बोधक था और सन् 1887 में 2,75,000 एकड़ के क्षेत्र पर लगभग पांच लाख व्यक्ति नियुक्त थे। श्रमिकों में महिलाओं और पुरुषों की संख्या समान थी और पत्तियां तोड़ने के काम के लिये बच्चों को भी लगाया जाता था। निर्माण में यद्यपि सन् 1860 के बाद मशीनीकरण में तीव्रता आई और सन् 1870 के बाद यह काम एक प्रकार से पूरा हो गया था। अधिकांश मशीनें स्वचालित थीं। वितरण, लपेटना, छंटाई और पैकिंग आदि के सभी कार्य मशीनों द्वारा ही हो जाते थे और अंतिम रूप से उत्पादित सामान हाथ के स्पर्श दोष से भी मुक्त होता था। आगामी बीस वर्षों में उद्योग की प्रगति तेजी से हुई और सन् 1906 में इसमें, 4,01,457 व्यक्ति स्थायी रूप से और 81,642 अस्थायी रूप से अर्थात एक एकड़ पर 1.08 व्यक्तियों के औसत से कार्यरत थे।

प्रारंभ में कुछ क्षेत्रों में श्रमिकों की भर्ती और फ़ैलाव की समस्या आयी। दार्जिलिंग के पास सौभाग्य से नेपाल था जहां से भरोसेमंद श्रम की नियमित पूर्ति होती थी। लेकिन वास्तविक समस्या श्रम को दूर दराज क्षेत्र से असम के क्रूर वातावरण तक लाना था। असम के चाय बागानों में श्रमिकों की भर्ती के लिए अनेक वर्षों से 'दास नियम' एक विशेष कानून बना हुआ था। अटकलबाजी वाले छठे दशक में श्रम का अभाव इतना अधिक हो गया था कि कुलियों को आकर्षित करने के तरीके षड्यंत्र की स्थिति तक पहुंच गये थे। असंतोषजनक परिवहन व्यवस्था के कारण अनेक कुली चाय बागानों तक पहुंचने से पहले ही मृत्यु का शिकार बन गये और शेष ने पाया कि उनके साथ झूठे वायदे किये गये हैं। कुछ बागान स्वामियों के हृदय में ईश्वर अथवा सरकार के प्रति कोई भाव नहीं था। सरकार ने असम में श्रमिकों की भर्ती के नियमन के लिए व्यापक कानून बनाये। इससे शोषण एवं दुरुपयोग में कमी तो आयी परंतु समाप्ति नहीं हुई। समय बीतने पर, यद्यपि व्यवस्थित एवं आवासित श्रमिकों की एक नयी पीढ़ी अस्तित्व में आयी, बागान की खामियों में भी एक नयी जागृति का आभास हुआ और सरकारी क़ानून भी अधिक प्रभावशाली और पर्याप्त

सिद्ध हुए।

छठे दशक में असम में मजदूरी की दर दो रुपये से पांच रुपये तक प्रति श्रमिक होती थी। मजदूरी के साथ साथ, ठेके पर भर्ती किये गये श्रमिकों को 60 से लेकर 500 रुपये तक प्रति व्यक्ति की दर से अग्रिम राशि दी जाती थी जिससे कि वह अपना कोई भी पुराना ऋण चुका सके और यदि संभव हो, अपने परिवार के साथ चाय बागानों में ही रहने की व्यवस्था कर सके। एक बार वे यदि इधर आ गये, उनको व्यक्तिगत जुताई, मुफ्त मकान, निशुल्क चिकित्सा और सस्ती दर पर चाय एवं चावल जैसी कुछ सुविधाएं सामान्य रूप से दी जाती थीं। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशकों में मजदूरी की दरों में धीरे-धीरे कुछ वृद्धि हुई लेकिन प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व ही इनमें कुछ कमी आ गयी। अच्छे समय में, एक आदमी 6 रुपये, महिला 5 रुपये और बच्चा 3 रुपये महीना तक कमा लेता था। फैक्ट्री की दरें कुछ ऊंची थीं। श्रमिकों का फैलाव बागानों से फैक्ट्रियों तक अथवा दूसरी प्रकार स्थिति की आवश्यकतानुसार होता था। बागान और फैक्ट्री की एक ही प्रबंध समिति थी यद्यपि इनका नियमन बहुत बाद में सन् 1922 के पश्चात् फैक्ट्री एक्ट के अंतर्गत हुआ।

श्रमिकों की प्रबंध व्यवस्था की कोई समस्या नहीं थी क्योंकि चाय बागान का काम सामूहिक रूप से होता था और बड़े से बड़े बागान में केवल एक अकेले व्यवस्थापक से काम चल जाता था। मजदूरी के भुगतान का संबंध सामान्यतः श्रमिक समूहों के विशिष्ट कार्यों से होता था।

चाय की मंडी की विशेषता यह थी कि शुरू से ही इसकी बिक्री लंदन में नीलामी से होती थी। भारतीय चाय का महत्वपूर्ण उपभोक्ता ब्रिटेन ही था और लंदन यूरोप की अग्रगण्य चाय मंडी। हमारे चाय उत्पादन का 85 प्रतिशत सीधे ब्रिटेन को निर्यात होता था और इसकी बिक्री लदन में सप्ताह में दो बार आयोजित विशेष नीलामी द्वारा होती थी! इसलिए भारतीय चाय का भाग्य इन नीलामियों के साथ जुड़ा हुआ था। शेष उत्पादन की बिक्री यू.के. के अतिरिक्त अन्य देशों को निर्यात करने के लिए कलकत्ते में आयोजित साप्ताहिक नीलामियों में की जाती थी। यह भी निश्चित है कि लंदन में बेची गयी अधिकांश चाय अन्य देशों में पहुंच जाती थी।

सर जार्ज वाट का अनुमान था (सन् 1905) कि इस उद्योग में निवेशित पंजीकृत कुल धन राशि 22 करोड़ रुपया थी। इंग्लैंड में पंजीकृत कंपनियों का 18 करोड़ 40 लाख की राशि का मुख्य भाग होता था और शेष भारत में पंजीकृत कंपनियों का होता था। निजी स्वामियों से उनके निवेश की कोई सूचना नहीं थी। फिर भी अनुमान लगाया जाता था कि उनकी ओर से 8 करोड़ रुपये की राशि लगी हुई थी और इस प्रकार कुल विनियोग 30 करोड़ रुपये (2 करोड़ पौंड) का था।

कॉफी

भारत में चाय उत्पादन से पहले कॉफी उत्पादन शुरू हो गया था यद्यपि भारतीय लोग बहुत कम कॉफी पीते थे और यह पेय प्रसिद्धि में अथवा आर्थिक महत्ता में चाय का विरोधी नहीं बन सका। कहते हैं कि भारत में सर्वप्रथम कॉफी का पौधा अरब से आए एक तीर्थयात्री ने लगाया था। लेकिन सर जार्ज वाट के अनुसार 17वीं शताब्दी में मूरीश व्यापारी इसे यहां लाये। फिर भी, व्यवस्थित और विस्तृत रूप से कॉफी की खेती पिछली शताब्दी के तीसरे दशक में इसे भारत में लाये। इससे पूर्व के दशक में ईस्ट इंडिया कंपनी ने विभिन्न प्रकार की छूट देकर काफी बागान के काम को प्रोत्साहित किया। इसने कॉफी की खेती में यूरोपियनों को काम करने की अनुमति ही नहीं दी वरन् अनेक वर्षों तक भूमि अधिग्रहण की आज्ञा भी दे दी। इस प्रकार की छूट किसी अन्य वर्ग के बागान स्वामी को नहीं थी। अन्य कार्यों के साथ साथ कॉफी की पहली फर्म स्थापित करने का मांगपत्र सन् 1823 में दिया गया। कॉफी बागान के असफल प्रयत्न अनेक स्थानों पर किये गये। बंगाल में सन् 1930 के वर्ष में लगभग 4000 एकड़ भूमि कॉफी की खेती में थी लेकिन इसके परिणाम इतने उत्साहवर्धक नहीं थे। कंपनी के लिए बंगाल की गर्मी बहुत तेज मानी जाती थी। इस प्रकार की खेती के प्रयत्न बाद में दक्षिण में भी किये गये और बंगाल और कोयंबतूर के क्षेत्रों में इन्हें सफलता भी मिली। कुछ समय बाद मैसूर कॉफी उत्पादन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण केंद्र बन गया। भारतीय महाद्वीप में कुर्ग, नीलगिरि और मालाबार तथा श्रीलंका अन्य कॉफी उत्पादक क्षेत्र थे।

सन् 1830 से 1860 के वर्षों के दौरान कॉफी उद्योग का नियमित विकास हुआ। अमेरिका के गृहयुद्ध के दौरान असामान्य रूप से बढ़ी हुई मांग के कारण सन् 1860 के आसपास उत्पादन में भी वृद्धि हुई। आने वाले समय में हुई समृद्धि का प्रभाव कॉफी पर भी पड़ा। सन् 1860 से 1870 के दौरान नियति में दस गुनी वृद्धि हुई और सिलसिला अगले दशक में भी चलता रहा। इसी दौरान, कुछ अशांतिपूर्ण घटनाएं घटित हो रही थीं। यदि चाय वृद्धि उस समय अपने ही भार के नीचे दबकर रह गयी तो कॉफी उद्योग को भी भयानक विपत्ति का झटका सहन करना पड़ा। सन् 1862 में वृक्ष बेधक आये और इसके कुछ वर्षों बाद पत्तियों में घातक अंगमारी रोग लग गया। यह बहुत अधिक अनर्थकारी था। लेकिन इससे भी बड़ी विपत्ति इस उद्योग पर अभी आने वाली थी। यह सस्ती ब्राजील कॉफी से प्रतियोगिता के रूप में आयी क्योंकि ब्राजील कॉफी सातवें दशक के प्रारंभ में विश्व मार्किट में छा गयी। आठवें दशक में उद्योग को काफी हानि उठानी पड़ी। ब्राजील में सन् 1889-96 की अल्प समयावधि में प्रगति भी हुई लेकिन इसके बाद राजनैतिक परेशानियों के कारण फिर निराशाजनक स्थिति शुरू हो गयी। अनेक बागान छोड़ दिये गये और कॉफी की बहुत सारी जमीन

पर श्रीलंका में पूरी तरह से ही चाय, रबड़ और सिंकोना का काम शुरू हो गया।

सन् 1860 के बाद कॉफी के क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई और वह सन् 1885 में 2,37,500 एकड़ तक पहुंच गयी। बाद के दस वर्षों के अंदर अंदर यह 2,74,000 एकड़ हो गयी। इसके बाद इसमें धीरे धीरे गिरावट आई और प्रथम विश्वयुद्ध से पूर्व कॉफी उत्पादन का क्षेत्र घट कर 2,03,677 एकड़ रह गया। उत्पादन में प्रत्येक वर्ष उतार चढ़ाव आता रहा। सन् 1895 में जहां 4 करोड़ पौंड का सर्वाधिक उत्पादन रहा, इसके बाद के वर्षों में यह 2 करोड़ पौंड जितना कम भी रहा। निर्यात जो कि उत्पादन का 95 प्रतिशत रहा, सामान्य रूप से इतना ही बना रहा। क्वालिटी की दृष्टि से भी भारतीय कॉफी विशेष रूप से अच्छी थी और इसका मूल्य सामान्यतः ऊंचा ही रहा।

मूल रूप से लघुस्तरीय उद्योग होने के कारण, कॉफी बागानों में वैसी मानवीय और सामाजिक समस्याएं नहीं आयीं जो चाय और नील के साथ आयीं। उद्योग के संकट के समय में भी, बागान ही छोड़ दिये गये लेकिन मानवीय यातना कहीं नहीं की। इस उद्योग में श्रम की आवश्यकता भी कम ही थी और उत्पादन क्षेत्र भी, असम के वर्जित क्षेत्रों के विपरीत, समान और स्वस्थ जलवायु वाले थे। केवल कुछ बड़े बागानों में कॉफी सरसफल से गूदा हटाने के लिए मशीनों का प्रयोग होता था। इस काम के साथ साथ अन्य काम जैसे सरसफल से पार्चमेंट का हटाना, छंटाई और पैकिंग आदि मंडियों में व्यापारियों द्वारा अपने अपने स्थानों पर किया जाता था।

अन्य बागानों की भांति कॉफी भी एक यूरोपीय उद्योग था। जहां यूरोपियनों की कुछ कंपनियां पंजीकृत थीं, वहां अधिकांश बागानों की व्यवस्था व्यक्तियों द्वारा होती थी जिनमें यूरोपियन एंग्लो-इंडियन और भारतीय व्यक्ति थे।

चाय बागानों की भांति कॉफी में श्रम की आवश्यकता पूरे साल भर निश्चित और नियमित नहीं थी। आसपास के किसानों में से ही अस्थायी तौर पर श्रमिक ले लिये जाते थे। स्थायी श्रमिकों में भी अधिकांश व्यक्ति बागान के बाहर भी अपने जीवनयापन के लिये अतिरिक्त काम ढूंढते थे। अनुमानतः कॉफी बागानों में श्रमिकों की आवश्यकता चाय श्रमिकों की अपेक्षा आधी होती थी। इस प्रकार कॉफी उद्योग के उत्कर्ष के वर्षों में भी अधिकतम श्रमिकों की संख्या एक लाख के लगभग होती थी। सर वाट के अनुसार सन् 1906 में 31,827 बागानों में 24,447 व्यक्ति स्थायी रूप से और 46,044 अस्थायी रूप से काम करते थे। इनमें महिलाओं और बच्चों की संख्या भी काफी थी।

रबड़

रबड़ एक दूसरा बागान उद्योग है जिसकी शुरुआत यूरोपियनों ने की थी। सन् 1878

में सर हेनरी ए. विकहम ने ब्राजील के कानून का उल्लंघन कर अमेजन क्षेत्र से हजारों पौधों को उखाड़कर श्रीलंका में उनका रोपण कर दिया जहां से इसकी खेती दक्षिण भारत और दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों में फैली। आज भी प्राकृतिक रबड़ के उत्पादन में इन्हीं स्थानों का वास्तविक रूप से वर्चस्व है। यद्यपि चाय और कॉफी की तुलना में रबड़ एक लघु उद्योग है। सिंकोना उद्योग को छोड़कर रबड़ उद्योग हाल ही की घटना है। रबड़ की तुलना में सिंकोना एक साधारण उद्योग ही था। इम्पीरियल और प्रादेशिक सरकारों ने रबड़ उत्पादन में सहायता भी दी। बर्मा सरकार ने भी इस उद्योग की स्थापना में काफी सहायता दी। इम्पीरियल सरकार ने आसाम में अपने बागान लगाये लेकिन उसके परिणाम उतने उत्साहवर्धक नहीं रहे। सन् 1900 का वर्ष अभूतपूर्व था जब त्रावणकोर के शासक ने सफलतापूर्वक अपनी रियासत में रबड़ उत्पादन की शुरुआत की। आने वाले वर्षों में यह उत्पादन. कोचीन, कुर्ग, और मालाबार में भी फैला। बर्मा भी बड़े रबड़ उत्पादकों की श्रेणी में आ गया।

प्रारंभ में, जहां कॉफी उद्योग असफल रहा वहीं पर रबड़ उद्योग की शुरुआत की गयी। कॉफी की स्थिति रबड़ की तुलना में लाभप्रद थी। क्योंकि रबड़ और चावल के उत्पादन समय में जैसी टकराहट थी वैसी कॉफी और चावल के उत्पादन समय में नहीं थी। इसकी प्रगति तब तक धीमी ही रही जब तक कि सन् 1906 में लंदन की अप्रत्याशित मांग ने इसको प्रोत्साहन नहीं दिया। यूरोप की बड़ी संयुक्त स्टाक कंपनियों के पास सन् 1911 तक त्रावणकोर में रबड़ उत्पादन में 1700 एकड़ क्षेत्र था। सन् 1911 की जनगणना के अनुसार उस समय 48 बागान थे जिनमें 13,500 श्रमिक काम करते थे और जो मद्रास प्रेसीडेंसी, बर्मा और त्रावणकोर-कोचीन रियासतों में समान रूप से फैले थे।

पहले भारत ने अपने सीमापार क्षेत्रों से काफी संख्या में रबड़ का आयात किया था। लेकिन शताब्दी के अंत तक स्वदेशी उत्पादन का विस्तार हो चुका था, जिससे निर्यात भी संभव था।

भू-संपत्ति के आकार में काफी विभिन्नता लेकिन औसतन क्षेत्र और प्रति बागान श्रमिकों की संख्या कम थी। बड़े बड़े बागानों में भी मशीनी शक्ति का उपयोग सामान्य नहीं था। इस प्रकार यह शिशु उद्योग अखाड़े में अपने पैर जमाने के प्रयत्न कर ही रहा था कि पहला विश्वयुद्ध प्रारंभ हो गया।

बागान : एक सारांश

आधुनिक शब्दावली में बागानों को कृषि-औद्योगिक कार्यक्रमों में लिया जाता था। इन पर औद्योगिक संस्थानों के नियम लागू नहीं होते थे। इस प्रकार इन्हें व्यवस्था और श्रम शक्ति के मामले में काफी स्वतंत्रता उपलब्ध थी। इसका परिणाम था, श्रमिकों

का शोषण, सामाजिक और आर्थिक अशांति और इसका सीधा नतीजा हुआ नील और चाय बागानों की भांति विद्रोह और संघर्ष।

इसका एक सकारात्मक पक्ष भी था। इन्होंने अभी तक कृषि के लिए वर्जित विस्तृत और निरर्थक भूमि को उपयोगी बना दिया। इसके साथ-साथ बागानों ने पारंपरिक कृषि जुताई का स्थान नहीं लिया वरन् ये उत्पादन के एक अतिरिक्त स्रोत बने। जहां जहां भी बागानों और कृषि में पारस्परिक टकराहट नहीं हुई वहां वे श्रमिकों के लिए एक अतिरिक्त आय का साधन बन गये।

बागान उद्योग निर्यात अभिमुख थे और विदेशी मुद्रा प्राप्ति में इनका विशेष योगदान था। जहां चाय उत्पादन का लगभग 90 प्रतिशत निर्यात होता था, कॉफी और रबड़ उत्पादन का शत प्रतिशत निर्यात के लिए भी निश्चित कर दिया जाता था। प्राचीन समय से प्रसिद्ध नील निर्यात में सन् 1882-83 में सबसे आगे था, इस वर्ष में इसके निर्यात का मूल्य 3.9 करोड़ रुपये था। दूसरे स्थान पर चाय थी जिसका निर्यात 3.7 करोड़ रुपये का था और कॉफी, जो निर्यात की दर्जनों मुख्य निर्यात वस्तुओं में से एक थी, से केवल 1.4 करोड़ रुपये की आय आयी। कुल मिलाकर तीनों वस्तुओं की आय 9 करोड़ थी जो बारह मुख्य वस्तुओं की कुल आय 72.6 करोड़ रुपये का आठवां हिस्सा थी। नील का निर्यात अगले दस वर्षों में सुधरा. सन् 1895-96 में 5.35 करोड़ रुपये तक पहुंच गया। इसी वर्ष नील व्यापार और नील उत्पादन के इतिहास में एक मोड़ आया। अगले दशक के अंत में अर्थात् सन् 1906-1907 में निर्यात गिर कर 70 लाख तक पहुंच गया। दूसरी ओर कॉफी निर्यात में सुधार हुआ जो सन् 1901-1902 में 1.25 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1905-1906 में 1.76 करोड़ रुपये तक पहुंच गया। बाद के वर्षों में कॉफी उद्योग में भी मंदी आ गयी। और सन् 1910 तक निर्यात की मुख्य बारह वस्तुओं में न तो नील रहा और न ही कॉफी चाय की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। सन् 1908-1910 के वर्षों में बारह मुख्य वस्तुओं से प्राप्त कुल राशि, 192 करोड़ रुपये, में 13 करोड़ रुपये की आय चाय से ही हुई।

चाय, कॉफी और नील के निर्यात की विशेषता इस तथ्य में थी कि इनके निर्यात की मुख्य दिशा–स्थान एक ही था–ग्रेट ब्रिटेन। परिणामस्वरूप, राशि भुगतान की स्थिति और इन उद्योगों का भाग्य, सुदूर स्थित एक देश की रुचि, उसके स्वभाव और व्यापार-मुद्रा सबंधी नीतियों पर मुख्य रूप से निर्भर थे।

बागान उद्योगो ने लगभग 7 लाख व्यक्तियों को प्रत्यक्ष रूप से रोजगार दिया। अकेले चाय उद्योग में 5 लाख से अधिक व्यक्ति काम करते थे। सहायक और तत्संबंधी उद्योगों में रोजगार की स्थिति को देखते हुए, बागानों ने रोजगार के लिए लाभप्रद अवसर प्रदान किये, और वह भी ऐसे समय जब कृषि के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय अभी महत्वपूर्ण कार्य के रूप में उभरने वाले थे।

बागान उद्योगों के सामने दो ही विकल्प थे–या तो पूर्ण समाप्ति अथवा असीमित

विकास। यदि नील उत्पादन का केवल नाम ही रह गया तो चाय का प्रगति के शिखर पर पहुंचना निश्चित था। कॉफी और रबड़ लघु उद्योग थे जो अपने भविष्य के प्रति अनिश्चित थे और संभवतः इसीलिए वास्तविक प्रगति के लिए स्वभाविक रूप से असमर्थ थे। जहां एक ओर कॉफी का जीवनकाल काफी वैविध्यपूर्ण था, रबड़ अभी तक तरुणाई की अवस्था में था, लेकिन उस समय भारत में उपलब्ध सामान्य स्थितियां इसकी प्रगति के लिए अनुपयुक्त थीं और इस कारण इसका भविष्य भी अनिश्चितता के अंधकार में था।

अध्याय 3

औद्योगिक विकास की आधारभूत संरचना

विकास की पूर्व-आवश्यकताएं

औद्योगिक विकास, संपूर्ण आर्थिक विकास की भांति, कुछ पूर्व स्थितियों पर निर्भर करता है जिनकी पूर्ति औद्योगिक विस्तार की गति और प्रतिमान को विभिन्न अंशों में निश्चित करती है। विकास की आधारभूत संरचना के लिए उत्तरदायी घटकों में कुछ प्राकृतिक रूप से आर्थिक होते हैं जबकि अन्य गैर आर्थिक होते हैं। विकास की आर्थिक पूर्व आवश्यकताओं में परिवहन और संचार की पर्याप्त मौलिक सुविधाएं, शक्ति, तकनीकी कौशल, बैंकिंग और वित्तीय संगठन आदि हैं। गैर आर्थिक कारणों में राजनैतिक स्थिरता और विकास संबंधी प्रशासन से लेकर पारिवारिक व्यवस्था और ग्रामीण संगठन तक के विभिन्न घटक हैं। यहां हमें आर्थिक विकास की सामाजिक आर्थिक जटिलताओं में जाने की आवश्यकता नहीं। हम आर्थिक पूर्व आवश्यकताओं के केवल उन्हीं तीन मुख्य संघटकों पर ध्यान देंगे जो भारत में औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया से सीधे और मुख्य रूप से जुड़े हैं। ये संघटक थे रेलवे और राजमार्ग–दो मुख्य परिवहन व्यवस्थाएं, कोयलाखान–जो अभी कुछ समय तक औद्योगिक शक्ति का अकेला स्रोत थी, विद्युत–उत्पादन और बहुत बाद में, लौह और इस्पात निर्माण के नेतृत्व में तेल और धातुकर्मीय उद्योग, इनमें प्रत्येक अपने आप में एक मुख्य उद्योग है। आगे के अध्यायों में लौह-इस्पात उद्योग का वर्णन स्वतंत्र और विस्तृत रूप से किया जायेगा। लेकिन यह समझ लेना आवश्यक है कि कोई भी सुगठित औद्योगिक ढांचा तब तक निर्मित नहीं किया जा सकता जब तक कि इसको पर्याप्त विकसित परिवहन और शक्ति व्यवस्था तथा धातुकर्मी उद्योगों की सुविधा प्राप्त न हो। इन सबका व्यापार, उद्योग और वित्त पर ही नहीं, वरन् समाज के संपूर्ण जीवन और आने वाली पीढ़ियों पर दूरगामी प्रभाव होता है।

रेलवे

19वीं शताब्दी के मध्य तक भारत में परिवहन सुविधाएं अपर्याप्त और दयनीय थीं और सदियों तक इसी प्रकार ज्यों की त्यों रही। सड़कों की हालत खराब थी और वे अधिकांशतः अच्छे मौसम में ही संचार व्यवस्था का काम करती थीं। अच्छे प्राकृतिक बंदरगाहों के अभाव में, रेतीले नदी-मुहानों के कारण, कुछ नदियों के उग्र स्वभाव के कारण, और फेन मुक्त पूर्वी घाट तथा मानसून ध्वस्त पश्चिमी घाट के कारण सामुद्रिक और जल परिवहन का कोई महत्व नहीं था। भारत में नहरों की वह भूमिका नहीं रही जो इंग्लैंड अथवा महाद्वीप में रही। भारत में नहरों का निर्माण प्रायः परिवहन के लिए नहीं किया जाता था। दूसरी ओर, इंग्लैंड की नहरें परिवहन का मुख्य साधन थीं और बाद में रेलवे के साथ-साथ, व्यापारिक क्रांति लाने के लिए भी उत्तरदायी थीं। सन् 1850 के बाद, भारतीय रेलवे और नहरों का पारस्परिक संबंध घनिष्ठ होता गया क्योंकि दोनों ही को अकाल से बचाव के रूप में माना गया और दोनों ही एक ही विभाग, 'सार्वजनिक निर्माण विभाग' (पी. डब्ल्यू. डी.) के अंतर्गत थे। दोनों में यद्यपि राजकीय अनुदान प्राप्त करने के लिए प्रतियोगिता भी रहती थी, तथापि नहरें परिवहन के ऐसे मुख्य साधन के रूप में नहीं उभरीं जैसे रेलवे और राजमार्ग।

भारतीय परिवहन व्यवस्था के विस्तार और आधुनिकीकरण का युग गत शताब्दी के पांचवें दशक में लार्ड डलहौजी द्वारा लाया गया माना जाता है। उसके शासनकाल में, राजमार्गों का ही सुधार और विकास, डाक व्यवस्था का पुनर्गठन, टेलीग्राफ का श्रीगणेश, सार्वजनिक निर्माण विभाग (पी. डब्ल्यू. डी.) की स्थापना, आदि कार्य ही नहीं हुए वरन् रेलवे की शुरुआत भी हुई और इसका नियोजन इस प्रकार हुआ कि यह पूरे भारत में पहुंचने और सेवा करने के लिए विकसित की जा सके सचमुच ही उसे 'भारतीय रेलवे का जनक' कहा जाता है।

गारंटी प्रणाली

सन् 1845 के प्रारंभ में, दो निजी संघ ईस्ट इंडियन रेलवे और ग्रेट इंडियन पेनिनसुला रेलवे, की स्थापना रेलवे निर्माण के उद्देश्य से की गयी। लेकिन इन संघों के मालिकों के लिये सरकार से वित्तीय सहायता के बिना रेलवे निर्माण की योजनाओं के क्रियान्वयन में कठिनाई आयी। ईस्ट इंडिया कंपनी के डायरेक्टर शुरू में इतने उत्साहित नहीं थे, लेकिन अंत में मालिकों द्वारा लगायी गयी पूंजी पर ब्याज की गारंटी देने का उन्होंने निश्चय कर लिया। यही गारंटी प्रणाली कहलायी। तथापि वास्तविक रूप से उस समय तक कुछ काम नहीं हुआ जब कि सन् 1848 में लार्ड डलहौजी ने भारत में कंपनी का प्रशासन नहीं संहाला और उन्होंने रेलवे और राजमार्ग के विकास की सुदृढ़ योजनाएं दीं। मुक्त व्यापार का पक्का समर्थक होने के नाते, डलहौजी ने विचार किया

कि रेलवे निर्माण सरकार का काम नहीं है। उन्होंने इस काम के लिए निजी कंपनियों का समर्थन किया। अगले ही वर्ष दो रेलवे कंपनियों के साथ गारंटी के समझौतों पर हस्ताक्षर हो गये। और इस प्रकार प्रथम 'लौह-अश्व' ने सन् 1853 में बंबई और ठाणे के बीच दौड़ लगायी।

सन् 1853 से बाद के रेलवे विस्तार के बारे में बात करने से पहले संक्षेप में गारंटी प्रणाली का जिक्र करना उचित होगा। इस प्रणाली के अंतर्गत अगले 15 वर्षों में रेलवे का निर्माण किया गया और रेलवे विभाग पर इसके दुष्प्रभाव के कारण इसकी आलोचना भी हुई। इस प्रणाली के अंतर्गत गारंटी कंपनियों को पूंजी मिल गयी और समझौते के समय मार्किट की मुद्रा स्थिति को देखते हुए सरकार ने इस पर 4.5 से 5 प्रतिशत की दर से ब्याज की गारंटी दी। दूसरी ओर, यदि कंपनियों को 5 प्रतिशत से अधिक की आमदनी हुई, तो अधिक राशि को दोनों पार्टियों, सरकार तथा कंपनी, में समान रूप से बांट दिया जायेगा। सरकार ने 25 या 50 वर्षों के बाद लाइनों को खरीदने की छूट अपने पास रखी और व्यय तथा कार्य के नियंत्रण का अधिकार भी अपने पास ही रखा। यह भी निश्चित किया गया कि कंपनियां 6 महीने के नोटिस के बाद लाइनों का नियंत्रण खुद भी छोड़ सकती थीं।

डलहौजी ने अपना प्रसिद्ध रेलवे वक्तव्य सन् 1853 में जारी किया जिसमें उन्होंने पूरे देश के लिए एक ही सामान्य प्रणाली की सिफारिश की और जिसमें व्यवस्था, वित्त और निर्माण के सामान्य सिद्धांत भी प्रतिपादित किये। बंबई–ठाणे रेलवे लाइन के बाद सन् 1854 में कलकत्ता–रानीगंज की लाइन बिछी, और सन् 1856 में मद्रास–अरकोनाम की लाइन। सन् 1857 के विद्रोह के बाद, डलहौजी की योजना के अनुसार निर्माण का विशाल कार्य चलाया गया जिसमें आठ कंपनियों ने 5000 मील की रेलवे लाइनों को बिछाने का काम अपने हाथ में ले लिया। अगले दशक में यह काम पूरा हुआ और इस प्रकार भारतीय रेलवे विकास के प्रथम चरण तथा सन् 1869 में बहुआलोचित गारंटी प्रणाली का समापन हुआ।

सन् 1859-69 के 'डलहौजी दशक' में 5000 मील लंबी रेलवे लाइन बिछायी गयी, बंबई-कलकत्ता और मद्रास को जोड़ने वाली बड़ी लाइन का काम पूरा हुआ तथा इन बड़ी लाइनों से संबंधित पूरक लाइनों का काम जारी रहा। यह दशक, भारतीय इंजीनियरों, टेक्नीशियनों और सामान्य मजदूरों द्वारा प्रदर्शित अपना सर्वोच्च कौशल और बुद्धि का समय था जो पथप्रदर्शक बन गया। भारत की प्रथम रेलवे लाइन, बंबई–ठाणे लाइन का पुणे तक विस्तार एक इंजीनियरिंग कौशल की बात थी। जिसकी "इंजीनियरिंग अनुभव की पूरे क्षेत्र में कहीं कोई समानता नहीं थी।" छठे दशक के प्रारंभ में ही पश्चिमी घाटों पर विजय प्राप्त कर ली गयी थी और भीतरी प्रदेश तक बंबई की पहुंच हो गयी थी। पश्चिमी घाटों की विजय की कहानी ही एक प्रकार से भारतीय रेलवे की कहानी है। घाटोत्तर रेलवे उस समय वास्तविकता बन गयी

थी जब रेलवे निर्माण एक नया ज्ञान था और गैस यांत्रिक, कम्प्रेसर, पत्थर-छिद्रक, आदि आधुनिक उपकरण और यंत्र एक प्रकार से अनजान थे।

पहली लाइनों के बिछाने में अग्रगण्य काम, इंग्लैंड से मशीनों और कच्चे माल के निर्यातों पर निर्भरता, कुशल श्रम की कमी, और इससे भी अधिक लाइन बिछाने में राजनैतिक और सैन्य महत्व आदि को देखते हुए रेलवे कंपनियों के लिए पूंजी गारंटी मुद्रा 5 प्रतिशत से अधिक लाभ कमाने का स्पष्टतः कोई अवसर नहीं था। इस प्रकार अपव्यय और फिजूलखर्ची इस व्यवस्था के अंग बन गये। उक्त परिस्थितियों में पांच प्रतिशत का लाभांश पर्याप्त था और इसमें कम खर्च अथवा कार्यक्षमता का कोई प्रलोभन नहीं था। जब तक गारंटी मिलती रही, गारंटी रहित कंपनियों से भी प्रतियोगिता का कोई प्रश्न नहीं था। डलहौजी ने 8000 पौंड प्रति मील औसत लागत मूल्य का अनुमान लगाया था जबकि सन् 1868 में गारंटी पर अग्रिम रूप से दिये गये लाभांश को निकालकर वास्तविक लागत मूल्य 18,000 पौंड बैठा। कंपनियों का नुकसान प्रत्येक वर्ष बढ़ता ही गया जो कि सरकार ने ऐसे समय में पूरा किया जब उसकी अपनी वित्तीय स्थिति काफी असंतोषजनक थी। यद्यपि गारंटी प्रणाली सन् 1869 में समाप्त हो गयी थी फिर भी पहले से लगी पूंजी में सरकार का उत्तरदायित्व बना रहा। इसी से प्रेरित होकर प्रसिद्ध इतिहासकार आर. सी. दत्त ने सिंचाई योजनाओं–जो सदैव लाभप्रद रहीं और रेलवे जो सदैव हानिप्रद रही, में विषमता को रेखांकित किया। इस प्रणाली के प्रथम दशक सन् 1849-59 में सरकार ने कंपनियों को 2.2 करोड़ रुपये का भुगतान किया। अगले बारह वर्षों में रेलवे पर कुल लागत व्यय 100 करोड़ रुपये के लगभग हो गयी थी और इस दौरान सरकार का व्यय भी दुगुना हो गया था।

गारंटी प्रणाली समाप्त कर दी गयी और रेलवे निर्माण का दूसरा चरण शुरू हुआ। अगले दस वर्षों (सन् 1870-80) में सरकार ने यह काम अपने हाथ में लिया। सन् 1867 से पहले सरकार के पास उत्पादनकारी कामों जैसे सिंचाई और रेलवे निर्माण के लिए ऋण लेने का कोई अधिकार नहीं था। लेकिन सन् 1867 में यह प्रतिबंध हटा दिया गया और चूंकि ऋण की व्यवस्था लंदन के मुद्रा बाजार में चार प्रतिशत से भी कम ब्याज पर हो जाती थी, सरकार को अपने पास से ही पूंजी लगाने में स्पष्ट रूप से लाभ था। यद्यपि, यह लाभ भी नयी दुर्नीतियों के कारण तथा कभी कभी असंभावी परिस्थितियों जैसे अकाल और विनिमय कठिनाइयों के कारण शून्य ही रह जाता था। डलहौजी ने पूरे भारत में एक समान 5 फुट 6 इंच बड़ी लाइन की योजना बनायी थी। परंतु सन् 1870 के बाद अधिकांशतः बचत के आधार पर 3 फुट 3 इंच छोटी लाइनों का निर्माण हुआ। पूरे देश में एक समान बड़ी लाइन उस समय के वहन भार तथा वहन प्रकृति को देखते हुए एक विलासिता की बात ही बनती। लेकिन अविवेकपूर्ण छोटी लाइनों के निर्माण की नीति भी ठीक नहीं थी। कुछ ही समय बाद,

युद्धों और अकालों के कारण, उनको, काफी खर्चे पर, बड़ी लाइनों में परिवर्तित करना पड़ा। इसी दौरान अंतर्राष्ट्रीय बाजारों में सोने का मूल्य बढ़ रहा था और सरकार का उत्तरदायित्व इंग्लैंड में ऋण और ब्याज के भुगतान में बढ़ता जा रहा था। जबकि बार बार होने वाली अकाल की स्थितियों के कारण शीघ्रगामी और अच्छी परिवहन सुविधाओं की आवश्यकता थी, सरकार निर्माण की विद्यमान गति को भी स्थिर नहीं रख सकी।

सन् 1870 और 1880 के मध्य, 25 करोड़ की अतिरिक्त लागत से 2000 मील की रेलवे लाइन बिछा दी गयी। संसद की प्रवर समिति (सन् 1878) को दी गयी एक सूचना के अनुसार उस समय 7,500 मील की रेलवे लाइन पर काम चल रहा था और उसकी कुल लागत इस प्रकार थी–

	करोड़ पौंड
काम की लागत	11.2
भूमि की लागत	0.8
ऋण	5.0
कुल	17.0

अनुमानतः राजकीय कोष को 3 करोड़ रुपये प्रति वर्ष की हानि थी।

सन् 1874 के अंत तक पहले समझौते की समयावधि समाप्त हो गयी थी और होम (गृह) सरकार ने एकतरफा इसे आगामी 25 वर्षों के लिए नवीनीकरण करने का निश्चय किया। भारत सरकार ने इसका असफल विरोध किया। सरकार द्वारा इसके अधिग्रहण के लिए परिस्थितियां अनुकूल थीं। रेलवे लाइनों से लाभ हो रहा था और शेयरों के भाव अधिक मूल्यों पर उद्धृत किए जा रहे थे।

तीसरे और अनेक दशकों के लिए, अंतिम चरण का उद्घाटन सन् 1880 में हुआ था। आने वाले वर्षों में, सरकार ने, प्रत्यक्ष निर्माण की भांति निजी कंपनियों को फिर से प्रोत्साहित किया। इस बार गारंटी की व्यवस्था तो न थी लेकिन वित्तीय सहायता सदैव ही सरकार द्वारा प्रदान की जाती थी। इसी समय, कुछ देशी रियासतों ने अपने अपने क्षेत्रों में रेलवे निर्माण का कार्य प्रारंभ किया। लेकिन रेलवे की नीति आने वाले कुछ वर्षों तक अनिश्चित-सी रही। अकाल के कारण तेजी से निर्माण के काम को अधिक महत्व नहीं दिया गया परंतु अफगान युद्ध ने साधनों का दिशा परिवर्तन कर दिया। इंडियन पब्लिक वर्क्स की संसदीय समिति के, भारतीय सरकार द्वारा उत्पादनशील कार्यों (रेलवे और सिंचाई) के लिए वार्षिक रूप से लिये गये ऋण की राशि को, स्थिर रखने के लिए निर्णय से, साधनों की कमी बढ़ती ही गयी। कुछ वर्षों तक भारतीय सरकार और सेक्रेटरी ऑफ स्टेट में पत्र व्यवहार चलता रहा। अंत में, 1884 में हाउस ऑफ कॉमंस एक प्रवर समिति ने रिपोर्ट प्रस्तुत की जिस में बड़ी बड़ी योजनाओं पर बल दिया गया और सुरक्षात्मक एवं उत्पादक योजनाओं के बीच

अंतर को समाप्त करने की सिफारिश की गयी। फिर भी, भारत की सरकार और होम सरकार में रस्साकशी की स्थिति बनी रही। भारत की सरकार को बताये बिना, और कभी कभी, उसके विरोध के बावजूद भी होम (गृह) सरकार नये अनुबन्ध करती रही। सेक्रेटरी ऑफ स्टेट गारंटी सहित कंपनियों द्वारा निर्माण कराने के पक्ष में रहे। उत्पादनशील लाइनें कंपनियों को पट्टे पर दे दी गयीं और गैर उत्पादनशील लाइनें सरकार ने अपने पास रखीं।

विभिन्न एजेंसियों द्वारा किये गये तीव्र विस्तार ने संगठन, प्रशासन और नियंत्रण की समस्याएं खड़ी कर दीं। अभी तक संगठित अथवा समन्वित नियंत्रण व्यवस्था थी। यदि कुछ रेलवे का प्रशासन और स्वामित्व सरकार के पास था तो कुछ का स्वामित्व एजेंसियों के पास था लेकिन जो काम कंपनियों की गारंटी से करती थीं। कुछ ऐसी लाइनें भी थीं जिनको कंपनियों का स्वामित्व तो था परंतु प्रशासन नहीं। देशी रियासतों की रेलवे में, कुछ की देखभाल रियासतों द्वारा ही होती थी और कुछ की प्राईवेट कंपनियों द्वारा अथवा कुछ ऐसी भी थीं जिनका नियंत्रण सरकार के पास था—चूंकि वे सरकार नियंत्रित लाइनों के आसपास थीं। लाइनों की इन प्रशासनिक व्यवस्थाओं के इस पिटारे का खुलासा इस तथ्य से होता है कि सन् 1900 में इस प्रकार की 33 एजेंसियां थीं।

सन् 1896 में यह नियमित किया गया कि किसी भी गारंटी कंपनी को भारत में लागत पूंजी का ऋण नहीं लेना चाहिए। केवल सरकार ही ऐसा कर सकेगी और कंपनियों को अग्रिम धन राशि दे सकेगी। इससे कुछ हद तक वित्तीय समन्वय की स्थिति बन सकी। पहले भी सरकार कंपनियों द्वारा रेलवे लाइनों के निर्माण और प्रशासन पर काफी नियंत्रण कर सकती थी और किया भी। वास्तव में यह नियंत्रण जो गारंटी प्रणाली की ही देन था, सीमा से आगे बढ़ गया। यह एक प्रकार से अनावश्यक और असामयिक था। रेलवे बजट सामान्य बजट का ही एक हिस्सा होता था और परिणामस्वरूप, रेलवे की योजनाएं रेलवे की आवश्यकता से नियंत्रित न होकर सामान्य वित्तीय परिस्थितियों से प्रभावित होती थीं। इन परिस्थितियों में रेलवे के विकास की कोई भी सुनिश्चित एवं सुनियोजित दीर्घकालीन योजना नहीं बन सकती थी।

सन् 1900 तक रेलवे के मुख्य नेटवर्क के काम के पूरा होने के बाद के वर्षों में, जब तक कि प्रथम विश्वयुद्ध शुरू हुआ, इस काम को आगे विस्तृत करने और कारगर बनाने की प्रक्रिया चलती ही रही। सन् 1900 से 1914 के मध्य, शाखा और पूरक लाइनों की संपर्क लाइनों के रूप में, 10,000 मील लंबी लाइनों का विस्तार मुख्य रूप से किया गया। प्रशासन में सुधार लाने की दृष्टि से जांच कमेटियां बिठायी गयीं। लेकिन जो बड़ा सुधार हुआ वह था सन् 1905 में रेलवे बोर्ड की स्थापना, जिसने लोक निर्माण विभाग से रेलवे का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया। इस दौरान, जैसे जैसे सरकार के कंपनियों के साथ हुए समझौते समाप्त होते गए, सरकार लाइनों का

नियंत्रण अपने हाथ में लेती गयी। परिणामस्वरूप, सरकार के पास अनेक लाइनों का स्वामित्व आ गया। इसके बावजूद, युद्ध के छिड़ने से पूर्व तक, बहुस्वामित्व और नियंत्रण का तथ्य प्रबल था, यह निम्नांकित आंकड़ों से भी स्पष्ट हो जाता है–

सरकार के प्रशासन और स्वामित्व में लाइनें–	7,231 मील
सरकार के स्वामित्व में परंतु कंपनियों द्वारा नियंत्रित लाइनें–	18,680 मील
देशी रियासतों के स्वामित्व में	3,396 मील
छोटी प्राइवेट कंपनियों के स्वामित्व में	5,349 मील
कुल	34,656 मील

रेलवे के आर्थिक परिणाम

रेलवे ने अपने जीवन के प्रारंभिक दिनों में अनेक विवादों को जन्म दिया है। सिंचाई पहले अथवा रेलवे पहले, गत शताब्दी में यही सर्वाधिक चर्चित विषय था। दूसरा विषय था कि रेलवे का विकास कितनी तेजी से होना चाहिए। क्या लाइनें, जो सबसे पहले बिछायी गयी थीं, देश के हित को ध्यान में रखकर बनायी गयी थीं अथवा राजनैतिक और सैनिक आवश्यकताओं के कारण, यह विवाद का एक अन्य विषय था। रेलवे निर्माताओं का उद्देश्य और नीतियां रेलवे निर्माण में चाहे जो भी हो, रेलवे का वास्तविक रूप में सामाजिक और आर्थिक प्रभाव क्या था ? क्या रेलवे आर्थिक-व्यापारिक संस्थाओं और हितों की संरचना करता था ? अथवा वे उनको नष्ट करने और तितर बितर करने में लगा था ?

पूरे परिप्रेक्ष्य में, रेलवे का सामान्यतः संपूर्ण प्रभाव था और जितने भी प्रतिकूल प्रभाव दिखायी दिये वे सब संयोगवश और अस्थायी थे। सत्यता यही थी कि रेलवे को प्रत्येक परिस्थिति में बढ़ावा ही मिला यहां तक कि 'अकाल बीमा ग्रांट' की कीमत पर भी। लेकिन रेलवे और सिंचाई का विवाद अवास्तविक-सा ही था। जहां तक प्राथमिकताओं की बात है, प्रारंभ की कुछ लाइनें तो सामरिक कारणों से बिछायी गयी थीं। बड़ी लाइनों द्वारा देहात के व्यापारिक केंद्रों और बंदरगाहों में संपर्क जोड़ने का प्रयत्न किया गया। इससे कच्चे माल के निर्यात और मशीन निर्मित उत्पादन के आयात करने में सुविधा हुई। वहन शुल्क का भी ढांचा तैयार हुआ जिससे आंतरिक व्यापार के मुकाबले विदेशी व्यापार को प्रोत्साहन मिला। जब तक उद्योग जैसा कुछ नहीं था तब इसका कोई गंभीर प्रभाव नहीं पड़ा। लेकिन दर-नीति का, जो सन् 1914 तक अपरिवर्तित रही, बाद के औद्योगिक विकास पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। रेलवे की अपेक्षा, वहन शुल्क की दर नीति की अधिक आलोचना हुई। रेलवे का विस्तार देहातों तक हुआ और इस कारण

ग्रामीण समुदाय से काफी समय से चली आ रही सामाजिक-मानसिक दूरी भी समाप्त हुई। जैसा कि वी. एस. नैपाल ने काफी बाद में अपनी पुस्तक *एन एरिया ऑफ डार्कनेस* में लिखा "...बहुत कम लोगों ने इस विशाल संगठन के रोमांस के बारे में लिखा जिसने भारतीय दूरियों को समाप्त कर दिया..." रेलवे की एक आलोचना यह थी कि यह हमारी पारंपरिक नगरीय हस्तशिल्प और ग्रामीण उद्योगों को नष्ट करने के लिए उत्तरदायी थी। यद्यपि रेलवे के आने से पहले के दशकों में ही इन उद्योगों की समाप्ति की प्रक्रिया प्रारंभ हो गई थी। फिर भी, रेलवे ने निश्चित रूप से उस प्रक्रिया में तेजी ला दी। संभवतः रेलवे के विरुद्ध सबसे अधिक तर्कसंगत बात यह है कि इसने समाप्त प्रायः कला और शिल्प के स्थान पर आधुनिक उद्योगों के विकास के लिए कुछ नहीं किया।

लेकिन, रेलवे ने बागान के विकास में काफी सहायता दी। बागान निर्यात-अभिमुख थी, और ऐसे समय में जब वे तेजी से फैलती जा रही थी, रेलवे ने, स्वेज नहर के खुलने के बाद भी, उनके उत्पादन को विदेशी मार्किट तक पहुंचाने में काफी सहायता दी। एक दूसरा उद्योग जिसने समृद्धि की, और बदले में, रेलवे निर्माण को संभव बनाया, वह था कोयला खान। रेलवे के साथ साथ सूती कपड़े पटसन उद्योगों का भी विकास हुआ और बंबई क्षेत्र में सूती कपड़ा उत्पादन केंद्रों और बंगाल में पटसन क्षेत्रों के केंद्रित होने से रेलवे, बंबई और कलकत्ता को, दो प्रधान औद्योगिक केंद्रों के रूप में, विकसित करने में सहायक सिद्ध हुई।

रेलवे निर्माण के निश्चित उद्देश्यों में एक उद्देश्य था अकाल की रोकथाम और रेलवे को अकाल पीड़ा को कम करने में सफलता भी मिली। स्थानीय रूप से वस्तुओं के अभाव और आधिक्य के अंतर को तथा मूल्य विभिन्नताओं को समाप्त करने का काम भी इन्होंने किया और शीघ्र ही कुछ देशी वस्तुओं के स्थानीय मूल्यों पर अंतर्राष्ट्रीय बाजार का प्रभाव दिखाई दिया।

इस प्रकार इसमें कोई संदेह नहीं कि इस देश में आर्थिक परिवर्तन लाने में, जिसकी परिस्थिति व्यापारिक क्रांति में हुई, रेलवे ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

अंत में, प्रश्न पूछा जा सकता है–यह सब उपलब्धि किस कीमत पर हुई ? क्या इस कीमत को कम करना संभव नहीं था ? हमने पहले ही यह तर्क दिया है कि समग्र रूप से रेलवे निर्माण की योजना न्यायसंगत थी फिर भी यह कहा जा सकता है कि अल्पकालीन प्रशासनिक और वित्तीय आवश्यकताओं से मुक्त होकर समायोजित नियंत्रण और प्रबंध तथा एक सुनिश्चित दीर्घकालीन निर्माण योजना के अंतर्गत लागत मूल्य कम किया जा सकता था। कंपनियों में चली अविवेकपूर्ण प्रतिस्पर्धा से समाज के हितों की ही हानि हुई। आलोचकों का मुख्य लक्ष्य रेलवे का वित्तीय प्रभाव ही था। आर. सी. दत्त ने एक सरकारी रिपोर्ट

से उद्धृत करते हुए लिखा है कि सन् 1897-98 के अंत तक रेलवे की कुल हानि 57 करोड़ रुपये तक हो गयी थी। सन् 1900 के बाद, रेलवे ने, अंतकाल में कुछ खराब वर्षों को छोड़कर लाभ कमाना शुरू कर दिया। अकवर्थ कमेटी (सन् 1921) ने एक युद्धोपरांत स्थिति का पूर्वानुमान लगाते हुए सन् 1858 से 1918-19 तक 67 करोड़ रुपये के लाभ के मुकाबले 77 करोड़ रुपये की हानि बताकर कुल 10 करोड़ रुपये की हानि बतायी थी। फिर भी, कमेटी ने पहले के घाटे पर ब्याज के उत्तरदायित्व पर विचार नहीं किया था। इस ब्याज राशि का यदि हिसाब लगाया जाता तो राशि चौंकाने वाली होती। ऐसा लगता था कि, रेलवे वित्त व्यवस्था के समीक्षकों की राय में, रेलवे की अर्थव्यवस्था पर अंतिम निर्णय केवल इन घाटों को जोड़कर ही दिया जा सकता है। यह एक विवादास्पद विषय है जिसका केवल ऐतिहासिक महत्व है।

नवें दशक में विनिमय के नुकसान काफी भारी थे। रेलवे के अनुबंध तब किये गये जब विनिमय की दर एक शिलिंग 10 पेंस थी। सन् 1892 में रुपया-स्टर्लिंग समानता दर गिर कर 1 शिलिंग 4 पेंस रह गयी और सरकार का स्टर्लिंग दायित्व आनुपातिक रूप से बढ़ गया। इस दर पर स्टर्लिंग दायित्वों का लाभ 5.43 प्रतिशत आया।

सन् 1900 के बाद, चले आ रहे पुराने विवादों और आलोचनाओं को समाप्त करते हुए रेलवे की वित्त व्यवस्था में विशेष परिवर्तन आया। रेलवे पर कुल लागत व्यय सन् 1870 में जब 100 करोड़ रुपये के लगभग था तो यह शताब्दी के बदलने के समय (सन् 1900-1901) तक बढ़कर 329 करोड़ रुपये हो गया था, और सन् 1913-14 में यह 495 करोड़ रुपये तक पहुंच गया था। अधिकांश रूप से यह पूंजी विदेशी विनियोजकों से मिली। लागत व्यय पर रेलवे की कुल आय सन् 1900-1901 में 5 प्रतिशत हुई और सन् 1913-14 में 6.2 प्रतिशत। युद्ध शुरू होने से पूर्व 6,33,000 व्यक्तियों के स्टाफ के साथ रेलवे सबसे बड़ी अकेली नियोजक संस्था के रूप में उभरी। (संभवतः चाय बागान में भी अधिक व्यक्ति काम कर रहे थे परंतु वे प्रत्यक्ष और निरंतर रूप से नहीं रहते थे)। इस संख्या में 8000 यूरोपियन, 10,000 से अधिक एंग्लो-इंडियन, और शेष भारतीय थे। युद्ध पूव के वर्षों में रेलवे ही सब से बड़ा व्यापारिक संस्थान था।

युद्ध ने एक ऐसा वातावरण उत्पन्न किया जिसमें रेलवे का कार्यक्रम, नीति और वित्त व्यवस्था ने एक नया रूप धारण किया। इसकी चर्चा आगे के अध्याय में की जायेगी।

कोयला खनन

सभी आधुनिक मैकेनिकल कामों के लिए एक प्रेरक शक्ति की आवश्यकता होती है जो शारीरिक अथवा पशु श्रम से पूरी नहीं की जा सकती। बहुमात्रा में फैक्ट्री उत्पादन तथा रेलवे एवं अन्य परिवहन साधनों के विस्तार के लिए शक्ति का पर्याप्त और विश्वसनीय साधन एक अत्यावश्यक पूर्वस्थिति है। ब्रिटेन और यूरोप में कोयला, भाप और इसके बाद के मैकेनिकल कार्य ही औद्योगिक क्रांति के प्रमुख प्रवर्तक थे। ऐसे समय में जब भारत में तेल और बिजली का विकास नहीं हुआ था, शक्ति उत्पादन के लिए कोयला ही ईंधन का मुख्य साधन था और यह आज भी है। भारत में इमारती लकड़ी की प्रचुरता नहीं थी जो औद्योगिक शक्ति का साधन बन सकती।

समय रहते, यूरोप में कोयले और रेलवे का विकास, औद्योगीकरण से पहले ही हो गया था और कोयला खानों के बाद रेलवे निर्माण का काम हुआ। भारत में, यद्यपि यह प्रक्रिया उल्टी चली। भारत के दो प्रमुख उद्योग, सूती कपड़ा और रेलवे, कोयले खान के महत्वपूर्ण उद्योग की स्थिति प्राप्त करने से पहले ही, अपना स्थान बना चुके थे। जो कोयले के बारे में सत्य है, वही लोहे और इस्पात के बारे में सत्य है यद्यपि ये उद्योगों की शृंखला में बहुत बाद में आये। भारत और यूरोप के आर्थिक विकास के ये विरोधाभास विकास प्रक्रिया के तुलनात्मक अध्ययन के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं।

आरंभिक इतिहास

कोयले की जानकारी भारतीयों को युगों युगों से थी। यह भी मालूम था कि कोयले की खानें पूरे देश में बिखरे रूप में हैं लेकिन उनके सही स्थान, उनके आकार और मात्रा के बारे में कोई जानकारी किसी को नहीं थी। यूरोपियनों के भारत में आने से पहले तक यहां पर कोयला खदान का काम एक प्रकार से अनजान सा था। वे भी यहां पर 200 वर्षों तक उदासी से ही रहे यद्यपि उनके यहां कोयले का उद्योग एक सफल उद्योग था। ईस्ट इंडिया कंपनी को देशी उत्पादन की संभावनाओं का पता लगाने की अपेक्षा इंग्लैंड से कोयले को लाना अधिक सुविधाजनक लगा। 18वीं शताब्दी की समाप्ति से पहले ही कंपनी के अधिकारियों ने स्थानीय खदानों में रुचि लेनी शुरू कर दी। धीरे धीरे स्थानीय संभावनाओं में रुचि विकसित हुई। कोयले के आयात में होने वाले खर्च को भी महसूस किया जाने लगा। अनिवार्यतः शुरू शुरू में उत्पादन कम स्तर पर था और उपलब्ध कोयला भी घटिया स्तर का था। कोयले की मांग भी उस समय मुख्यतः कुछ भाप चालित इंजनों के लिए ही थी और परिणामस्वरूप शीघ्र विस्तार का कोई

प्रलोभन नहीं था।

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में, लार्ड मिंटो के शासनकाल में, कोयले की स्थानीय खोज की संभावनाओं के विचार को बढ़ावा दिया गया। उसने देशी कोयले की गुणवत्ता जांच के लिए कुछ टैस्ट निर्धारित किये। इन टैस्टों के परिणाम नकारात्मक निकले और बाद में यह भी मालूम हुआ कि कोयले के नमूने ठीक से नहीं लिये गये थे। इसी दौरान, स्थानीय निर्माण के लिए बंगाल के कोयले का प्रयोग किया जा रहा था। इसलिए सन् 1815 में अधिक व्यवस्थित रूप से टैस्ट किये गये और यह सिद्ध किया कि जिन उद्देश्यों के लिए इंगलिश कोयला निर्यात किया जा रहा था उन उद्देश्यों के लिये देशी कोयला भी उतना ही अच्छा था। स्पार्ट जोन्स, जिसने ये टैस्ट किये थे, को बंगाल की खानों में काम करने के लिए आसान शर्तों पर अग्रिम ऋण और लाइसेंस दिया गया। यह प्रयत्न असफल रहा लेकिन शीघ्र ही कलकत्ता में अनेक फर्मों की स्थापना हो गयी। भारत में पहली नियमित खान 'रानीगंज' में सन् 1820 में खोली गयी।

अगले 20 वर्षों में कोई खान नहीं खोली गयी। रानीगंज खान का उत्पादन उस समय 36,000 टन था। सन् 1840 से सन् 1854 के दौरान तीन और खानें खोली गयी। रेलवे लाइन के बिछने से कोयले के लाने ले जाने में सुविधा हुई और इससे कोयले का मार्किट भी बना। सन् 1854 में ईस्ट इंडियन रेलवे, जो बंगाल के कोयला क्षेत्रों से निकाली गयी थी, के शुरू होने से कोयला उद्योग को प्रोत्साहन मिला। बाद के वर्षो में नये क्षेत्र खोले गये। प्रगति की गति, फिर भी, धीमी ही रही जब तक कि कलकत्ता में जूट मिलें नहीं खोली गयीं।

क्षिप्र प्रगति

सन 1860 के बाद, कोयला उत्पादन की प्रगति में तेजी आयी और समृद्धि का मार्ग सुनिश्चित हुआ। सन् 1854 में कलकत्ता-रानीगंज रेलवे लाइन का खुलना समयानुकूल था। सन् 1870 तक रानीगंज कोयला क्षेत्र का उपयोग हुआ था। इसके बाद नये क्षेत्र खोले गये। इनमें मध्य प्रांत के मोहपानी क्षेत्र और बंगाल के करहरबाड़ी क्षेत्र भी सम्मिलित थे। जिनमें सन् 1870 में उत्पादन प्रारंभ हो गया था। मोहपानी क्षेत्र से तो कभी भी अधिक उत्पादन नहीं हो पाया परंतु करहरबाड़ी एक मुख्य उत्पादक क्षेत्र के रूप में उभरा। अगले कुछ वर्षो में, मध्य प्रांत में वरोरा खानें खोली गयीं और इनसे ग्रेट इंडियन पेनिंसुला रेलवे की आवश्यकताओं की आंशिक रूप से पूर्ति हुई। पूरे तौर पर, रानीगंज से बाहर की खानो का योगदान फीका ही रहा और अनेक वर्षों तक यही स्थिति रही। सन् 1879-80 में रानीगंज में 56 खानें थीं लेकिन उपरोक्त खानों के अतिरिक्त अन्य कोई नयी खान नहीं खोदी गयी। अगले 30 वर्षों में विश्वयुद्ध छिड़ने तक, रानीगंज

क्षेत्रों से बाहर बंगाल क्षेत्र के अनुरूप ही, खानों की संख्या में वृद्धि हुई लेकिन इससे बंगाल की शीर्ष स्थिति में कोई अंतर नहीं आया। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 3.1
कोयला खानों में बंगाल का भाग

वर्ष	*कोयला खानों की कुल संख्या*	*बंगाल में खानों की कुल संख्या*
1885	95	90
1900	286	271
1906	307	274

उत्पादन का लगभग 90 प्रतिशत बंगाल की खानों से ही था। बाद में जो महत्वपूर्ण खानें खुलीं, वे झरिया और गिरीडीह में थीं जिसमें से झरिया खान ने रानीगंज की खान को भी निष्प्रभ कर दिया। इसके बाद बंगाल से बाहर, हैदराबाद में सिंगरेणी, असम में मकुम और मध्य भारत में कुछ अन्य मुख्य कोयला क्षेत्रों का प्रयोग हुआ।

स्वेज़ नहर के खुलने के कारण महसूस हुए अस्थायी झटकों को छोड़कर इन वर्षों में कोयले का उत्पादन नियमित रूप से बढ़ता ही गया। इस उद्योग के प्रथम 50 वर्षों में हुई अप्रत्याशित विकास की झलक निम्नांकित तालिका से मिलती है–

तालिका 3.2
कोयला उत्पादन

	(लाख टन)
1858	2.9
1868	4.6
1878	9.2
1890	21.7
1898	46.0
1904	83.5
1914	157.4

सन् 1904 के बाद भारतीय कोयले का उत्पादन स्तर कनाडा और आस्ट्रेलिया से भी कहीं अधिक हुआ। कोयले की मांग के कारण, विशेषकर रेलवे में, कोयले का आयात शुरू शुरू में बढ़ता रहा और स्थानीय उत्पादन को भी पीछे छोड़ गया। कोयला खानों की असंतुलित क्षेत्रीयता के कारण भी आयात की आवश्यकता थी। रेलवे की कुछ संस्थाएं सुदूर बंगाल में स्थित कोयला खानों से सुविधापूर्वक

कोयला नहीं ले सकीं और बंबई की बढ़ती हुई ईंधन की आवश्यकताएं स्थानीय रूप से पूरी न हो सकीं। ऐसे में रेलवे की उचित दर नीति एक सकारात्मक भूमिका निभा सकती थी। रेलवे की माल ढुलाई की दरें काफी ऊंची थीं यद्यपि जहाजरानी की दरें भी कम भारी नहीं थीं। अधिकतम आयात का निर्दिष्ट स्थान बंबई और पश्चिमी भारत ही होता था। लेकिन शताब्दी के अंत तक आयात में कमी होती गयी तथा सन् 1900 के बाद यह कभी तीव्रता से हुई। सन् 1880 में 6 लाख टन से बढ़कर सन् 1888 में यह 9 लाख टन तक पहुंच गया था लेकिन पांच वर्ष बाद यह घटकर 6 लाख टन तक रह गया और सन् 1903 में यह केवल कुछ लाख टन तक था। सन् 1897-1907 के दशक में नियति दो लाख टन से लगभग दस लाख टन तक बढ़ गया। ऐसा लगता था जैसे भारतीय कोयले का विदेशों में काफी लाभप्रद मार्किट था। लेकिन, सन् 1908 के बाद निर्यात में कमी हुई और आयात में वृद्धि। यद्यपि तब तक निर्यात की अपेक्षा आयात कुछ कम ही था। इससे स्पष्ट था कि कोयला उत्पादन से कोयला उपभोक्ता उद्यमियों की आवश्यकता अधिक हो गयी थी। रेलवे अभी भी मुख्य उपभोक्ता था और सन् 1902 तक उनका विदेशी कोयले का उपभोग लगभग शून्य हो गया था। लेकिन सन् 1908 के बाद इसमें कुछ वृद्धि हुई, और सन् 1908-14 के वर्षों के बाद, रेलवे द्वारा देशी कोयले के उपभोग के अनुपात में 95 प्रतिशत तक गिरावट आयी। देश में कुल कोयला उत्पादन की तुलना में रेलवे द्वारा कोयला उपभोग के अनुपात में इसी प्रकार की समान गतिविधि थी। सन् 1895 में, यह 38 प्रतिशत तक ऊंचा था लेकिन सन् 1906 में यह 30 प्रतिशत तक गिर गया और सन् 1909-13 के दौरान, यह किंचित मात्र, 31 प्रतिशत तक बढ़ा।

इस प्रकार दो तथ्य ध्यान देने योग्य थे (1) रेलवे अन्य कोयला उपभोक्ता उद्यमों की तुलना में अधिक कोयला प्रयोग कर रहा था, और (2) कोयले की कुल मांग कोयला उत्पादन से बढ़ती जा रही थी। यह 19वीं शताब्दी के अंतिम बीस वर्षों के अनुभवों के बिल्कुल विपरीत था जब रेलवे आवश्यक गाड़ियों की उपलब्धि कोयले के उत्पादन और परिवहन के साथ तालमेल रखकर नहीं कर सकती थी।

उत्पादन में वृद्धि के अनुसार ही कोयला खानों की संख्या और इस उद्योग में नियुक्त कर्मचारियों की संख्या में भी वृद्धि हुई। सन् 1880 में, इस उद्योग में 20,000 व्यक्ति नियुक्त थे। आगामी 25 वर्षों में यह संख्या एक लाख तक पहुंची और सन् 1914 में डेढ़ लाख से भी अधिक हो गयी। इस संख्या का लगभग पांचवां भाग महिलाएं और 12 वर्ष से कम की आयु के बच्चे थे। इसके अतिरिक्त 12-16 वर्ष की आयु वर्ग में बच्चों की संख्या काफी थी। प्रायः श्रमिक बोरी और संथाल जनजातियों से संबंधित थे।

कोयला उद्योग की समस्याएं

उद्योग की इस असंभावित विकास की पृष्ठभूमि में इसकी सीमाओं और कमियों को भी देखा जाना चाहिए। कोयला भंडारों के क्षेत्रीय असंतुलन पर हमने अभी चर्चा की। अधिकांश भंडार, बंगाल और उड़ीसा, मध्य भारत और मध्य प्रांतों के पूर्व से पश्चिम तक फैले 'गोंडवाना' क्षेत्र में केंद्रित थे। प्रयोग में असंतुलन बहुत अधिक था। अधिकतम कोयले का उत्पादन, समुद्री बंदरगाहों और रेलवे लाइनों की समीपता के कारण, पेनिंसुलर भारत में गोंडवाना क्षेत्रों से ही था।

भारतीय कोयला सबसे सस्ता था परंतु इसकी गुणवत्ता को देखते हुए यह अधिक लाभप्रद नहीं था। कोयले की कीमत दो बातों पर निर्भर थी–(1) श्रम की उत्पादकता और (2) कोयले की विशेषताएं। सामान्यतः खदान परिस्थितियां अनुकूल थीं। इनकी सीवन बहुत घनी थी और खानें छिछली। इसके बावजूद, भारत में उत्पादकता की दर, प्रति व्यक्ति 75 टन, संसार में संभवतः सबसे कम थी। ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य देशों में यह लगभग 280 टन थी। भारत में व्यावसायिक जोखिम की दर भी, जिसमें चोट लगना और मृत्यु होना शामिल था, तुलनात्मक रूप में भारत में कम ही थी। लेकिन खदान के तरीके भी अधिक आधुनिक नहीं थे। सर्वत्र प्रयुक्त 'बोर्ड तथा पीलर' की प्रणाली फिजूलखर्च वाली थी। कार्यप्रणाली भी मुख्य रूप से श्रम निर्देशित थी और युद्ध समाप्ति के बाद तक भी विद्युत उपकरणों और कोयला काटने की मशीनों का उपयोग नहीं हुआ था। प्रयोग में आने वाली थोड़ी बहुत मशीनों पुराने ढंग की थीं और उनका भी उचित और पर्याप्त प्रयोग नहीं होता था। श्रमिकों का चयन सामान्यतः किसान वर्गों से होता था जो कृषि से खाली दिनों में खानों में काम खोजते थे। अनुपस्थिति का डर बहुत अधिक था।

कोयले की विशेषताओं को दो विभिन्न भूगर्भीय समूहों में विभक्त किया जा सकता है–(1) गोंडवाना कोयला-क्षेत्र और (2) क्रेटेशियस तथा असम-राजस्थान के टरशीयरी क्षेत्र। दूसरे प्रकार वर्ग समूह के कोयले में वाष्पशील हाइड्रोकार्बन और नमी की मात्रा अधिक थी। लेकिन इसमें राख का तत्व कम था और ऊष्मीयता अधिक। यद्यपि विशेषताओं का अंतर न केवल खदान प्रणालियों में था वरन् प्रत्येक खान में था और यहां तक कि प्रत्येक सीवन में था। राख और नमी कोयले की दो कमियां हैं और ये भारतीय कोयले में बहुत अधिक और विभिन्न रूपों में होती है। कोयले में कार्बन का प्रतिशत कभी भी 60 से ऊपर नहीं गया और इंगलिश कोयले में 68 प्रतिशत की तुलना में तो यह औसतन 52 तक ही रहा। राख के तत्व का औसत 10 से 30 प्रतिशत तक था जबकि इंगलिश कोयले में 3 प्रतिशत। इन कमियों ने पर्याप्त कोक-कोयले, जो धातुकर्मी उद्योगों का मुख्य

आधार था, की प्राप्ति में आनेवाली कठिनाइयों की ओर ध्यान दिलाया। भारत का लौह उद्योग भी अभी अपने शैशवकाल में ही था। इसकी आवश्यकताएं भी कम थीं और स्थानीय कोयले के सस्तेपन ने कोक-कोयले की मूलभूत कमी को काफी सीमा तक पूरा भी किया। लेकिन सीमित धातुकर्मी संसाधनों को सुरक्षित रखने की सर्वोपरि आवश्यकता स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही थी।

रानीगंज, झरिया और गिरीडीह खानों ने कोक उत्पादन किया और उनका उत्पादन वर्तमान शताब्दी के शुरू के वर्षों में सवा लाख से भी अधिक था। अकेले रानीगंज से ही दो-तिहाई का उत्पादन हुआ। कोयला अवशिष्ट का उचित उपयोग करते हुए, नाइट्रोजन जैसे महत्वपूर्ण उप-उत्पादनों से अतिरिक्त कमाने योग्य और धातुकर्मीय उद्योगों की आधारशिला बनाते हुए यह एक महत्वपूर्ण उद्योग की केवल शुरुआत थी।

कोयला ही एक दूसरा उद्योग था जो यूरोपियनों द्वारा निर्मित, नियंत्रित और अधिकृत था। कलकत्ता की प्रबंधक एजेंसी फर्में ही सर्वश्रेष्ठ विशालतम खानों का संचालन करती थीं। एक अनुमान के अनुसार सन् 1904 में, कोयले का 82 प्रतिशत उत्पादन यूरोपियन कंपनियों द्वारा होता था जिसमें कुल का 31 प्रतिशत बड़ी चार कम्पनियों के पास था। भारतीयकरण की प्रक्रिया बहुत धीमी थी। भारतीयों के पास सामान्यतः छोटी और घटिया किस्म की खानें थीं। सन् 1911 में बंगाल में भारतीयों के स्वामित्व की केवल 6 की तुलना में यूरोपियों अथवा ऐंग्लो-इंडियनों के स्वामित्व में 53 कंपनियां थीं। इसी क्रम में यह संख्या बिहार-उड़ीसा में 5 और 80 थी। दूसरी ओर, बंगाल में यूरोपियनों की सात की तुलना में प्राइवेट भारतीयों की कंपनियां 43 थी, जबकि बिहार उड़ीसा में यह संख्या 6 की तुलना में 99 थी।

कोयला खानों में ज्वाइन्ट स्टाक कंपनियों को प्रदत्त पूंजी सन् 1914 में अनुमानतः 6.7 करोड़ रुपये थी।

कंपनियों के संगठन और प्रबंध की कई कारणों से आलोचना हुई। यह देखा गया कि कलकत्ता के व्यापारी ही प्रबंधक एजेंट थे जिनकी खानों में सीधी कोई रुचि नहीं थी। वे कमीशन बहुत अधिक लेते थे। लेकिन विकास और उचित देखभाल की ओर कोई ध्यान नहीं देते थे। कोयला खदान एक प्रकार से असंगठित प्रकार का उद्योग था यद्यपि इसकी कार्यप्रणाली को देखते हुए यह स्वाभाविक और अनिवार्य-सा था। बागान की अपेक्षा इसमें मशीनों के अधिक उपयोग के बावजूद, कोयला खदान के काम को फैक्ट्री प्रणाली के रूप में कम संरक्षण प्राप्त था।

लौह एवं इस्पात उद्योग

लोहा और इस्पात का निर्माण आधुनिक औद्योगिक संरचना की आधारशिला है। यदि कपड़ा उद्योग औद्योगिक क्रांति से पूर्व की औद्योगिक व्यवस्था का आधार और शीर्ष चिह्न था तो इस्पात उद्योग का महत्व भी आधुनिक समय में कम नहीं है। यद्यपि कोयले की भांति इस्पात ने भी भारत में विकास की कोई क्रमबद्ध रूपरेखा नहीं रखी। इसका कारण था भारत का आगमन दृश्यपटल पर काफी देर से हुआ, और इतिहास भी साक्षी है कि इस्पात का विकास इंग्लैंड के साथ जुड़े संपर्कों से प्रभावित होकर हुआ। भारत का आर्थिक विकास मूलरूप में ब्रिटेन के विकास के पूरक और सह-उत्पादन के रूप में हुआ। परिणामस्वरूप, भारत के औद्योगिक विकास में एक तार्किकता और परिप्रेक्ष्य का अभाव था। यह भारत के लोहा और इस्पात उद्योग विकास में जितना सत्य था उतना कहीं और नहीं। यदि रेलवे ने अपने विकास के लिए स्थानीय कोयला खानों के खुलने की प्रतीक्षा नहीं की तो इस देश में लोहा और इस्पात उद्योग के अभाव के कारण कोई हानि भी उठानी नहीं पड़ी। रेलवे के लिए कोयला, रेल लाइनों और वैगनों को, तथा कपड़ा उद्योग के लिए मशीनों और हर तरह के मशीनी उपकरणों की प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति इंग्लैंड से लाये गये सामानों से की गयी। इससे देश को दोहरी हानि हुई। कोयले और लोहे पर आधारित औद्योगीकरण की प्रक्रिया में कमी आयी। और आयातित मशीनरी पर आधारित उद्योग विदेशी प्रतियोगिता में जम नहीं सके।

प्रारंभिक इतिहास

भारत में लोहा उद्योग का इतिहास काफी प्राचीन एवं भव्य रहा है। कहा जाता है कि 480 ई. पू. हुई थर्मोपायले के युद्ध में जैरेक्सस, अपनी सेना में भारतीय तीरंदाज रखे हुए थे जो भारतीय लोहे की नोक वाले तीरों का प्रयोग करते थे। हमने पहले ही पांचवीं शताब्दी में बने दिल्ली के लौह स्तंभ का जिक्र किया है—जो प्राचीन समय में ढाला गया लोहे का विशालतम स्तंभ है। भारत का वूटज लोहा हजारों वर्षों तक प्रसिद्ध रहा और शक्ति, सुंदरता और लचीलेपन के लिए प्रसिद्ध दमिश्क के ब्लेडों के निर्माण के लिए इसका निर्यात किया जाता था। लोहा निर्माण में यह प्रमुखता मध्यकाल तक बनी रही और 17वीं-18वीं शताब्दियों तक इसका प्रभाव स्पष्ट रहा। यद्यपि यह उद्योग लघुस्तरीय ग्रामीण शिल्प तक ही सीमित रहा और 19वीं शताब्दी के मध्य में यूरोप में जब आधुनिक टेक्नोलौजी का प्रचलन हुआ, यह भी, भारत के अन्य प्राचीन शिल्पों की भांति अपनी अलग जगह नहीं बना सका।

19वीं शताब्दी में आधुनिक तरीके से लोहा और इस्पात निर्माण के अनेक साहसपूर्ण कदम उठाये गये। पूरे भारत में कच्चे लोहे के विशाल भंडारों का विस्तार सर्वप्रसिद्ध था। लेकिन 19वीं शताब्दी के अंत तक भी इनके आसपास कहीं कोई कोयला खान नहीं खोली गयी। लोहा और इस्पात निर्माण के शुरू में किये प्रयास लकड़ी के कोयले पर आधारित थे। अतः इनका असफल होना निश्चित था। क्योंकि किसी भी आधुनिक विशाल-स्तरीय उद्योग को लकड़ी के कोयले पर जीवित रखना एक असंभव कार्य था और लकड़ी का कोयला भी बहुतायत में नहीं था। सबसे पहला उद्यम सन् 1777 में लगा जब फारकूहा तथा मौट्टे ने झरिया कोयला खान के क्षेत्र में कोयला पिघलाने का काम प्रारंभ किया। कच्चे लोहे को पिघलाने का दूसरा प्रयास सन् 1815 के आसपास ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारी श्री हीथ ने किया। हीथ इंग्लैंड गये और शैफील्ड में लौह निर्माण के कार्य का अध्ययन किया। सर रॉबर्ट हेडफील्ड इन्हें निर्माण के दौरान कच्चे मैंगनीज और लोहे की मिश्रण प्रक्रिया के आविष्कारक आश्रय देते हैं। हीथ ने, जिनको सरकारी सहायता भी मिल रही थी और जो अपने धैर्य के लिए प्रसिद्ध थे, मद्रास प्रेसीडेंसी में, मालाबार समुद्र तट पर पोर्टो नोवो से लेकर बेपुर तक, पांच स्थानों से काम शुरू किया। लेकिन अच्छे ढंग से काम केवल इन्हीं दो स्थानों पर शुरू हुआ। आसार अच्छे दिखाई दिये। उत्पादित लोहे को उच्च कोटि का बताया गया और इंग्लैंड में इसका मार्किट तैयार था। यद्यपि उत्पादन जारी रहा लेकिन ये उद्यम वित्तीय रूप से सफलता प्राप्त नहीं कर सके। हीथ पर कंपनी का ऋण बढ़ता ही गया। सन् 1854 में इन उद्यमों को चलाने के लिए ईस्ट इंडिया आयरन कंपनी बनाई गई। इससे भी स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ और लोहा पिघलाने के उद्योग के इतिहास का एक और अध्याय अंततः समाप्त हो गया। इस कंपनी का जो कुछ भी शेष बचा वह सन् 1874 में सरकार ने अपने हाथ में लिया।

स्थानीय तौर पर उत्पादित लोहा उच्च कोटि का होने तथा स्वामियों की निश्चित निष्ठा, समर्पण और धैर्य के बावजूद सभी प्रकार के प्रयास असफल रहे। जैसा कि बाद के शोधों से मालूम हुआ। इनकी मूलभूत कठिनाइयां थीं उद्यमियों के पास अनुभवों का अभाव, दोषपूर्ण मशीनों का प्रयोग, और अपर्याप्त पूंजी। और तब सन् 1850 के बाद, यूरोप और अमेरिका में इस्पात टेक्नोलौजी में इस तरह का आमूल-चूल परिवर्तन आया कि प्रारंभिक प्रक्रियाओं पर आधारित सभी प्रयत्न पुराने हो गये। लकड़ी से कोयले को ईंधन के रूप में प्रयोग कर लघु-स्तरीय उत्पादन की व्यर्थता इन आधुनिक विकासों के कारण और भी स्पष्ट हो गयी।

बाद के लौह उत्पादनों में बंगाल आयरन वर्क्स कंपनी का बाराकर वर्क्स उल्लेखनीय था। इसका जीवनकाल काफी लंबा और वैविध्यपूर्ण था परंतु अंत में इसे काफी सफलता भी मिली। सन् 1874 में बनी कंपनी ने कुलटी नामक

स्थान पर कारखाने बनाये। इसके पास प्रत्येक 20 टन ढलवा लोहा प्रतिदिन उत्पादन क्षमता की दो भट्ठियां थीं। इस कारखाने में प्रचलित विस्फोट भट्ठी पद्धति पुरानी पड़ गयी थी इसमें पिघलाये गये लोहे में इतना फास्फोरस होता था कि यह छितवा लोहे अथवा इस्पात में परिवर्तित नहीं हो सकता था। पूरे रूप में देखा जाये तो उत्पादन अक्षम था और उत्पादन मूल्य बहुत अधिक।

प्रचलित मानकों के अनुसार काफी अधिक व्यय वाली पुनर्स्थापना की योजनाएं बनायी गयीं लेकिन व्यवस्थापकों के लिए सरकारी सहायता के बिना वित्तीय भार को सहन करना कठिन लगा। सरकारी सहायता मिल नहीं रही थी। इस दौरान जब तक कि सन् 1882 में सरकार ने कामों का अधिग्रहण नहीं कर लिया स्थिति में गिरावट आती गयी। सरकार ने इन्हें अगले आठ वर्षों तक चलाया और बाद में बंगाल में आयरन एंड स्टील कंपनी को बेच दिया जिसने इसे मैसर्स एस. मार्टिन एंड कं. की व्यवस्थापक एजेंसी के अंतर्गत नया रूप दिया। शताब्दी के बदलते बदलते कंपनी अपनी दो विस्फोट भट्ठियों से प्रत्येक वर्ष 35,000 टन ढलवां लोहे का निर्माण कर रही थी। सन् 1903 के बाद तीसरी भट्ठी भी लगा दी गयी और वार्षिक क्षमता 75,000 टन हो गयी। इस प्रकार उत्पादन में काफी वृद्धि हुई और सन् 1905 में यह 97,000 से भी ऊपर हो गयी। कोक भट्ठी की क्षमता अब 40,000 टन प्रति वर्ष कोक की थी। ढलाई घरों में अब स्लीपर, पाइप तथा दूसरी ढलवां वस्तुएं बनने लगी थीं। सरकार भी कंपनी को अपना आदेश देकर, सक्रिय रूप से कंपनी की सहायता कर रही थी। सरकार ने सन् 1903 में अनुदान भी दिया जिसमे कंपनी इस्पात निर्माण के उपकरण लगा सके। लेकिन इस्पात निर्माण का यह पहला भारतीय प्रयास ही हानिकर रहा और इसीलिए इसे छोड़ना पड़ा। लेकिन ढलवां लोहे के उत्पादन के रूप में कंपनी युद्ध के वर्षों तक और युद्ध के वर्षों के दौरान भी प्रगति करती रही।

भारतीय इस्पात के प्रवर्तक

भारतीय इस्पात उद्योग की कहानी निराशाजनक रहती यदि जमशेद जी टाटा के प्रवर्तक एवं सावधिक कदम न उठते जिनका उद्यम समय के साथ साथ एक सफल एकीकृत लोहा और इस्पात संकुल के रूप में विकसित हुआ। टाटा के प्रयत्न और उनकी दूरदृष्टि ही प्रशंसनीय नहीं थे, वरन् वर्षों की उनकी मेहनत और उनकी स्थिरता एवं दृढ़निश्चय भी सराहनीय थे। इन्होंने एक नयी दिशा में अनुसंधान किये और नयी ज्योति प्रज्वलित की और वह दिशा थी इस्पात निर्माण का मौलिक उद्योग। यह एक वास्तविक स्वदेशी प्रेम की बात थी। बागान, रेलवे, कोयला, और जूट उद्योग के विपरीत जिन पर पूरी तरह यूरोपियनों का आधिपत्य था, लोहा और सूती कपड़ा उद्योग सच्चे रूप में स्वदेशी थे। सूती कपड़ा उद्योग

की शुरुआत बहुत पहले हो गयी थी और जब भारत में पहले लोहा उद्योग की रूपरेखा ही विचाराधीन थी, कपड़ा उद्योग तब तक एक व्यापक और बड़े उद्योग के रूप में जम चुका था। इसके बावजूद, यह स्वदेशी भावना को उतनी अधिक अच्छी तरह से और प्रभावशाली ढंग से नहीं उभार सका जितनी टाटा के इस अकेले उद्योग ने कर दिखाया। जब कपड़े की पहली मिल शुरू की गयी तो भारत में आधुनिक फैक्ट्री का उत्पादन एक नयी बात थी। लेकिन कपड़ा उद्योग की प्रौद्योगिकी में पहले की अपेक्षा इतना अधिक आमूल चूल परिवर्तन नहीं था जितना इस्पात उद्योग प्रौद्योगिकी में। फिर भी, कपड़ा उद्योग छितरे प्रयत्नों से, जिसमें कम से कम जोखिम और कम पूंजी निवेश हो, विकसित होती रही। इसमें अब नयी खोज के लिए नया कुछ शेष नहीं था, प्रयोग करने के लिए नया कुछ समाधान भी अपरिचित नहीं था, सुलझाने के लिए वित्त और संगठन संबंधी भी कोई मौलिक समस्या नहीं रही थी। जमशेद जी टाटा के स्वप्न और उसके साकार होने की स्थिति का संक्षेप उल्लेख करना आवश्यक है, केवल इसीलिए नहीं कि ये भारत में इस्पात निर्माण के जन्मदाता थे वरन् इसलिए भी कि लगभग आधी शताब्दी तक का टाटा उद्योग का इतिहास ही भारतीय इस्पात उद्योग का इतिहास रहा है। इतना ही महत्वपूर्ण यह तथ्य है कि टाटा की सफलता में सदा के लिए उन गलत अवधारणाओं को समाप्त कर दिया जो मुख्यतः ब्रिटेनवासियों ने ही, भारतीय लोगों की किसी नये उद्योग को शुरू करने की योग्यता, पूंजी की उपलब्धता और उसके निवेश के लिए मानसिक तैयारी के बारे में, फैलायी थीं। वेलेंटाईन करोल ने टाटा के साहस के बारे में कहा था, "बंबई को सूती कपड़ा मिल, कलकत्ता के जूट मिल, मैसूर की सोने की खानें, प्रत्येक ने भारत के औद्योगिक इतिहास में एक महत्वपूर्ण अध्याय का योगदान दिया, लेकिन जमशेदपुर के लोहा इस्पात उद्योग विकास गाथा के प्रेम प्रसंगों की कोई तुलना नहीं कर सकता।"

टाटा एक सच्चे उद्यमी के सांचे में ढले थे। नवयुवक के रूप में ही उनकी कल्पना में भावी औद्योगिक विकास के आधार के रूप में भारत में लोहा उद्योग ही था। जब कपड़ा उद्योग में उनके परिवार को सफलता मिली, तब उन्होंने, पहली शताब्दी के सातवें दशक के प्रारंभ में, अपने स्वप्न को साकार करने के लिए कदम उठाए। ढलवां लोहा बनाने के सारे प्रयत्न विफल हो चुके थे क्योंकि वे सब लकड़ी के कोयले पर आधारित थे। टाटा ने महसूस किया कि इस्पात निर्माण को पक्का और सुसंगठित करने के लिए कोयला और लोहा उद्योगों की स्थापना पास पास करनी आवश्यक है। उनको मध्य प्रांतों के जिला चंदा में, लोहा निर्माण की संभावनाओं पर किये गये एक जर्मन भूगर्भशास्त्री, श्वारज की रिपोर्ट से भी प्रोत्साहन मिला। खोज करने पर टाटा ने पाया कि लोहारू के कच्चे लोहे के भंडारों पर काम करना कठिन है। भारतीयों के इन अग्रणी प्रयत्नों के प्रति

प्रशासन का रवैया भी इतना अधिक सहानुभूतिपूर्ण नहीं था, खदान संबंधी नियम प्रतिबंधात्मक थे, और अंत में देखा गया कि पास ही वरोरा की कोयले की सीवनें कोक बनाने के लिए उपयुक्त नहीं थी।

दृढ़ निश्चयी टाटा ने अपने प्रयत्न जारी रखे। बंगाल और बिहार में इस्पात कारखाने स्थापित करने की संभावनाओं पर विचार करने के लिए टाटा ने अपने खर्च पर देश में विदेशी विशेषज्ञ बुलाये। लगातार असफलताओं के बावजूद, कुछ विशेषज्ञ आशावादी थे कि भारत में एक सुगठित इस्पात उद्योग का निर्माण करना संभव है। ऐसे एक विशेषज्ञ थे जनरल महोन, एक आर्टिलरी ऑफिसर, इनकी भारत में इस्पात उद्योग संबंधी एक उल्लेखनीय रिपोर्ट सन् 1899 में आयी। टाटा ने उसी समय इसका ध्यानपूर्वक अध्ययन किया। सन् 1900 में अपनी इंग्लैंड यात्रा के दौरान, उन्होंने भारत के मामलों के मंत्री पर विशेष रूप से जोर डाला कि सरकार को अपनी योजनाओं में पूर्ण रूप से परिवर्तन की आवश्यकता है। भारत में लार्ड कर्जन के प्रशासन के दौरान खान लाइसेंसों, भूमिपट्टों आदि के नियमों में परिवर्तन हो रहे थे। स्वदेश लौटने से पूर्व टाटा जर्मनी और अमेरिका गये और अपने साथ एक धातुकर्मी सलाहकार इंजीनियर लाये। इस प्रकार एक लोहा और इस्पात उद्योग के लिए आवश्यक संसाधनात्मक आधार की तलाश जोर शोर से शुरू हुई।

अनुसंधान के लिए दूसरा क्षेत्र मध्य प्रांत का जिला दुर्ग था। यहां पर कच्चे लोहे का आधिक्य था परंतु कोयला कहीं भी आसपास में नहीं था। यह वास्तव में एक सांयोगिक उपलब्धि थी कि घुमक्कड़ शोध पार्टी को, प्रसिद्ध भूगर्भशास्त्री, पी. एन. बोस की सूचना पर, मयूरभंज स्टेट में कच्चे लोहे के विशाल भंडार मिल गये। झरिया कोयला, यद्यपि इसमें राख तत्व अधिक था, उचित कोकिंग स्तर का पाया गया। कटनी और पंपोश में अच्छी किस्म का चूना पत्थर मिला। प्रस्तावित प्लांट के लिए वैकल्पिक साधनों का विचार किया गया और अंतिम रूप से चयन एक छोटा सा गांव साक्ची भी हुआ जो समय के साथ आज के जमशेदपुर के विशाल इस्पातनगरी के रूप में विकसित हुआ।

अत्यधिक जन प्रत्युत्तर

अतीत में, भारत में निवेश के लिए अधिकांश पूंजी लंदन के मुद्रा मार्किट से एकत्र की गयी थी। भारत में पूंजी के मिलने के बारे में तथा निवेशकों की तरफ से इस तरह का कोई जोखिम उठाने के बारे में गंभीर संदेह व्यक्त किये गये। प्रस्तावित इस्पात प्लांट के निवेशकों ने एक निर्णय लिया, तत्कालीन स्थिति में एक साहसिक, जैसे कि किसी उद्यम का लगाना भी एक साहसिक कदम था, कि सभी देशवासियों से धन के लिए प्रार्थना की जाए। तदनुसार, सन् 1907

में एक विवरणिका (प्रास्पेक्टस) निकाली गयी। जनसाधारण का उत्तर अप्रत्याशित रूप से अनुकूल था। तीन सप्ताह के अंदर अंदर 2.5 करोड़ रुपये की पूरी धनराशि प्राप्त हो गयी जिसमें लगभग 8000 शेयर खरीदारों की छोटी छोटी बचतों की राशि सम्मिलित थी। एक सनकी ब्रिटिश अधिकारी को, जिसने व्यंग्य में कहा था कि वह भारत में निर्मित इस्पात का कण कण खरीद लेगा, अपने शब्द वापिस लेने पड़े। इस प्रकार के असाधारण कार्य का संभव होना, विशेषकर जबकि भारत के शेयर मार्किट में मंदी थी, भारत में उभरती राष्ट्रीय भावना को एक श्रद्धांजलि थी और थी भारत में इस्पात उद्योग लगाने के टाटा के प्रयत्नों में जनसाधारण के विश्वास का एक प्रतीक। इस घटना का महत्व टाटा और इस्पात उद्योग तक ही सीमित नहीं था। वरन् इसने भारतीय उद्यमियों को स्थानीय पूंजी और संसाधनों की सहायता से औद्योगिक विस्तार का रास्ता दिखाकर उनमें निष्ठा और आत्मविश्वास उत्पन्न किया। इसने एक देश को, जो आर्थिक निष्क्रियता से निकलने के लिए असफल रूप से संघर्ष कर रहा था, औद्योगिक सूत्रपात को एक दिशा प्रदान की।

टाटा आयरन और स्टील कंपनी ने अपने मैनेजिंग एजेंट टाटा संस एंड कंपनी के साथ मिलकर सन् 1908 में संयंत्र स्थापना का काम शुरू किया। तीन वर्षों के बाद सन् 1911 में, प्रथम बार लोहे का निर्माण हुआ पहले भारतीय इस्पात का उत्पादन सन् 1913 में हुआ। इस प्रकार जमशेद जी टाटा का स्वप्न साकार हुआ, यद्यपि सन् 1904 में ही वे स्वर्ग सिधार गये थे।

भारत में उस समय पांच लाख टन प्रति वर्ष की औसत से इस्पात आयात कर रहा था। इसका अपना ढलवां लोहे का उत्पादन केवल 40,000 टन प्रति वर्ष था, जबकि इस्पात का निर्माण न के बराबर था। 1,60,000 टन ढलवां लोहे और 1,00,000 टन इस्पात की क्षमता की खपत के लिए टाटा उद्योग आश्वस्त थे। इसके साथ ही, उत्पादन शुरू होते ही, युद्ध शुरू हो गया और आयात पूर्णतः बंद हो गया। इससे पूर्व सरकार ने 20,000 टन प्रति वर्ष की दर से दस वर्ष तक इस्पात खरीदने के लिए सहमति दी थी। तीन करोड़ टन के विश्व उत्पादन की तुलना में प्रस्तावित क्षमता बहुत कम थी लेकिन काम के नयेपन और स्थानीय मार्ग की सीमितता को देखते हुए उस समय इस तरह के संयंत्र की बात भी बहुत अधिक महत्वाकांक्षी थी। संयंत्र में लगभग दो हजार व्यक्तियों की नियुक्ति की गयी जबकि सुपरवाईजरी स्टाफ में अधिकांश रूप में विदेशी ही थे। टाटा उद्योग ने उत्कृष्ट कोटि का ढलवां लोहे का उत्पादन किया और उनका इस्पात भी मूल्य और गुणवत्ता दोनों ही दृष्टि से विश्व के उत्तम कोटि के इस्पातों की तुलना में कहीं कम नहीं था।

आरंभिक प्लांट तो एक प्रकार से अमेरिका, ब्रिटेन, जर्मनी और बेल्जियम

से आयातित मशीनों से छांट छांट कर कर संयोजित किया गया था। इसी कारण से—"विस्फोट भट्ठी पर अमेरिकन, इस्पात कार्य पर जर्मन, रोलिंग मिल पर ब्रिटिश और अन्य स्थानों पर आस्ट्रियाई, इटेलियन और स्विस थे।" पूरा अधिकार अमेरिकनों के पास था। इससे समन्वय में समस्याएं उत्पन्न हुईं। विभिन्न प्रकार की पृष्ठभूमि और प्रशिक्षण आदि पर आधारित उनके आचार विचारों और प्रेरणाओं के कारण, विभिन्न प्रकार के कामों के प्रति उनका तरीका एक समान नहीं था। उनको भी अपनी पूरी निष्ठा और श्रम लगाने के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के प्रोत्साहन और प्रलोभनों की आवश्यकता थी। कंपनी का प्रबंध और नियंत्रण जहां पूरी तरह भारतीयों के हाथों में था, वहां विदेशी टेक्नीशियनों पर निर्भरता ने कुछ सीमा तक इसकी कमजोरी प्रकट कर दी।

प्लांट में दो विस्फोट भट्ठियां, चार खुले भट्ठी तल, एक भापचालित फलता फूलता मिल, एक रेल और संरचनात्मक मिल, और दो छोटे सलाखों वाले मिल थे। विस्फोट भट्ठियों की क्षमता 175 टन ढलवां लोहा प्रतिदिन की थी परंतु शीघ्र ही इनका औसत 250 टन प्रतिदिन हो गया। कोक उत्पादन के लिये, कोयले के संचालन एवं अपधर्मण के लिए आवश्यक उपकरणों सहित, 180 तांबे की अलाभप्रद कोक भट्ठियों की एक शृंखला की स्थापना की गयी। कुछ समय बाद से 30 तलकर्षण चूल्हों की एक शृंखला इसमें और जोड़ी गई। इस्पात पिघलाने की कार्यशाला में 300 टन के गर्म धातु मिश्रक से सुसज्जित और चार्जिंग क्रेन, पिटसाइड क्रेनों और एक स्टाकयार्ड के साथ चार 40 टन की स्थिर और खुली तट भट्ठियां थीं। उत्पादित माल में विभिन्न भार की छड़ें, अलग अलग प्रकार की शहतीरें, जोड़ पट्टियों, गोल और चपटे, हल्के कोण और नलियां थीं। पूरे प्लांट की सेवा में एक ढलाई घर, एक मशीन कर्मशाला, एक लोहार कर्मशाला, एक सांचा कर्मशाला, एक इंजन कर्मशाला और एक भंडार घर थे।

अध्याय 4

वस्त्र उद्योग

सूती वस्त्र : स्वदेशी का प्रतीक

सूती वस्त्र उद्योग का प्रादुर्भाव विभिन्न कारणों से स्वदेशी भावना के प्रतीक के रूप में हुआ। बुनाई प्राचीन भारत में एक कला थी और अच्छे किस्म का भारतीय रेशम, मसालों और बहुमूल्य पत्थरों के साथ, यूरोपियनों के लिए प्रमुख आकर्षण था। लेकिन इस प्राचीन उद्योग को अमेरिकी सूती कपड़े और लंकाशायर की शक्ति-चालित मिलों ने अस्तव्यस्त कर दिया। इसलिए आधुनिक फैक्ट्री निर्माता के रूप में इसका पुनर्जन्म, भारतीयों के लिए उज्ज्वल भविष्य के दर्शन के साथ अतीत के गौरव का पुनरुत्थान था। व्यापार के क्रम में यूरोपियनों को भारत लाने के प्रमुख कारणों में से लंकाशायर की सुरक्षा भी था जिसने भारत पर ब्रिटेन की पकड़ मजबूत की। इससे खेती वस्त्र उद्योग से संबंधित आर्थिक मामलों की अपेक्षा राजनैतिक मामलों को प्रमुखता मिली जिसके कारण स्वदेशी भावना जोर पकड़ती गयी। इस उद्योग के लिए व्यापारिक नेतृत्व और पूंजी पूरी तरह से भारतीयों ने ही दी। यद्यपि शुद्ध तकनीकी जानकारी और प्रशिक्षित कारीगर लंकाशायर से ही आये। इस प्रकार इस उद्योग ने एक वास्तविक भारतीय उद्यम का रूप धारण कर लिया जो गत शताब्दी में अपने आप में एक अनूठा था। जब सरकार ने लंकाशायर की मिलों को सुरक्षा प्रदान करने की दृष्टि से पक्षपातपूर्ण सीमा शुल्क नीति अपनायी तब ब्रिटिश और भारतीय हितों में अंतर की खाई चौड़ी हो चुकी थी। वह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी कि शीघ्र ही उद्योग के हितों की पहचान राष्ट्रीय हितों के रूप में होने लगी थी और स्वदेशी आंदोलन ने विदेशी माल की होली का रूप धारण कर लिया।

प्रथम सूती वस्त्र मिल

ऐतिहासिक रूप में, सूती वस्त्र, कताई और बुनाई उद्योग, भारत में जन्मा और विश्व के अन्य भागों में फैल गया। लेकिन आधुनिक समय में इसका भारत आगमन काफी देर से हुआ।

सन् 1818 में कलकत्ता के समीप बोवरीह नामक स्थान पर स्थापित मिल का यहां उल्लेख करना आवश्यक है क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से यह अपने प्रकार का प्रथम मिल था। लेकिन सफल नहीं हुआ और जब तक कि पचपन वर्ष बाद रिचर्ड मैकलिस्टर ने इसकी पुनर्स्थापना नहीं की यह निष्क्रिय ही रहा। इन्होंने बाद में वहां एक जूट मिल भी लगाया। फिर आगामी लगभग तीस वर्षों तक कोई प्रगति नहीं हुई। बंबई क्षेत्र में यह पहली मिल, जिसने आनेवाले वर्षों में भारत में सूती वस्त्र उत्पादन केंद्र के रूप में अपनी प्रभुसत्ता स्थापित की थी सन् 1851 में लगी। इसका नाम था बांबे स्पीनिंग एंड कंपनी। लेकिन इसने उत्पादन सन् 1854 में प्रारंभ किया। इसके बाद एक अमेरिकी ने बडोच में एक मिल की स्थापना की। आगामी दस वर्षों में एक दर्जन से भी अधिक मिलों की स्थापना की। अब उद्योग ने जोर भी पकड़ लिया था और अपने जीवन के प्रथम पचास वर्षों में काफी तीव्र प्रगति की जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट है।

तालिका 4.1

सूती वस्त्र उद्योग की प्रगति

वर्ष	*मिलों की संख्या*	*तकुवों की संख्या*	*करघों की संख्या*
1851	1	–	–
1861	12	3,38,000	–
1879	58	15,00,000	–
1886	90	22,02,602	16,926
1896	155	39,84,023	37,303
1901	194	49,92,249	41,815

सातवें दशक तक गति धीमी थी। अमेरिका के गृहयुद्ध ने सूती वस्त्र उद्योग को बढ़ावा दिया लेकिन सन् 1862-66 के विशाल सूती वस्त्र दुर्भिक्ष ने सूती वस्त्र उद्योग को बुरी तरह से प्रभावित किया–दोनों ही प्रकार के हथकरघा और आधुनिक। सूती वस्त्र के निर्यात में वृद्धि ने बंबई मिलों को वास्तविक रूप में शक्तिहीन कर दिया। इस वृद्धि ने सट्टा बाजार गर्म कर दिया जिससे फिर संकट की स्थिति आ गयी। सन् 1870 में आर्थिक जगत में सामान्यता आने के बाद

बंबई के वस्त्र उद्योग की प्रगति काफी तेजी से हुई। यह विशेष रूप से इसलिए भी क्योंकि संकट की स्थिति ने अन्य उद्योगों की व्यर्थता को प्रकट कर वस्त्र उद्योग का भविष्य निस्संदेह आशावान सिद्ध किया। सातवें दशक में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। इन वर्षों में 40 के लगभग जो मिल अस्तित्व में थीं तीन चौथाई के लगभग बंबई प्रेसीडेंसी में ही थीं, इस प्रकार लगभग आधी मिल बंबई द्वीप में ही थीं। 19वीं शताब्दी के अंतिम दो दशकों में प्रगति की रफ्तार एक समान और सतत थी। विस्तार विशेष रूप से सन् 1885 से सन् 1895 के दौरान हुआ। इस समय के विकास की एक नयी विशेषता थी, कि बंबई के 'कॉटनपोलिस' 'वस्त्र क्षेत्र' के आसपास नये नये उद्यम लगने लगे जहां भीड़ भड़क्का बढ़ता जा रहा था। उद्यमी जे. एन. टाटा ने सन् 1887 में नागपुर में एंप्रेस मिल लगाई, उसी समय मोरारजी गोकुलदास ने शोलापुर में अपना उद्योग शुरू किया। हमने देखा कि बंबई से दूर उद्योग लगाने के आंदोलन के पहले चरण के दौरान बंबई प्रेसीडेंसी के अंदर के ही स्थान को प्राथमिकता दी गयी। सन् 1861 में भड़ौच में एक और मिल की स्थापना हुई और ठीक इसी समय अहमदाबाद में पहली मिल लगी। प्रेसीडेंसी से बाहर पहली मिल कानपुर में सन् 1865 में लगी। शोलापुर और नागपुर में पहली मिल सन् 1877 में लगी। सन् 1890 तक बंबई शहर और बंबई प्रेसीडेंसी से बाहर उद्योग का अच्छा विस्तार हो चुका था। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है–

तालिका 4.2

भारत में सूती वस्त्र उद्योग का क्षेत्रीय वितरण

वर्ष	*बंबई द्वीप*	*बंबई प्रेसीडेंसी*	*बंबई प्रेसीडेंसी से बाहर*	*कुल*
1854	1	2	–	2
1861	9	11	–	11
1865	10	13	1	14
1877	लागू नहीं	41	10	51
1890	70	94	43	137

19वीं शताब्दी के अंतिम वर्ष अकाल, महामारी और आर्थिक संकट के वर्ष के रूप में पहचाने जाते थे। विनिमय संकट से धागे के निर्यात पर भी संकट के बादल छाने लगे। वर्तमान शताब्दी के आरंभ में अमेरिकी सूती वस्त्र में अटकल-बाजियां लग रही थीं। इससे सूती उद्योग के मूल्यों में वृद्धि हो रही थी और मोटे कपड़े का उत्पादन अलाभकर हो गया था। उद्योग को दूसरा धक्का चीन के मार्किट की अव्यवस्था से लगा जो भारतीय धागे की मुख्य मंडी थी। इसके

परिणामस्वरूप, प्रगति की गति धीमी पड़ गयी थी। सन् 1900 से सन् 1905 के दौरान केवल दस नयी मिलों की स्थापना हुई। सन् 1905 के बाद स्थिति में सुधार हुआ और सन् 1907 की सामान्य मंदी के बावजूद, प्रगति की गति युद्ध के वर्षों तक बनी रही। निम्न तालिका में सन् 1900 और सन् 1914 के मध्य इस उद्योग की प्रगति दिखायी गयी है–

तालिका 4.3

सूती वस्त्र उद्योग सन् 1900-1914

वर्ष	*मिलों की संख्या*	*तकुले* (000)	*करघे* (000)	*काम करने वाले व्यक्तियों की संख्या* (000)
1900-1901	194	4,942	40	156
1904-1905	206	5,196	47	196
1907-1908	227	5,763	66	225
1913-1914	264	6,620	96	260

लेकिन राजस्व की दृष्टि से ये खराब वर्ष थे। बंबई की मिलें, जिन्होंने सन् 1905 में 2.35 करोड़ रुपये का लाभ कमाया था, लगातार अपने लाभ में गिरावट अनुभव करती गयी और सन् 1910 से 1914 तक वे संकटग्रस्त रहीं।

कताई बनाम बुनाई

उपरोक्त आंकड़ों से यह देखा जा सकता है कि प्रारंभिक मिलें केवल कताई विभागों से ही शुरू की गयीं और बुनाई विभाग अथवा बुनाई मिलें देर से और धीरे धीरे बनीं। इसके भी ऐतिहासिक कारण थे। लंकाशायर के सस्ते धागे को भारत में अच्छा खासा तैयार मार्किट मिल गया था। इस कारण प्रारंभिक मिलों को कताई में अच्छा भविष्य नजर आया और स्थानीय रूप से उपलब्ध छोटे धागे वाले कपास से बने मोटे धागे में उन्हें निश्चित रूप से लाभ दिखाई दिया और उन्होंने सबसे पहले यह लाभ उठाया भी। इसके अतिरिक्त, उन्होंने इस बात को भी महसूस किया कि वे चीन और जापान की मंडियों पर अधिकार जमा कर इस लाभ को और अधिक बढ़ा सकते हैं। चीन की मंडी इतनी अधिक लाभप्रद लगी कि भारतीय मिलों का प्रति तकुला उत्पादन और धागे और गुच्छियों का निर्यात 19वीं सदी के अंतिम चतुर्थांश में बहुत अधिक बढ़ गया।

निम्न तालिका में सन् 1876-77 से सन् 1903-1904 तक के वर्षों में भारतीय धागों और गुच्छियों के निर्यात की वृद्धि को दिखाया गया है–

तालिका 4.4

धागों और गुच्छियों का निर्यात

वर्ष	पौंड (लाखों में)
1876-77	80
1885-86	790
1890-91	1700
1903-09	2520

शताब्दी के अंत तक इस आंकड़े से स्पष्ट हो गया था कि यद्यपि काम अच्छा नहीं हो पा रहा था फिर भी कुछ ऐसी शक्तियां काम कर ही थीं जिन्होंने भारतीय मिलों में संरचनात्मक परिवर्तन करने के लिए जोर दिया। धागों का निर्यात, पूरे तौर पर, आर्थिक और राजनैतिक कारणों से हुए बाजार के उतार-चढ़ाव पर अधिक निर्भर था। आंतरिक रूप में भी, धागे की मांग कपड़े की मांग की अपेक्षा अधिक अनिश्चित थी क्योंकि आर्थिक परिवर्तनों के प्रति धागा कपड़े की अपेक्षा अधिक संवेनदशील था। इसलिए यह देखा जा सकता है कि तकुला-करघा का विकास एक नये ढंग से हुआ। सन् 1891-1901 के दशक में, यदि करघों की संख्या में 69 प्रतिशत वृद्धि हुई तो तकुलों की संख्या में 52 प्रतिशत की वृद्धि हुई। आगामी तेरह वर्षों में यानी विश्वयुद्ध के समय तक, करघों और तकुलों के विकास में अंतर बहुत अधिक हो गया अर्थात् बुनाई क्षमता 140 प्रतिशत बढ़ी और कताई क्षमता केवल 35 प्रतिशत ही।

जहां तक धागे के आयात का प्रश्न है कुछ मौलिक परिवर्तन थे। हथकरघा उद्योग तथा बढ़ती घरेलू खपत में वृद्धि की तुलना में ब्रिटेन से साधारण किस्म के धागे और गुच्छियों के आयात में गिरावट हो रही थी। उद्योग में दूसरा परिवर्तन जो धीरे धीरे आया, वह था महीन कपड़े की बुनाई की ओर अभिरुचि। यहां पर भी, इस परिवर्तन के लिए वे ही कारण उत्तरदायी थे जिनके कारण कताई से बुनाई का परिवर्तन आया। मोटे धागे की मांग का सीधा संबंध मोटे कपड़े की मांग से था और भारत में यह मुख्य रूप से कृषि स्थिति पर निर्भर करता था। लेकिन महीन किस्म के कपड़ों की मांग नगरीय और धनिक वर्ग के व्यक्तियों की ओर से आयी। जिसकी आमदनी कृषकों और उनसे संबंधित वर्ग के व्यक्तियों की अपेक्षा सुनिश्चित थी। इस प्रकार यदि कताई की भांति बुनाई में अप्रत्याशित लाभ की संभावना नहीं थी तो मांग में भी बहुत अधिक उतार-चढ़ाव का डर नहीं था। उद्योग अपनी परिपक्व अवस्था में आ गया था और अब टिकाऊ होने की दिशा में प्रगति कर रहा था, यद्यपि इसके जीवन काल का यह समय अधिक जोशोखरोश वाला नहीं था। कताई से बुनाई के इस परिवर्तन के अनुसार ही,

जो हम अपेक्षाकृत महीन कपड़े के पक्ष में देखते हैं, मोटे धागे से अच्छे बारीक धागे की ओर परिवर्तन था। चूंकि भारतीय मिल लंकाशायर से प्रतिस्पर्धा में सफलता प्राप्त करना चाहते थे क्योंकि लंकाशायर का उत्पादन महीन कपड़े तक ही सीमित था यह परिवर्तन बहुत जरूरी था। इस प्रकार यह स्पष्ट था कि जैसे जैसे धागे का उत्पादन और निर्यात घटने लगा अच्छे कपड़े के थानों के उत्पादन और कुछ सीमा तक उसके निर्यात में भी वृद्धि हुई।

धागे का उत्पादन, सन् 1905 से सन् 1906 में जहां 6550 लाख पौंड तक पहुंच गया था, सन् 1909 से 1914 के पांच वर्षों में इसका औसत उत्पादन 6460 लाख पौंड प्रति वर्ष आया। निर्यात भी उत्तरोत्तर 2870 लाख पौंड तक पहुंच गया था जिसका मूल्य सन् 1905-1906 में 12 करोड़ रुपये था लेकिन यह गिरने लगा और सन् 1909-1914 के वर्षों में इतना गिरा कि इसका औसत 420 लाख प्रति वर्ष रह गया। दूसरी ओर अच्छे कपड़े के थानों का उत्पादन सन् 1902-1903 में 460 लाख गज से सन् 1905-1906 में 6480 लाख गज, और सन् 1913-14 में 11050 लाख गज तक बढ़ गया। इस उत्पादन में लगभग चौथा-पांचवां हिस्सा पक्के साद रंग का कपड़ा था। निर्यात बहुत अधिक न होकर लगभग 2 करोड़ रुपये के आसपास का था। हमारी निर्भरता आयात पर, विशेषकर इंग्लैंड से, अत्यधिक बनी रही क्योंकि पूरी मांग की तुलना में आंतरिक उत्पादन कम ही रहा। सन् 1905-06 में पूरा आयात 24160 लाख गज था जिसमें 13480 लाख गज भूरे रंग का, 5270 लाख गज सफेद रंग का, और 5410 लाख गज अलग अलग रंगों का था। सन् 1905-1906 में आंतरिक रूप में उपलब्ध मात्रा 3000 लाख व्यक्तियों के लिए 28330 लाख गज थी अर्थात हर व्यक्ति के लिए एक वर्ष में दस गज से भी कम। लेकिन हथकरघा क्षेत्र के उत्पादन की भी गणना करनी थी। इस उत्पादन की मात्रा का सही अनुमान लगाना कठिन होता है। फिर भी यह उत्पादन काफी था और एक अनुमान के अनुसार युद्ध पूर्व के वर्षों में यह 48,000 लाख गज था।

निम्न तालिका में संक्षिप्त रूप में भारत के विदेशी व्यापार को युद्ध पूर्व के वर्षों में इस उद्योग द्वारा दिया गया योगदान दर्शाया गया है।

तालिका 4.5

सूती कपड़ा-धागा और महीन कपड़े के थानों के आयात निर्यात का वार्षिक औसत मूल्यः 1900-1914

	1900-1901		*1901-1904*		*1904-1909*		*1909-1914*	
	निर्यात	*आयात*	*निर्यात*	*आयात*	*निर्यात*	*आयात*	*निर्यात*	*आयात*
1. रुई	10.1	0.7	14.7	0.3	21.2	0.6	33.3	1.0
2. महीन थान	1.5	27.3	1.7	28.3	2.3	38.2	2.3	49.9
3. गुच्छियां और धागा	4.2	2.5	7.6	2.4	10.2	3.3	9.1	3.8
कुल योग	15.8	30.5	24.0	31.0	33.7	42.1	44.7	54.7

इस प्रकार यह उद्योग भुगतान संतुलन के मामले में काफी ऋण ले रहा था। और यदि मोटे सूती कपड़े के निर्यात की तरफ ध्यान न दिया जाये, जिसके लिए उद्योग की कोई विशेष उपलब्धि भी नहीं थी, तो इस उद्योग ने वास्तव में विदेशी मुद्रा में हानि उठायी।

भारत और जापान

यदि प्रारंभ से ही भारत के प्रतियोगी लंकाशायर ने अपना काम बहुत पहले शुरू कर दिया था, तो जापान ने, जो गत शताब्दी के अंत में नये प्रतियोगी के रूप में उभरा, तुलना और विरोध का एक दिलचस्प उदाहरण प्रस्तुत किया। दोनों ही देशों में यह उद्योग लगभग एक ही समय शुरू हुआ। प्रारंभिक अवस्था में जापान में उद्योग की प्रगति भारत जैसी तेज नहीं थी। लेकिन शताब्दी के बदलते बदलते जापान ने न केवल चीन के मार्किट पर कब्जा किया वरन् पूर्वी मंडियों में लंकाशायर की भांति भारत को कड़ा मुकाबला देना शुरू किया। इसका जितना श्रेय जापानियों के साहस और दूरदृष्टि को जाता है उतना ही उनकी सरकार द्वारा उनको दिये गये सक्रिय समर्थन और सहायता को जाता है। सरकार की सहायता और समर्थन के अभाव में उद्योग को अपने शैशवकाल में ही जीवित रहना संदेहपूर्ण होता। जब, गत शताब्दी के सातवें दशक में, उद्योग अपनी किशोरावस्था में संकटग्रस्त था, सरकार ने तुरंत सहायता का हाथ बढ़ाया। सरकार ने अपनी तरफ से आदर्श मिलों की स्थापना की, आसान किश्तों पर निजी उद्यमियों को विक्रय करने के लिए मशीनें आयात कीं, निजी तौर पर भी मशीनों के आयात के लिए अनुकूल शर्तों पर ऋण सुविधा दी। संकट के बाद के समय में सरकार की नीति सुरक्षा और प्रोत्साहन देने की रही। जैसा कि हम अगले अवतरणों में देखेंगे, भारत सरकार की नीति इसके बिल्कुल विपरीत रही।

जापानी उद्योग की प्रगति आठवें दशक तक उतनी प्रभावशाली नहीं थी और आंकड़ों की दृष्टि से यह भारतीय उद्योग की प्रगति से बहुत कम थी। सन् 1880 में, भारत के 15 लाख से भी अधिक तकुवों की तुलना में जापान में 13,000 से अधिक तकुवे नहीं थे। वर्ष 1900 में जापान में तकुवों की संख्या बढ़कर 13 लाख तथा भारत की 50 लाख हो गयी। और युद्ध-पूर्व यह संख्या क्रमशः जापान में 25 लाख और भारत में 66 लाख थी। लेकिन भारत के कुल तकुवों की एक तिहाई से कुछ ही अधिक तकुवों से जापान का धागा उत्पादन न केवल भारत के समान रहा वरन् युद्ध पूर्व के वर्षों में तो यह भारत के उत्पादन से अधिक हो गया था। यहां यह भी ध्यान देने की बात है कि यह उपलब्धि दो-दो पारियों तथा अधिक कार्यक्षमता के कारण थी। काम करने की स्थिति भी उतनी अच्छी नहीं थी जितनी भारत की।

सन् 1890 से पहले जापान अपनी आवश्यकता का पूरा धागा आयात करता था जो सन् 1880-90 के दशक में लगभग 3 करोड़ 50 लाख पौंड वार्षिक औसतन था। इसका निर्यात जो सन् 1890 के बाद लघु स्तर पर शुरू हुआ, सन् 1900-1910 में 1000 लाख पौंड से अधिक हुआ और सन् 1914 में 2000 लाख पौंड से भी अधिक हो गया। इसी समय आयात शून्य तक होता गया। इस प्रकार उत्पादन और निर्यात में, युद्ध पूर्व के समय में ही, जापान भारत से कहीं आगे बढ़ गया। जापान के देर से काम शुरू करने और रुई के आयात पर पूर्ण निर्भरता को देखते हुए, जापान के लिए यह महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। रुई की आधी पूर्ति भारत से ही होती थी।

सूती कपड़े के जापान के आयात और निर्यात का रूप बदल गया। आयात में अच्छी खासी गिरावट बाद में अर्थात् सन् 1910 के बाद आयी–निर्यात भी उसी समय, सन् 1900 के बाद विशेषकर, काफी बढ़ गया। फिर भी, सन् 1914 तक, जापान का आयात नगण्य हो गया जबकि भारत का आयात अपनी मिलों के उत्पादन का दुगुना हो गया था।

आरंभिक वणिकवाद

ईस्ट इंडिया कंपनी ने, अपने जीवन काल के शुरू में व्यापारिक ऐजेंसी के रूप में, निर्यात के लिए सूती और रेशमी कपड़ों के थान के उत्पादन को सक्रिय प्रोत्साहन दिया था। इंग्लैंड के औद्योगिक स्वार्थपूर्ण हितों ने और भारत को ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल के दाता मात्र माननेवालों ने इसका विरोध किया था। भारतीय उत्पादन के निर्यात पर भेदभाव की नीति अपनायी गयी क्योंकि कच्चे माल के निर्यात की अपेक्षा उत्पादित माल पर अधिक शुल्क लगाया गया। पूरे तौर पर, जब तक इंग्लैंड में फैक्ट्री व्यवस्था ने अपनी जड़ें नहीं जमा लीं, भारतीय उत्पादित माल पर अधिकतम सीमा शुल्क लगा कर वहां के उत्पादित माल को सुरक्षा प्रदान की गयी। यहां तक कि सन् 1819 तक, जब ब्रिटेन मशीनों द्वारा उत्पादित सामान भारत की मंडियों में आ चुका था। भारत के हथकरघा कपड़े पर मूल्य के 37.5 प्रतिशत से 67.5 प्रतिशत तक का आयात शुल्क था। हमारे देश में आयात शुल्क नाम मात्र को ही था और यह केवल प्रशासन संबंधी खर्चों को पूरा करने के लिए लिया जाता था। 19वीं शताब्दी में मुक्त व्यापार की नीति का सूत्रपात हुआ और यह भी इस देश पर थोप दी गयी। इस प्रकार वह देश, जिसने कुछ दशक पूर्व भारतीय माल के आयात के विरुद्ध एक सुरक्षा दीवार खड़ी कर दी थी, अब सभी व्यापारिक प्रतिबंधों को हटाने की वकालत कर रहा था। सन् 1850 तक, ब्रिटिश सूती कपड़ा उद्योग इतना सुदृढ़ हो गया था और इतनी तेजी से विस्तृत हो रहा था कि इसने सभ्यता, न्याय और ईसाइयत के नाम पर भारतीय

मंडियों में सीधे पहुंचने के लिए दबाव डालना शुरू कर दिया। सरकार के लिए इस दबाव को रोकना कठिन हो गया, लेकिन उस समय की आवश्यकताओं के कारण, सन् 1857 के विद्रोह के बाद, आयात शुल्क लगाये रखने के लिए वे विवश थे और कुछ समय बाद तो इसमें वृद्धि भी करनी पड़ी। आगामी दशकों में तो भारत सरकार और 'होम' सरकार एक दूसरे के विरोध में खड़े दिखाई दिये। भारत सरकार आर्थिक कठिनाइयों के कारण आयात शुल्क को बरकरार रखना चाह रही थी और 'होम' सरकार ब्रिटिश हितों की सुरक्षा के लिए इस शुल्क को हटाने का जी तोड़ प्रयत्न कर रही थी। हाउस आफ कॉमंस ने सन् 1877 में प्रस्ताव पास किया कि शुल्क सुरक्षात्मक होने के कारण, यथाशीघ्र समाप्त किये जाने चाहिए। तदनुसार, भारत सरकार ने सन् 1882 में इनको समाप्त कर दिया और अगले 12 वर्ष, वास्तव में आगामी 40 वर्ष का समय, नाम मात्र के शुल्क के कारण, मुक्त व्यापार का समय था। यहां तक कि जो समाप्त नहीं किये गये वे आयात शुल्क, उत्पादन शुल्क से अर्थहीन कर दिये गये क्योंकि जो कुछ भी सुरक्षात्मक प्रभाव था, वह उत्पादन शुल्क ने समाप्त कर दिया।

नवें दशक में, रुपये के मूल्य में उत्तरोत्तर ह्रास के कारण, विनिमय की कठिनाइयां शुरू हो गयीं। वित्तीय कारणों से एक बार फिर शुल्क लगाने की आवश्यकता हुई और 5 प्रतिशत का सामान्य आयात शुल्क लगा दिया गया। महत्वपूर्ण बात यह थी कि सूती धागे और उसके माल को छूट दी गयी। लेकिन शीघ्र ही यह महसूस किया गया कि इस छूट से कुछ पर्याप्त राजस्व नहीं प्राप्त हो सकता। इसलिए वर्ष के अंत तक, सूती कपड़े के माल को भी शुल्क के अंतर्गत करने का निश्चय किया गया। लेकिन लंकाशायर का दवाव इतना अधिक था कि सरकार को मजबूरन सभी भारतीय सूती माल पर 5 प्रतिशत का समान उत्पादन शुल्क लगाना पड़ा। यह कदम मानचेस्टर के हितों की सुरक्षा को देखते हुए और भारतीय हितों की उपेक्षा करते हुए सरकार की विवशता का एक प्रतीक था। इस बात पर काफी विवाद चला कि इस शुल्क से किसे हानि होगी। मानचेस्टर प्रतिनिधियों का तर्क था कि शुल्क, चाहे वह आयात पर हो या उत्पादन पर, भारतीय विक्रेताओं के लिए कपड़े को महंगा ही करता है। भारतीय प्रतिनिधियों ने जोरों से इसका खंडन किया और तर्क दिया कि शुल्क का परिणाम था लंकाशायर को प्रसन्न करने के लिए स्थानीय उद्योगों के हितों की हत्या। सरकार ने, दोनों पक्षों को संतुष्ट करने में असमर्थ होने के कारण, शुल्क में फिर थोड़ा हेर फेर किया। सन् 1896 में शुल्क सूती कपड़े के थानों पर 5 प्रतिशत से घटाकर 3. 5 प्रतिशत कर दिया गया और इसी स्तर तक उत्पादन शुल्क भी कम कर दिया गया। हथकरघा कपड़े पर उत्पादन शुल्क समाप्त कर दिया गया और इसी प्रकार धागे पर आयात शुल्क भी समाप्त कर दिया। धागे के संबंध में उठाया गया

यह कदम ठीक था क्योंकि अच्छे किस्म का धागा, जो हथकरघे में प्रयुक्त होता था और जिसका निर्माण यहां पर नहीं होता था, अब आराम से आयात किया जा सकता था। तथाकथित संतुलनकारी उत्पादन शुल्क लागू रहा। यह सच है कि थानों के मामले में, धागों की भांति ही, भारत और इंग्लैंड के बीच प्रतियोगिता मध्यम किस्म के सामान तक सीमित रही क्योंकि भारत की विशेषता महीन कपड़े में थी और इंग्लैंड की मोटे कपड़े में। फिर भी ये कुछ सम्मिलित प्रकार के उत्पादन थे जिनमें भारतीय मिलों से उत्पादन शुल्क में लाभ लिया जा सकता था। इसके अतिरिक्त वास्तविक समस्या यह नहीं थी कि एक विशेष सीमा शुल्क नीति से एक विशेष समय पर भारतीय हितों की हानि हुई या नहीं हुई, यद्यपि निस्संदेह यह एक महत्वपूर्ण बात थी–वरन् समस्या थी कि इससे उद्योग के भावी विकास पर दुष्प्रभाव पड़ा। महत्वपूर्ण बात यह भी है कि इसी प्रकार की नीतियां जब कनाडा और आस्ट्रेलिया में लागू की गयीं, वहां पर प्रबल और सफल रूप में इनका विरोध किया गया।

उल्लेखनीय बात यह है कि वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ में जहां भारत में इंग्लैंड के आयातों ने 3 प्रतिशत का नामजद शुल्क अदा किया, वहां जर्मनी में उन्हें 25 प्रतिशत और अमेरिका में 73 प्रतिशत शुल्क देना पड़ा। लार्ड कर्जन की यह मान्यता ठीक थी कि "जब से भारत को सन् 1875 में अपनी कस्टम सीमा शुल्क समाप्त करने का आदेश मिला था, लंकाशायर के दवाब के कारण मुख्य बात यह रही कि क्रमशः हर बार इस नीति में हेर फेर किया जाता रहा।" इस प्रकार, एक निष्पक्ष समीक्षक के शब्दों में, "मानचेस्टर पूंजीपतियों का प्रभाव भारतीय सीमा शुल्क के इतिहास में स्पष्ट है।" और यह "ब्रिटिश राज्य का सर्वाधिक घातक पहलू" रहा है।

इसमें सत्यता हो सकती है कि मुक्त व्यापार की नीति, नीति-निर्धारकों के इस आर्थिक सिद्धांत की श्रेष्ठता में उनके विश्वास और निष्ठा के परिणामस्वरूप थी। जहां इस सिद्धांत की कथित श्रेष्ठता पर भारत तथा अन्य स्थानों में आपत्ति प्रकट की गयी, वहां यह भी स्पष्ट था कि व्हाइट हॉल अपने काम में स्वतंत्र नहीं था और इसकी नीतियां प्रबल स्वार्थी हितों के दबाव से बनती थीं। परिणामस्वरूप, स्वार्थपूर्ण हितों के अनुकूल विभिन्न पारस्परिक संघर्षमय सीमा शुल्क नीतियां बना दी गयीं। इसके सर्वाधिक स्पष्ट उदाहरण दो सहयोगी वस्त्र उद्योगों–सूती कपड़ा और जूट–से संबंधित थे। भारतीय और ब्रिटिश जूट उद्योगों के मध्य, हितों की समानता थी कि दोनों ही स्काटवासियों के स्वामित्व में थे। जब डंडी ने जो शक्तिशाली मानचेस्टर की तुलना में कुछ नहीं था, कलकत्ता के विरुद्ध झगड़ा शुरू किया, तो मानचेस्टर ने डंडी को सुरक्षा प्रदान करने में अपनी शक्ति लगा दी। भारतीय जूट उद्योग द्वारा प्रेरित 'व्यापक असंतोष' जो भारतीय

औद्योगिक पुनरुत्थान को कुचलने वाली नीति के समान ही था, वास्तव में सूती वस्त्र उद्योग के मामले में भी प्रकट हुआ। लेकिन तब यह 'भारतीय' उद्योग था।

जूट : एक स्वर्णिम रेशा

जूट भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित है लेकिन इसका उल्लेख अनेक नामों, जैसे, सन, पट, गोनी, भंग आदि से किया जाता था और यह पता लगाना मुश्किल है कि इन नामों का संकेत किस रेशे की ओर था। जैसाकि सर जार्ज वाट ने लिखा है, इन अभिव्यक्तियों का प्रयोग पर्यायवाची रूप में होता था और सर्वाधिक प्रचलित नाम 'सन' का संबंध उसी भ्रम से होता था जो बाद के वर्षों में अंग्रेजी अभिव्यक्ति 'हेम्प' का परिचायक था। सर जार्ज वाट का विचार था कि प्राचीन हिंदू संभवतः जूट अथवा 'सत्य होप' की अपेक्षा 'सन-हाम्प' को जानते थे। यह केवल सन् 1828 की बात है कि 'जूट' शब्द का प्रयोग उस वर्ष के व्यापारिक खातों में किया गया और पट (अथवा गोन पट) का भारतीय समानार्थी–जो संकेतार्थ शब्द जूट था, चलाया गया।

ऐसा लगता है कि कंपनी के अधिकारियों द्वारा भारत में जूट की खेती का विशेष रूप से कोई समर्थन नहीं था। जब उन पर पटुआ रस्सी का विकल्प ढूंढने का दबाव डाला गया, पटुआ का प्रयोग कंपनी के जहाजों में रस्सियों और रस्सों के लिए किया जाता था, उन्होंने सन-रस्सी का समर्थन किया। यूरोप में निर्माण कार्य के उत्पादन के साथ ही, उस महाद्वीप से खाद्य सामग्री की मांग तेजी से बढ़ी और इस प्रकार पैकिंग सामग्री की आवश्यकता में वृद्धि हुई। इसलिए शीघ्र ही यह अनुभव किया गया कि विस्तृत स्तर पर जूट की खेती इन आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकती है।

जूट रेशे की हथकरघा बुनाई बंगाल में एक प्राचीन उद्योग था। जहां जूट के बने कपड़ों का उपयोग निर्धन लोग पहनने के लिए करते थे, वहां निर्माण की अन्य वस्तुओं, जैसे बोरी, चटाई, कंबल, कागज आदि की मांग वाणिज्य और उद्योग तथा व्यक्तिगत उपयोग के लिए भी थी। महीन कपड़ा भी, जो रेशमी कमीज के कपड़े के स्थान पर था, असाधारण नहीं था। जूट की खेती, गलाई, छिलाई और धुलाई के अलावा, श्रेणीकरण और गांठ बंधाई, कताई और वर्गीकरण, और रस्सियों, रस्सों के बनाने तक में काफी संख्या में व्यक्तियों की नियुक्ति होती थी।

यूरोप के लिए बढ़ते खाद्य सामग्री के निर्यात के कारण बढ़ी हुई बोरियों की मांग ने जूट की खेती और हथकरघा उद्योग को एक नया प्रोत्साहन दिया। बंगाल के हथकरघा बुनकरों का बोरों और जूट कपड़े में एकाधिकार था। यहां

तक कि सन् 1850 तक भी हथकरघा जूट निर्माताओं ने निर्यात से लगभग 20 लाख रुपये की विदेशी मुद्रा अर्जित की। लेकिन फिर भी, कुछ वर्षों से ऐसी शक्तियां कार्यरत थीं जो इस उद्योग के ह्रास में सहायक रहीं। इस ह्रास का मुख्य कारण था यूरोप में शक्तिशाली आधुनिक जूट उद्योग का प्रादुर्भाव। भारत में इसी प्रकार के कार्यक्रम ने हथकरघा बुनाई पर एक और प्रहार किया। इन सबका कुल प्रभाव जूट की हथकरघा बुनाई के लिए मिल के कपड़ों के कारण हुए हाथ की बुनाई के सूती कपड़े से भी अधिक घातक था। तथापि, इसका परिणाम इतना अनर्थकारी नहीं था, क्योंकि यह उद्योग केवल बंगाल तक ही सीमित था जहां जूट के फैलते हुए मार्किट और इसके निर्माण ने हथकरघा-बुनाई की समाप्ति की काफी मात्रा में क्षतिपूर्ति कर दी थी। क्रीमिया युद्ध से रूस की सब सप्लाई पर प्रतिबंध लग गया और इससे भारतीय निर्यात को और अधिक प्रोत्साहन मिला। सन् 1870 से पहले के किसी भी वर्ष के जूट उत्पादन क्षेत्र के कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं है। बाद के वर्षों में जूट खेती का विस्तार तेजी से हुआ। क्षेत्रफल का विस्तार भी सन् 1872-73 में अनुमानतः 10 लाख एकड़ से बढ़कर सन् 1894-95 में 2 करोड़ 20 लाख एकड़ और सन् 1906-1907 में 3 करोड़ 50 लाख एकड़ हो गया था।

इस प्रकार, यद्यपि सदियों से जूट की भारत में जानकारी थी और यह भारत में पैदा भी किया जाता था और हथकरघा बुनाई गत शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक बंगाल में फलता फूलता उद्योग था, आधुनिक जूट निर्माण का काम तीसरे दशक तक भी प्रारंभ नहीं हुआ था। यूरोप में जूट सन् 1820 तक भी नहीं पहुंचा था और इसको वाणिज्यिक तौर पर अपनाने के सभी प्रारंभिक प्रयत्न विफल रहे। भारतीय जूट के विरुद्ध पूर्वाग्रह इतना अधिक था कि डंडी के सन निर्माता, जैसाकि वालस ने अपनी पुस्तक में लिखा (जे. आर. वालस : *दी रोमांस ऑफ जूट)* कि वे अपने उत्पादन के साथ गारंटी दिया करते थे कि यह "भारतीय जूट से मुक्त" है। टामस नेह, जो एक डंडी व्यापारी था, को भारतीय जूट का एक पार्सल सन् 1820 में मिला था और उसने स्थानीय फ्लाक्स कातने वालों को इसे कातने के लिए मनाया, लेकिन वे इसके परिणाम के बारे में सशंकित थे। बाद में जूट के रेशे से धागा बनाने के प्रयत्न किये गये परंतु यहां भी असफलता हाथ लगी। नेह ने, फिर भी, हिम्मत नहीं हारी। उसने सन् 1832 में भारत से जूट का एक और पार्सल प्राप्त किया और फिर से प्रयोग किये। ये प्रयोग काफी सफल रहे क्योंकि इसमें रेशे को मुलायम करने के लिये ह्वेल के तेल का उपयोग किया था। इस प्रकार ग्रेट डंडी जूट उद्योग के इतिहास की शुरुआत हुई जो पहले टाट निर्माता के रूप में प्रसिद्ध थे। सन् 1850 तक, डंडी ने जूट का प्रयोग विस्तृत रूप में शुरू कर दिया था। इसके बावजूद और पैकिंग सामग्री की बढ़ती हुई विश्व मांग के होते हुए भी, आगामी बीस वर्षों तक भी आधुनिक तरीकों से

स्थानीय रूप से जूट उत्पन्न करने के कोई प्रयत्न नहीं हुए।

इस प्रकार एक और भारतीय वस्त्र उद्योग यूरोप को दे दिया गया। लेकिन सूती वस्त्र उद्योग के विपरीत, इसे स्वदेश लौटने में भी देर नहीं लगी। पहली आधुनिक जूट मिल श्रीलंका के एक कॉफी उत्पादक, जार्ज आकलैंड द्वारा सन् 1854 में, बंगाल के रिशरा नामक स्थान पर स्थापित, वैलिंगटन मिल थी। इस मिल का ग्राफ भी बहुत अधिक उतार-चढ़ाव वाला रहा, इसका स्वामित्व बदलता रहा, नाम बदलता रहा और सातवें दशक में यह 'वैलिंगटन जूट मिल' के नाम से उभरी। चार वर्ष बाद, 'बारानगर जूट मिल' अस्तित्व में आयी जिसको भारत में पहली बार बिजली चालित करघे लगाने का श्रेय जाता है। इसके पश्चात् सन् 1862-63 में गौरीपुर और 'सेरागंज जूट फैक्ट्रियां' लगीं। छठें दशक में केवल एक जूट मिल, 'इंडिया जूट मिल्स' अस्तित्व में आयी। लेकिन वास्तविक तेजी आगामी कुछ वर्षों बाद आयी। इस के बाद, क्रमिक रूप में मिलें लगती चलती गयीं जब तक कि "हुगली का किनारा, सही अर्थों में धुआं उगलती चिमनियों से नहीं भर गया।" और जूट उत्पादन में वर्चस्व बनाने के कमाऊ संघर्ष में, डंडी के पास चली गयी अगुआई फिर बंगाल के पास वापस आ गयी। आधुनिकतम मशीनों से सुसज्जित और कच्चे माल में भी सुखद स्थिति में व्याप्त भारतीय मिलों ने शीघ्र ही डंडी को पीछे छोड़ दिया। डंडी को पीछे छोड़ने का कार्य केवल भारत में ही नहीं वरन् आस्ट्रेलिया और कुछ सीमा तक अमेरिका में भी हुआ।

सन् 1860 से 1880 के दौरान लगभग 20 और मिलों की स्थापना हुई। प्रगति की रफ्तार सन् 1872-75 में अधिक तेज थी जब 13 नयी कंपनियां बनीं। जैसा कि वालस ने लिखा है कि एक जूट मिल को केवल अपना प्रास्पेक्टस निकालने की देर भर होती थी और उसके सभी शेयर दोपहर तक पूरे हो जाते थे। लेकिन सन् 1875-82 मंदी का समय था और इस दौरान में केवल एक मिल खुली जबकि पहले से चल रही चार मिलों में काम बंद हो गया। अगले तीन दशक धीमी प्रगति के वर्ष थे। मिलों की कुल संख्या धीरे धीरे सन् 1901-1902 तक 36 तक बढ़ी और युद्ध पूर्व के समय यह 64 तक पहुंच गयी। करघों और तकुवों की संख्या में भी तेजी से वृद्धि हुई, जो कि निम्न तालिका से देखी जा सकती है। यह असाधारण किस्म का विकास था। लेकिन सूती वस्त्र उद्योग के विकास के समय के विपरीत जूट उद्योग का विकास संख्या में इतना अधिक नहीं था जितना कि वैयक्तिक इकाई के विस्तार में। यह तकुवों और करघों के सापेक्ष रूप में अधिक तेजी से हुए विकास के रूप में देखा जा सकता है। धीरे धीरे आधुनिक मशीनों के आ जाने से उत्पादन में होती वृद्धि को देखते हुए श्रमिकों की संख्या में उतनी तेजी से वृद्धि नहीं हुई।

तालिका 4.6

जूट उत्पादन में प्रगति

वर्ष	*मिलों की संख्या*	*करघों की संख्या*	*तकुवों की संख्या*	*नियुक्त व्यक्तियों की संख्या*
1879-80	22	4,946	70,840	27,494
1889-90	27	8,204	1,46,245	62,739
1900	36	15,340	3,17,348	1,11,272
1907-08	54	27,244	5,62,274	1,87,771
1913-14	64	36,050	7,44,289	2,16,288

मिलों की संख्या में वृद्धि विशेषकर सन् 1900 और सन् 1907-1908 के दौरान तेज़ी से हुई और 1908 तक इनका उत्पादन डंडी से भी अधिक हो गया था। लगभग उसी समय तक टाट करघों की संख्या बोरी-करघों की संख्या से अधिक हो गयी थी और भारत ने महीन किस्म के उत्पादन में डंडी का मुकाबला शुरू कर दिया। ऐसा नहीं कि पहले भारत ऐसा नहीं कर सका था वरन् सस्ते और आसानी से श्रमिकों के मिलने के कारण, अब मोटे किस्म के माल का उत्पादन इसके लिए लाभप्रद था। भारतीय श्रमिक की कार्यक्षमता भी अब बढ़ गयी थी जिससे उद्योग के लिए अपने उत्पादन को श्रेणियों में बांटना संभव हो सका। इससे डंडी और कलकत्ता के उत्पादकों में विरोध और तेज हो गया। डंडी चैंबर ऑफ कॉमर्स ने भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट पर भारतीय मिलों की कार्य प्रणाली में जांच करने के लिए दबाव डाला। फिर भी, कलकत्ता मिलों के स्काटवासी मालिक इतने प्रभावशाली थे कि वे अपने डंडी बंधुओं का प्रतिरोध कर सके और जैसा कि वालस ने निष्कर्ष निकाला है, "तब से ही कलकत्ता मिलों को समय समय पर महाद्वीप में छोटे प्रतियोगी के हानि रहित विलाप से अधिक मान्यता नहीं दी गयी।

लेकिन इन सब वर्षों में, सन् 1907-1908 तक करघों और तकुवों में अच्छी खासी उपलब्धि हुई। इस समय के बाद विकास की गति धीमी पड़ गयी जबकि मिल-करघों और मिल तकुवों का अनुपात बढ़ता ही रहा। उद्योग की क्षमता में वृद्दि का यह भी एक कारण था। इसे प्रबंधकों का आर्थिक संरक्षण भी प्राप्त होता रहा क्योंकि प्रत्येक वैयक्तिक इकाई के आकार में वृद्धि होती गयी।

तालिका 4.7

जूट उद्योग में उत्पादनशीलता

वर्ष	*प्रति मिल करघे*	*प्रति मिल तकुवे*
1879-80	225	3,220
1889-90	304	6,083
1900	426	8,815
1907-08	504	10,412
1913-14	563	11,629

जूट निर्यात

वर्तमान शताब्दी के प्रारंभ तक, जूट उद्योग विदेशी मुद्रा के मुख्य अर्जक के रूप में उभर चुका था। यदि सूती उद्योग का उत्पादन मुख्य रूप से घरेलू उपभोग के लिए था, जूट और जूट निर्मित वस्तुएं मुख्य रूप से निर्यात के लिए थी। जूट में एकाधिकार के कारण भारत की स्थिति जूट निर्यात में एक अलग ढंग से सुखद थीं। पैकिंग सामग्री की बढ़ती विश्व मांग से, इस स्वर्णिम रेशे का उद्योग वास्तव में भारत में स्पर्णखान बनता जा रहा था। निम्न आंकड़ों से यह पूरी तरह स्पष्ट हो जाता है।

तालिका 4.8

जूट निर्यात : सन् 1876-77 से 1913-14 तक

(करोड़ रुपयों में)

वस्तुएं	*1850-51*	*1876-77*	*1886-87*	*1896-97*	*1906-07*	*1913-14*
कच्चा जूट	0.20	2.64	4.87	10.55	26.84	30.82
जूट निर्मित वस्तुएं	0.21	0.71	2.15	5.21	15.71	28.27
कुल	0.41	3.35	7.02	15.76	42.55	59.09

यह निर्यात में अप्रत्याशित विकास की एक कहानी है। लेकिन इस कहानी का एक पहलू और भी है। शुरू शुरू में, जूट निर्मित वस्तुओं का निर्यात कच्चे जूट की तुलना में कम था। यहां तक कि सन् 1913-14 में, यह अंतर बहुत कम रह गया था, लेकिन वृद्धि की गति भी तीव्र थी और इसके प्रतिफल के रूप में सम्मान भी समान रूप से मिला। औसतन, उत्पादित स्थानीय जूट का आधा निर्यात हो रहा था लेकिन बाद के वर्षों में यह घटता गया। यह इस बात

का संकेत था कि जूट निर्मित वस्तुओं का उद्योग विकसित हो रहा था और यह कच्चे जूट का अधिकांश बाजार हथिया रहा था। डंडी भारतीय जूट का मुख्य ग्राहक था और इसके बाद जर्मनी, फ्रांस और अमेरिका थे। निर्यात का 40 प्रतिशत ग्रेट ब्रिटेन को निर्यात होता था लेकिन इसका एक हिस्सा महाद्वीप में अन्य स्थानों को विशेषकर फ्रांस को दुबारा निर्यात कर दिया जाता था। लेकिन निर्मित वस्तुओं में व्यापार की दिशा भिन्न थी। टाट का लगभग 70 प्रतिशत अमेरिका को निर्यात किया जाता था जबकि बोरों की अकेली सबसे बड़ी मंडी आस्ट्रेलिया में थी। दक्षिणी अमेरिका और क्यूबा से भी आर्डर मिलते थे। युद्ध पूर्व के वर्षों में कुल जूट निर्यात का औसतन कुल निर्यात का 20 प्रतिशत था और इसके निकट प्रतिद्वंद्वी थे रुई और सूती कपड़ा और खाद्य सामग्री।

भारतीय अर्थव्यवस्था में जूट उद्योग ने एक महत्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया था और इसके कारण विदेशी मुद्रा अर्जक के अतिरिक्त अन्य भी थे। सर जार्ज वाट ने संतुलित तौर पर अनुमान लगाया कि सन् 1905-1906 में बंगाल के जूट उत्पादकों और व्यापारियों ने 33 करोड़ रुपये के लगभग कमाया। जैसाकि हमने देखा जूट की खेती का क्षेत्रफल बंटता जा रहा था और बाद के वर्षों में कच्चे जूट और जूट निर्मित वस्तुओं के उत्पादन में भी वृद्धि हुई थी। इस प्रकार प्रत्येक आनेवाले वर्ष में आमदनी बढ़ती ही गयी। युद्ध पूर्व के वर्षों में इसमें दो लाख से अधिक व्यक्ति काम करते थे और अनुमानतः पूंजी निवेश (प्रदत्त पूंजी और ऋणपत्र) 15 करोड़ रुपये का था। इसका लगभग 40 प्रतिशत स्टर्लिंग पौंड में था और पूंजी का अधिकांश भी विदेशियों द्वारा लगाया हुआ था।

नियंत्रण, संगठन ओर प्रबंध

बुकानन ने लिखा है, "जूट मिलें स्काटिश इंटरप्राइज भारतीय श्रम के विशाल स्मारक हैं।" जूट तथा सस्ते और सुलभता से प्राप्त श्रम पर विश्व भर में एकाधिकार के होते हुए भी यह कोई संतुष्टि की बात नहीं थी कि भारत का योगदान इस उद्योग के विकास में केवल कच्चे माल और श्रम की पूर्ति के रूप में ही था। कोयले और रेलवे की भांति, जूट उद्योग इस देश में एक प्रकार से आरोपित था जब फैक्ट्री संगठन द्वारा मशीनों का प्रयोग अन्य देशों में पूरी तरह से देखा भाला और अच्छी तरह से स्थापित था।

फिर भी, जूट प्रथम फैक्ट्री उद्योग था जिसमें पहल, साहस, पूंजी और दक्षता, सारा कुछ विदेशियों से प्राप्त हुआ था। विदेशियों द्वारा नियंत्रण और प्रबंध पूरी तरह से था और ऐसा एकमात्र प्रबंध था। जैसा कि पी.पी. पिल्लै ने लिखा है 'इस उद्योग की प्रमुख विशेषता इसका विदेश आश्रित होना' था। कुछ मुट्ठी भर अंग्रेजों द्वारा शुरू किया गया काम डंडी के स्काटिशों के वास्तविक एकाधिकार

के रूप में उभरा था। निवेश में भारतीयों का हिस्सा नगण्य था और नियंत्रण और प्रबंध में तो कुछ भी नहीं। उद्योग शुरू करने में अमेरिका का हाथ था और उन्होंने 'लाखों डालर' लगाये थे लेकिन इनका दायित्व केवल तीन मिलों तक ही था।

मिलों का प्रबंध सामान्यतः मैनेजिंग एजेंटों द्वारा किया जाता था। प्रबंधक और सुपरवाइजर यूरोपीय (मुख्यतः स्काटवासी) थे। भारतीयों की नियुक्ति श्रमिकों के रूप में थी, और सूती वस्त्र उद्योग की भांति जूट मिलों में उनके लिए ऐसे प्रशिक्षण की कोई सुविधा नहीं थी जिससे वे अपने सेवाकाल में उन्नति कर सकें। उद्योग का प्रबंध और संगठन सामान्यतयाः अच्छा था और यह ऐसे समय में प्रारंभ हुआ था जबकि उनसे उत्पादन की मांग बढ़ती जा रही थी और अनेक मिलों ने काफी मुनाफा भी कमाया। फिर भी उत्पादन निर्यात के लिए हो रहा था और विश्व मार्किट में मांग की अनिश्चितता के कारण लाभ में भी असमानता थी। जबकि सबसे पहली मिल को कोई विशेष सफलता नहीं मिली, दूसरी मिल ने 13 वर्षों में ही "अपनी पूंजी को दुगुनी कर लिया" और बाद की दो मिलों ने "केवल पैसा ही कमाया।" सूती उद्योग के विपरीत, जूट मिलों ने अच्छा खासा लाभांश घोषित करते हुए भी पर्याप्त जमापूंजी बना ली और अपनी स्वयं की आमदनी से आगे विकास करने के लिए धन इकट्ठा किया। कुछ की जमा पूंजी तो इतनी अधिक थी, "मिलों की हानि होने की स्थिति में भी वे अच्छा लाभांश दे सकते थे।" फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उद्योग की बढ़ती समृद्धि में श्रमिकों का कोई हिस्सा था। सस्ते श्रमिक और कच्चे माल में एकाधिकार की अपनी स्थिति का लाभ उठाते हुए, उद्योग के प्रबंधकों ने साहसी प्रतियोगियों का इस क्षेत्र में प्रवेश करना भी असंभव कर दिया।

कुछ इस एकाधिकारिक स्थिति और स्वामित्व के समान रूप के कारण और कुछ उत्पादन के अनिश्चित भविष्य और असमान विश्व मांग के साथ सामंजस्य बिटाने की लगातार जरूरत के कारण जूट उद्योग भारतीय उद्योगों में सबसे अधिक संगठित उद्योग कहलाया। जहां पहले तथ्य के कारण सुविधाएं मिलीं, वहां दूसरे तथ्य के कारण मिलों ने मिलकर सामूहिक रूप से आवश्यक कदम उठाये। सर्वाधिक सामान्य आवश्यकता जो समय समय पर अनुभव की गयी वह थी कि असमान मांग को ध्यान में रखते हुए उत्पादन पर प्रतिबंध लगाना। गत शताब्दी के सातवें दशक की वृद्धि के परिणामस्वरूप क्षमता का विस्तार अत्यधिक हुआ और इससे बाजार में मंदी आयी। यथार्थ रूप में किये गये समझौतों के द्वारा मूल्य स्थिर करने और उत्पादन की कमी करने के प्रयास किये गये लेकिन इन समझौतों को बाद में नकार दिया गया इसलिए एकजुट कार्य करने के लिए एक औपचारिक, प्रतिनिधि संगठन को संगठित करने की आवश्यकता अनुभव की

गयी। इसका परिणाम था सन् 1884 में इंडियन जूट मिल ऐसोसियेशन की स्थापना। इस ऐसोसियेशन के कारण उत्पादन की गुणवत्ता में कुछ सुधार हुआ, लेकिन यह शीघ्र एक ऐसी एजेंसी बनकर रह गयी–जिसके साथ मिलों ने अल्पकालीन काम चलाऊ समझौते कर लिये। विशेष रुचि की बात यह थी, कि इन समझौतों में एक दिन में कम घंटे काम करने की सुविधा दिलाने की अपेक्षा एक सप्ताह में कम दिन काम करने की सुविधा तथा करघों को एक निश्चित प्रतिशत से बंद करने की स्वीकृति दे दी। सन् 1886 में किया गया पहला समझौता, शुरू शुरू में छह महीने के लिये प्रस्तावित था, थोड़े समय के लिये बढ़ाकर इसे सन् 1891 तक खींचा गया, चार दिन के हफ्ते और 9 दिन के पखवाड़े से लेकर पांच दिन के हफ्ते तक। बोरा करघों का दस प्रतिशत सन् 1890 में कुछ अल्पावधि के लिये बंद भी कर दिया गया और कताई क्षमता के विस्तार में ठहराव आ गया। बिक्री मूल्य का भी एक समझौता था लेकिन वह विफल रहा, क्योंकि सदस्यों ने इसमें रुकावट डालने के लिए अनेक तरह की टालमटोल की और इससे पूरे काम में कटुता और दुर्भावना पैदा हुई। लेकिन शीघ्र ही स्थिति में सुधार हुआ और इसके बाद समृद्धि का एक और दौर आया। अगले तीन दशकों में उत्पादन के नियमन के लिए ऐसोसियेशन के पास जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी।

बुकानन के अनुसार नये अभिनवपूर्ण फैक्ट्री भवन और हुगली का तटीय नगरभाग, नदी में प्रतिबिंबित प्राच्य शिल्प को दर्शाती मिलों और उनकी चिमनियों से एक विस्मरणीय दृश्य बनता था। लेकिन वेरा एंस्टे का विचार था कि हुगली के किनारे "भोंडी मिलों द्वारा बिंबित" कर दिये गये थे। वास्तव में सुंदरता देखने वालों की नजरों में होती है। लेकिन कुछ भी हो, मिलों के अंदर विभिन्न भागों और कार्याधिकारियों में उचित समन्वय से उत्पादन सुसंगठित था। आधुनिक मशीनों के लगाने से उत्पादनशीलता संतोषजनक थी यद्यपि इसकी तुलना डंडी से नहीं की जा सकती थी। सर जार्ज वाट का अनुमान था कि यदि डंडी में एक करघे के लिए तीन कर्मी थे तो कलकत्ता में सात की आवश्यकता थी। बुनकरों को अपनी ओर आकर्षित करने की होड़ में बंगाल मिलों ने इतनी मजदूरी देनी शुरू की जो दूसरे बुनाई उद्योगों के लिए देना असंभव था और परिणामस्वरूप इन उद्योगों को बंगाल से बाहर जाना पड़ा। इसके बावजूद श्रमिक अपेक्षाकृत सस्ते थे। लेकिन कलकत्ता उद्योग को अपराजेय बनाने में अविश्वसनीय रूप से जूट की कम कीमत थी। युद्ध पूर्व के वर्षों में, यदि कलकत्ता में एक टन जूट 82 रुपये अथवा 5 पौंड दस शिलिंग में लाया जा सकता था जो लंदन की कीमतें गुणवत्ता के अनुसार, 15 पौंड और 30 पौंड या इससे भी अधिक होती थी। इससे भारतीय मिलों को प्रतियोगिता का अधिकतम लाभ मिला।

जैसा हमने देखा, उद्योग के लिए प्रारंभिक पूंजी इंग्लैंड से आयी। धीरे धीरे,

रुपया पूंजी के अनुपात में अच्छी खासी वृद्धि होती गयी। सन् 1891-92 में पूंजी निवेश 1.4 करोड़ रुपये तथा 17.57 लाख पौंड था। दस वर्ष बाद, ये आंकड़े 4.35 करोड़ रुपये तथा 17.41 लाख पौंड थे। सन् 1909 के वर्ष के लिए, वालस का अनुमान था कि कुल निवेश (प्रदत्त पूंजी और ग्रहणपत्र) 15 करोड़ रुपये का था। सन् 1913 में, उद्योग की प्रदत्त पूंजी 7.65 करोड़ रुपये तक बढ़ गयी थी। यह राशि रुपये और स्टर्लिंग में अलग उपलब्ध नहीं है। यद्यपि रुपया पूंजी के भाग में वृद्धि हो रही थी, ऐसा नहीं था कि भारतीयों के लिए स्वामित्व संबंधी अधिकारों में अधिक वृद्धि हुई हो।

अध्याय 5

युद्ध पूर्व का औद्योगिकीकरण : एक आकलन

औद्योगिक विविधता

पहले के अध्यायों में मुख्य उद्योगों के विकास का एक विवरण दिया गया है। पूरे दृश्य को पूरा करते हुए, सन् 1850 से 1914 के दौरान हुए औद्योगिक विकास का लेखा जोखा तैयार करने से पहले यहां पर कुछ प्रकीर्ण उद्योगों के विकास का संक्षिप्त उल्लेख करने की योजना है।

भारत में आधुनिक उद्योग के पहले तीन दशकों में केवल तीन ही उद्योग, सूती वस्त्र, जूट वस्त्र, और कोयला खान, ऐसे थे जो उचित तरीके से स्थापित थे। हमने देखा कि लोहा उद्योग शुरू करने के सारे प्रयत्न विफल रहे थे। चर्म और कांच उद्योगों को भी फैक्ट्री के तरीकों पर चलाने के प्रयत्न किये गये थे। केवल मद्रास चर्म उद्योग को ही सफलता मिली। लेकिन यह भी पूरे तौर पर फैक्ट्री संगठन न होकर पुराने स्वदेशी व्यवसाय के तरीकों में सुधारमात्र था। बाद के वर्षों में, अनेक सूत और जूट ओटाने और पेरने की मिलों तथा चावल मिलों का काम शुरू हुआ जिनमें काम के दिनों में काफी संख्या में व्यक्ति काम करते थे। सन् 1890 के बाद इनकी संख्या तेजी से बढ़ी। चावल मिलें, जो अधिकांशतः अभी तक बर्मा में ही सीमित थीं, अब मद्रास और बंगाल में भी लगने लगी। लेकिन, इन सब गतिविधियों से उत्पादन ठीक नहीं हो रहा था और औद्योगिक विकास के संदर्भ में ये गतिविधियां महत्वहीन थीं।

रेलवे के साथ साथ इंजीनियरिंग उद्योग भी फैला। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में ही मैकेनिकल शक्ति का व्यापक उपयोग होने लगा और छोटी छोटी कर्मशालाएं, आटा चक्कियां आदि तेजी से बढ़ती गयीं। सन् 1911 की जनगणना के अनुसार, रेलवे

कर्मशालाओं में लगभग एक लाख व्यक्ति काम करते थे। मशीनी और इंजीनियरी कर्मशालाओं ने 23,000 से अधिक व्यक्तियों को नौकरी दी। चावल और आटा चक्कियों में 42,000 व्यक्ति काम करते थे और इतने ही प्रिंटिंग प्रेसों में।

गत शताब्दी में खनिज उत्पादन केवल कोयला और सोने की खानों तक सीमित था, जिसमें सोने को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त था। सन् 1911 तक, यानी काफी समय तक, सोने की खानों में 23,000 कामगारों को रोजगार दिया हुआ था। फिर भी कोयला खानों के अप्रत्याशित विकास का तो जिक्र ही क्या, और अधिक खनिज उद्योग अस्तित्व में आ रहे थे। पेट्रोलियम उद्योग इनमें एक था। यह उद्योग, बर्मा तक ही था जहां यह एक पुराना उद्योग बन गया था। लेकिन 19वीं शताब्दी के अंतिम वर्षों तक भी आधुनिक तरीकों का उपयोग शुरू नहीं हुआ था। शताब्दी के बदलते बदलते प्रगति तीव्र गति से हुई और उत्पादन सन् 1896 में 1 करोड़ 50 लाख गैलन से सन् 1900 में 3 करोड़ 80 लाख गैलन और सन् 1914 में 25 करोड़ 90 लाख गैलन तक बढ़ गया था।

एक महत्वपूर्ण खनिज उद्योग जो सन् 1900 के बाद उभरा वह था मैगनीज खान का। शीघ्र ही भारत प्रमुख मैगनीज निर्यातकों में से एक बन गया। किसी भी स्थानीय इस्पात उद्योग के अभाव में, पूरा इस्पात उत्पादन निर्यात हो जाता था। इस उद्योग में 20,000 व्यक्ति काम करते थे। भारत अभ्रक और शोरे का भी प्रमुख उत्पादक था और शोरे में इसका एकाधिकार ही था जब तक कि सन् 1860 के दशक के अंत में इसका विकल्प नहीं खोजा गया। अन्य खनिजों जैसे जस्ता, टिन, तांबा आदि का उत्पादन या तो शून्य था या नगण्य था।

अंत में, सूती और जूट वस्त्रों के अतिरिक्त अन्य वस्त्र उद्योगों, कागज और चीनी उद्योगों का संक्षिप्त उल्लेख किया जा सकता है। जहां सूती और जूट वस्त्रों का पारंपरिक व्यवसायों के रूप में एक लंबा इतिहास था, आधुनिक ऊन उद्योग का प्रादुर्भाव देर से और धीमी गति से हुआ और रेशम उद्योग अपने पारंपरिक रूप और तरीकों तक ही सीमित रहा। सन् 1895 में केवल छह ऊन मिलें थीं जिनमें 3000 व्यक्ति काम करते थे। गुड़ के परिशोधन के पारंपरिक तरीकों से चीनी के परिशोधन का व्यवसाय काफी जोर शोर से चलता था, विशेषकर उत्तर प्रदेश और बंगाल में। सन् 1890 के दशक में जब सस्ती चुकंदर से बनी चीनी विशाल स्तर पर भारतीय मंडियों में आयी तो चीनी उद्योग को भारी धक्का लगा। लेकिन अधिकारिक रूप में उद्धृत फाइनेन्सियल और कमर्शियल स्टेटिस्टिक्स के अनुसार, 28 'फैक्ट्रियां' थीं जिनमें 4,612 आदमी कार्यरत थे और प्रत्येक में 25 से भी अधिक आदमी काम करते थे। इनके अतिरिक्त अनेक लघु परिशोधक कंपनियां थीं। लेकिन सन् 1930 के दशक तक इस उद्योग की आधुनिक फैक्ट्री के आधार पर कोई विशेष प्रगति नहीं थी जब तक कि संरक्षण के अंतर्गत, इसने

तीव्र विकास नहीं किया। आधुनिक तरीकों से कागज बनाने का काम भी बीसवीं शताब्दी की घटना है। लेकिन, सेरमपुर पेपर मिल जैसे एकमात्र उदाहरण भी थे जिनका इतिहास और भी पुराना था। यह बताया गया था कि सन् 1895 में तीन मिलें थी जिनमें 3500 व्यक्ति काम करते थे। वर्षों तक इस संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई। अनुमान लगाया गया कि सन् 1906 में इनमें 69 लाख रुपये का पूंजी निवेश था (58 लाख रुपया प्रदत्त पूंजी और 11 लाख रुपये ऋणपत्रों के रूप में)। पहले के वर्षों में निवेशित पूंजी में यह एक अच्छी खासी वृद्धि थी। कामगारों की संख्या भी 4266 तक पहुंच गयी थी। उत्पादन 4 करोड़ 50 लाख पौंड तक हो गया था जिसका मूल्य 62 लाख रुपये होता था। फिर भी, भारतीय मिलों को सस्ते और अच्छे आयातित कागज से सख्त मुकाबला करना पड़ रहा था और उनके लिए संभावनाएं कुछ अधिक आशाजनक नहीं थीं।

लेखा जोखा

देश में आधी शताब्दी से भी अधिक की समयावधि में औद्योगिकीकरण की क्या विशेषताएं और आयाम थे ? भावी विकास के लिए इन्होंने किन किन आशाओं को जगाया ? इन प्रश्नों के उत्तर के लिए, हमें सन् 1914 में युद्ध छिड़ने के समय तक की विकसित स्थिति का जायजा लेना होगा और औद्योगिक मानचित्र की प्रमुख परिरेखाओं, आर्थिक ढांचों में उभरी प्रबलताओं और दुर्बलताओं, और इसके द्वारा जागृत आशाओं और निराशाओं का संक्षिप्त जायजा लेना होगा।

सन् 1893 में लिखते हुए, रानाडे ने कहा कि लगभग सन् 1875 तक भारतीय आर्थिक स्थिति अवनति के अंतिम छोर तक पहुंच गयी थी। इसके बाद इसमें सुधार होना शुरू हुआ जबकि प्राचीन कला और शिल्प की पूर्णतया नष्ट हुई स्थिति को आधुनिक उद्योगों की स्थापना ने धीरे धीरे उबारा। रानाडे के शब्दों में, "यह शुद्ध कृषि से, आंशिक निर्माण और व्यापारिक व्यवसाय की दिशा में परिवर्तन का पहला कदम था।" उन्होंने अपनी बात–कि परिवर्तन हो रहा है–को सिद्ध करने के लिए विदेशी व्यापार के आंकड़े एकत्र किये। सन् 1873 से 1892 के दौरान, निर्मित और अर्ध निर्मित वस्तुओं के निर्यात में तिगुनी वृद्धि हुई लेकिन निर्मित वस्तुओं के आयात में केवल 39 प्रतिशत वृद्धि हुई। इसी अवधि में कच्चे माल के निर्यात की गति, तत्संबंधी आयात की वृद्धि देर से आयी थी। लेकिन ये परिवर्तन केवल एक दूसरे से जुड़े थे, क्योंकि कच्चे माल के निर्यात व्यापार में और निर्मित वस्तुओं के आयात में पूरा वर्चस्व एक वास्तविकता थी। उन्होंने निष्कर्ष निकाला था कि सन् 1850 के बाद चालीस वर्षों में लगभग 50 करोड़ रुपये का औद्योगिक निवेश हो चुका था इससे लगभग 25 लाख व्यक्तियों को

रोजगार मिल गया था। इन तथ्यों को आधुनिक फैक्ट्री उद्योग के लिए नहीं माना जाना चाहिए क्योंकि आधुनिक और पारंपरिक उद्योगों का फर्क दिखाने के लिए कोई आंकड़े उपलब्ध नहीं थे। इनको सामान्य रूप में औद्योगिक गतिविधियों की प्रगति का एक अनुमान देने के लिए उद्धृत किया जाता है।

बाद के वर्षों की हमारे पास ठीक ठाक और विस्तृत सूचना उपलब्ध है। सन् 1911 की औद्योगिक जनगणना के अनुसार, विभिन्न उद्योगों में 2 करोड़ 10 लाख से अधिक व्यक्ति कार्यरत थे। विशिष्ट प्रकार के केवल चार ही उद्योग थे जिनमें प्रत्येक में एक लाख से भी अधिक व्यक्ति काम करते थे—चाय बागान (7,03,585), सूत उद्योग (3,08,109), जूटसन आदि (2,22,319) और कोयला खानें (1,42,977)। इस बात को देखते हुए कि बागानों में मुख्यतः कृषि कार्य के लिए कार्यरत व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है, अन्य निर्माण उद्योगों में कार्यरत व्यक्तियों की संख्या काफी कम थी। 31 करोड़ की कुल जनसंख्या में, औद्योगिक श्रम की संख्या केवल 0.7 प्रतिशत थी संगठित उद्योगों में पूरी श्रम शक्ति के संभवतया 2 प्रतिशत से भी अधिक व्यक्ति नहीं थे। फैक्ट्री नियोजन उदाहरणार्थ जिन उद्योगों में फैक्ट्री एक्ट लागू होता था उनमें कार्यरत दैनिक नियोजी का सन् 1912 में कुल औसत आठ करोड़ सत्तर लाख था और, यह बात उनमें भी लागू होती थी जिनमें सन् 1922 से पूर्व 50 या इससे भी अधिक व्यक्ति कार्यरत होते थे।

ग्रामीण उद्योगों और नगरीय हस्तशिल्प के कामों में काफी लोग काम करते थे। तीस लाख से भी अधिक व्यक्ति हाथ की कताई, और विशेषकर बुनाई में काम करते थे। लेकिन इनमें से अधिकांश शिल्प कलाएं समाप्त होती जा रही थीं और जो इनको चला रहे थे वे और अधिक लाभप्रद नौकरियों के अवसरों के न मिलने के कारण कर रहे थे। वास्तव में, सन् 1890 के बाद कृषि पर दबाव धीरे धीरे बढ़ता ही गया। इसलिए इनकी गणना औद्योगिक श्रमिकों के रूप में करना आंकड़ों की दृष्टि से न्यायसंगत हो सकता है लेकिन रोज़गार स्थिति को आशापूर्ण नहीं बनाता।

शहरीकरण की गति धीमी, वास्तव में रुकी हुई थी। शहरी जनसंख्या जो 1872 में कुल का केवल 8.72 प्रतिशत थी, सन् 1881 में 9.41 प्रतिशत तक बढ़ी और सन् 1891 में 9.47 प्रतिशत तथा सन् 1901 में 9.88 प्रतिशत हो गयी। सन् 1911 में यह घटकर 9.42 हो गयी। लेकिन यह भी कहा नहीं जा सकता कि थोड़ी-सी यह नगरीय जनसंख्या आधुनिक उद्योगों के प्रभाव में आ गयी। जैसाकि होता है, उद्योगों का क्षेत्रीय विकास असंतुलित और असमान था। जबकि बंबई और कलकत्ता (जिसकी तुलना विश्व के किसी भी औद्योगिक केंद्र से की जा सकती है), अहमदाबाद, शोलापुर, कानपुर और मद्रास जैसे औद्योगिक नगर

बहुत पीछे थे और देश के शेष भाग में तो औद्योगिकीकरण का प्रभाव कहीं भी देखा अथवा अनुभव नहीं किया गया। सन् 1911 में लिखते हुए, सर टी. मोरीसन ने कहा, "बंबई शहर में औद्योगिक क्रांति पूरी हो चुकी थी।" अधिकांश अन्य शहरों और नगरों का महत्व उनके व्यापारिक केंद्र होने के कारण हो गया था। दिल्ली, करांची, हुबली, नागपुर आदि में जहां नाम लेने को भी उद्योग नहीं थे, इसके उदाहरण थे।

जनगणना के व्यावसायिक आंकड़े भी उद्योगों (आधुनिक और पारंपरिक) की सामान्य कमी और कृषि एवं उससे संबद्ध कार्यों की प्रधानता भी इसी बात को रेखांकित करती है।

तालिका 5.1
विभिन्न व्यवसायों में लगी कुल जनसंख्या का प्रतिशत

व्यवसाय (1)	*1891* (2)	*1901* (3)	*1911* (4)
1. कृषि आदि	61.06	66.50	72.20
2. उद्योग और खनिज	15.40	15.50	11.36
3. व्यापार, वाणिज्य और परिवहन	2.91	2.60	7.10
4. सार्वजनिक प्रशासन और अन्य उदार कलायें	4.38	3.60	3.30
5. अन्य शेष	16.25	11.80	6.04
कुल	100.00	100.00	100.00

टिप्पणी : पहले की जनगणनाओं में अपनायी गयी व्यवसायों के वर्गीकरण की पद्धति सन् 1911 की जनगणना की पद्धति से भिन्न थी। फिर भी, इनको तुलनात्मक बनाने की दृष्टि से कुछ फेर बदल बैठाये गये हैं। इस पर भी इन आंकड़ों के प्रयोग में, प्रत्येक जनगणना में प्रयोग की गयी परिभाषा और पद्धति को ध्यान में रखते हुए, सावधानी बरतनी चाहिए।

यह कुछ सीमा तक ठीक है, जैसा कि श्रीमती एंसटे ने तर्क दिया है, कि प्रत्येक जनगणना में व्यवसायों के वर्गीकरण में परिवर्तनों के कारण कृषि पर निर्भरता में वृद्धि होना भ्रामक था। फिर भी, कृषि की प्रधानता तथा उद्योगों की कमी की सच्चता स्पष्ट है।

निवेशित पूंजी

किसी उद्योग में अथवा परिवहन, बैंकिंग के संबंधित भागों में निवेशित कुल पूंजी का निर्धारण करना कठिन काम है। पहले के अध्यायों में अलग अलग उद्योगों में लगी पूंजी का यथासंभव विवरण दिया गया है, लेकिन आंकड़े सदा ही पूरे और ठीक नहीं रहे हैं। फिंडले शिरास ने, इंडस्ट्रियल कमीशन (सन् 1916) के सामने अपने बयान में भारत में निवेशित पूंजी का अनुमान लगाने की दृष्टि से आंकड़ों का विवरण प्रस्तुत किया था। आंकड़े किसी प्रकार पूरे नहीं होते। इनमें विदेश विनिमय बैंक भारत में बहुत व्यापार करती विदेशी व्यापार कंपनियां आदि तथा अनेक व्यापारिक संस्थाएं, जो इंडियन कंपनीज एक्ट के अंतर्गत नहीं आतीं, छूट जाती हैं। फिर भी, आंकड़ों को अर्थव्यवस्था की आधुनिक शाखाओं में निवेशित पूंजी के आकार-प्रकार तथा रूप-विस्तार का अच्छा खासा प्रतिनिधि माना जा सकता है।

फिंडले शिरास के अनुसार, सन् 1914-15 में कुल निवेशित पूंजी लगभग 800 करोड़ रुपये थी। इसमें से उद्योग के हिस्से में 85 करोड़ रुपये अथवा केवल 11 प्रतिशत आया जिसका एक चौथाई बागानों के लिए था। सूती और जूट मिलों के हिस्से में क्रमशः 21 तथा 16 करोड़ रुपये थे। जबकि अकेली चाय कंपनियों का हिस्सा 34 करोड़ रुपये था। व्यापार, परिवहन, और बैंकिंग आदि के साथ, औद्योगिक क्षेत्र का निवेश पांचवें भाग से भी कम था। अकेले रेलवे में पूरी पूंजी का लगभग दो तिहाई लगा हुआ था।

एक अनुमान के अनुसार भारत में निवेशित विदेशी पूंजी कुल 450 करोड़ रुपये (अथवा 2980 लाख पौंड) थी।

औद्योगिक संरचना

आधुनिक औद्योगिकीकरण भारतीय क्षितिज पर एक नयी घटना थी और औद्योगिक आकाश गंगा, सदियों तक निष्क्रिय रहने के बाद, आकर्षक बनती जा रही थी। फिर भी, अपनी नवीनताओं से हटकर, प्रगति की रफ्तार मोटे तौर पर काफी धीमी और छिटपुट थी। हमने देखा है कि, चाहे रोजगार की कसौटी पर कसे अथवा निवेशित पूंजी के आधार पर, औद्योगिक ढांचे में परिवर्तन इतना अधिक नहीं था कि वह लोगों के रहने सहने के ढंग अथवा स्तर को बदलने, सामाजिक आर्थिक शक्तियों को एकजुट करने, और दूरगामी परिवर्तनों की प्रक्रिया को गति प्रदान कर सके। इसमें भी, सन् 1857 की जागृति के बाद के पांच छह दशकों में जो आर्थिक ढांचा विकसित हुआ वह संतुलित और सुगठित नहीं था। अन्य किसी तथ्य से भी अधिक, इसी संरचनात्मक दुर्बलता में हमें औद्योगिक क्रांति

के लिए उत्तरदायी, स्वचालित गतिशीलता उत्पन्न करने में, अर्थव्यवस्था की विफलता के कारण खोजने होंगे।

यह एक ऐतिहासिक तर्कसंगत बात थी कि भारत में औद्योगिक पुनरुत्थान सार्वजनिक उपभोग जैसे सूती वस्त्र उद्योग आदि का उत्पादन करने वाले उद्योगों द्वारा लाया गया था। इसके बाद अन्य उपभोग अथवा निर्यात वाली वस्तुओं के अनेक उद्योग लगे जो ऐतिहासिक कारणों से शुरू हुए। विदेशी टेकनोलौजी, मशीनों, तथा कुछ समय के लिए ईंधन पर भी निर्भर थे। इस प्रकार निर्मित वस्तु से लेकर मशीन निर्माण तक, उद्योगों की इस पूरी लाइन के साथ साथ कोई समानांतर प्रगति नहीं हुई। धातुकर्मीय उद्योग अनुपस्थित था, कोयले के सिवाय शक्ति का कोई विकास नहीं हुआ था, रसायन उद्योग अभी शुरू होना था और इंजीनियरी उद्योग की शुरुआत हुई थी।

रानाडे द्वारा उद्धृत, ब्रिटिश भारत के संसाधनों पर डा. वाट के ज्ञापन के अनुसार 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक के दौरान मुख्य उद्योग थे वस्त्र, चाय, कोयला, नील, चीनी, आटा चक्की, चर्म और सोना। जबकि कोयला प्राथमिक उद्योग का एक अकेला उदाहरण था, वहां कोई पूंजी निवेशित उद्योग नहीं था। सोना, संभवतयाः, एक उद्योग निर्मित वस्तु होने की अपेक्षा, एक उपभोक्ता वस्तु अधिक था क्योंकि यह अधिकांश मात्रा में धातु अथवा आभूषणों के रूप में, इकट्ठा किया जाने लगा, और नील, चर्म, तथा जूट निर्मित वस्तुएं मध्यवर्ती उद्योगों की श्रेणी में आ गयीं। शेष सब उपभोक्ता उद्योग थे।

रानाडे के लिखने के बाद, प्रगति की रफ्तार बढ़ी और इससे उनको प्रसन्नता ही होती। लेकिन यह उपलब्धि अधिकांशतः चालू उद्योगों के और अधिक विस्तार के कारण ही हो सकी। औद्योगिक प्रतिमान में आगामी बीस वर्षों में भी कोई परिवर्तन नहीं आया। महत्वपूर्ण विकास कार्यों में केवल मैगनीज खानों की शुरुआत और सन् 1905 के बाद प्रमुख मैगनीज निर्यातकों में भारत का स्थान, तथा सन् 1907 में प्रथम इस्पात मिल की स्थापना थे। इस्पात मिल में उत्पादन सन् 1911 तक भी शुरू नहीं हुआ और इसने अपना प्रभाव सन् 1914 के बाद ही दिखाया।

रोजगार और निवेश, दोनों ही दृष्टियों से, उपभोक्ता उद्योगों की युद्ध पूर्व के वर्षों में प्रमुखता ही रही।

भाग 2

मंदी, युद्ध तथा विभाजन

अध्याय 6

मंदी और युद्ध के समय औद्योगिक विकास

औद्योगिक नीति का एक नया युग

युद्ध के दौरान सरकार की औद्योगिक नीति में तथा देश के आर्थिक और राजनैतिक जीवन में, महत्वपूर्ण परिवर्तनों की एक लहर आयी। युद्ध द्वारा उत्पन्न स्थिति ने सरकार में एक नयी चेतना पैदा की अथवा उस पर थोपी। अनेक महत्वपूर्ण और आवश्यक भंडारों के आयात में, जो युद्ध के लिए विशेष रूप से आवश्यक थे, आयी रुकावट ने उनको देश में एक सुगठित औद्योगिक पद्धति को विकसित न करने की भूल का अहसास कराया। इस स्थिति से निबटने के लिए पहला महत्वपूर्ण कदम था सन् 1916 में इंडस्ट्रियल कमीशन की नियुक्ति जो इस बात की सिफारिश कर सके कि सरकार किस प्रकार उचित और सीधे तरीके से औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन दे सकती है। कमीशन ने सन् 1918 में अपनी रिपोर्ट दी और कड़े शब्दों में सिफारिश की कि औद्योगिक मामलों में सरकारी हस्तक्षेप और पहल की फौरन आवश्यकता है। यहां यह भी स्मरणीय है कि इसी प्रकार का, यद्यपि कम महत्वाकांक्षी सुझाव, चार दशकों पूर्व दुर्भिक्ष आयोग ने दिया था और सरकार ने उसे दबा दिया था। इंडस्ट्रियल कमीशन ने अन्य बातों के साथ साथ, स्वदेशी उद्योगों के प्रोत्साहन और पाइलट प्रोजेक्ट प्रदर्शन की स्थापना

की दृष्टि से, इंपीरियल और प्रोविंशियल औद्योगिक विभागों की स्थापना, टेक्निकल और वैज्ञानिक शिक्षा की उन्नति, भंडार खरीद नीति में परिवर्तन, आदि का भी सुझाव दिया।

सीमा शुल्क नीति इंडस्ट्रियल कमीशन के क्षेत्र से बाहर की बात थी, भारतीय जनमत कुछ समय से संरक्षण की मांग कर रहा था लेकिन कोई सफलता नहीं मिली थी। लेकिन युद्ध ने इस मुद्दे को फिर से साफ कर दिया। युद्ध स्थिति ने आयात में कठिनाई पैदा कर दी और घरेलू उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। युद्ध के बढ़ते जा रहे खर्च को पूरा करने के लिए सरकार को काफी भारी राजस्व कर लगाने पड़े। यहां तक कि वह प्रतीक, मुक्त व्यापार नीति का अंतिम अवशेष, सूती माल पर उत्पादन शुल्क को भी समाप्त कर दिया गया यद्यपि अस्थायी तौर पर। इस प्रकार युद्ध के वर्षों में संरक्षण स्वयं ही मिल गया। फिर भी, युद्ध के बाद के वर्षों में अनेक समस्याएं उठीं जिनके कारण एक उचित सीमा शुल्क नीति की आवश्यकता महसूस हुई। इसी दौरान, मांटेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों की घोषणा हो गयी और इनमें दी गयी स्वायत्तता, व्यापारिक स्वायत्तता के अभाव में अर्थहीन लगती थी। सन् 1921 में फिस्कल कमीशन (व्यापारिक आयोग) की नियुक्ति हो गयी, और इसकी सिफारिशें ही आगामी दो दशकों में सरकार द्वारा अपनायी गयी तथाकथित 'विवेकपूर्ण संरक्षण' की नीति का आधार बनी।

कमीशन के अनुसार भारत का औद्योगिकीकरण का रिकार्ड अत्यधिक निराशाजनक था और संरक्षण के माध्यम से प्रोत्साहन देना अनिवार्य था। इसने इस संबंध में कोई निश्चित नीति नहीं बनायी लेकिन संरक्षण की मांग को जांचने के उद्देश्य से एक टैरिफ बोर्ड की स्थापना की सिफारिश अवश्य की। बोर्ड के निर्देशन के लिये, कमीशन ने तीन मापदंड बनाये जिनका पूरा करना संरक्षण के इच्छुक व्यक्ति के लिये आवश्यक था–

(क) कि प्रत्याशी उद्योग को विकास के लिये स्वाभाविक रूप से लाभ मिलना चाहिए,

(ख) कि संरक्षण के अभाव में इसका विकास बिल्कुल नहीं हो सकेगा अथवा इच्छित गति से नहीं हो सकेगा,

(ग) कि एक उचित समय तक संरक्षण प्राप्त करने के बाद, यह संरक्षण को त्याग कर विश्व प्रतियोगिता का मुकाबला कर सकेगा।

इन सिफारिशों को सरकार ने मान लिया और सन् 1923 में टैरिफ बोर्ड की स्थापना की गयी। इन सिफारिशों में कमियां ढूंढना आसान है और वास्तव में उस समय के अनेक अर्थशास्त्रियों और जननेताओं ने उन पर काफी तीखी टीका-टिप्पणी की और उनमें काफी गहरी कमियां ढूंढीं। अंततः, वे कौन से 'स्वाभाविक लाभ' थे जो एक उद्योग को मिलने ही चाहिएं। एक उद्योग यह कैसे

सिद्ध कर सकेगा कि वह संरक्षण के अभाव में विकसित नहीं हो सकेगा अथवा अंततोगत्वा, क्या यह संरक्षण की बैसाखियों के बगैर काम कर सकेगा ? फिर भी, कमीशन द्वारा अनुशासित इस प्रकार की नीति की सामाजिकता और प्रभावोत्पादकता का परीक्षण सैद्धांतिक मान्यताओं पर न होकर व्यावहारिक रूप में कार्य करने तथा उसके परिणामों पर होता है। हमें इस नीति के क्रियान्वयन और इसकी दृढ़ता को जांचने के लिए अनेक मामलों को देखने के अवसर मिलेंगे।

मोंटफोर्ड सुधारों के अंतर्गत उद्योग संबंधी कार्य का स्थानांतरण ऐसे प्रदेशों को कर दिया गया जिन्होंने अपने अपने उद्योग विभाग बना लिये थे। उन्होंने 'स्टेट एड टू इन्डस्ट्रीज़ एक्ट' को भी मान्यता दी जिसके अंतर्गत उद्योगों को सीधी वित्तीय सहायता दी गयी। विभाग के कार्यक्रमों को वित्तीय उतार चढ़ावों का सामना करना पड़ा और युद्धकालीन वर्षों में अनेक उतार चढ़ाव आये। अधिनियमों को उदासीनता से लागू किया गया। फिर भी अब अधिकारियों को उद्योगों के प्रति अपने उत्तरदायित्वों का अधिक बोध हो गया था और उनको निबाहने की अब उनमें एक इच्छा भी थी।

इन आधारभूत परिवर्तनों के अतिरिक्त, सरकार की औद्योगिक नीति में दीर्घकालीन जटिलताओं के साथ, युद्ध की आवश्यकताओं के कारण अन्य सरकारी कदम भी उठाये गये जिन्होंने उद्योगों को महत्वपूर्ण रूप में प्रभावित किया। उद्योगों पर सरकारी नियंत्रण में वृद्धि हुई। कुछ वस्तुओं का निर्यात रोक दिया गया जबकि कुछ वस्तुओं का उत्पादन, अनुबंधित मूल्यों पर सरकार द्वारा ही विक्रय करने के लिए किया गया। कोयले के वितरण और पूर्ति को नियमित किया गया। इस प्रकार, एक निश्चित बाजार मिलने के कारण अप्रत्याशित रूप से कुछ उद्योगों की उन्नति हुई। जबकि प्रतिस्पर्धा को जोखिम पूरी तरह से समाप्त हो गयी। स्टोर्स पर्चेज कमेटी (भंडार क्रय समिति) की रिपोर्ट को लागू करने के कारण, सरकार की भंडार क्रय नीति में लाभदायक परिवर्तन हुए। इस समिति ने निश्चित रूप से स्थानीय रूप से निर्मित वस्तुओं की खरीद को प्राथमिकता देने की सिफारिश की थी, यदि ये वस्तुएं आयातित वस्तुओं के तुलनात्मक मूल्यों पर उपलब्ध हो सकती थीं। यह कोई बहुत बड़ी सहायता नहीं थी लेकिन कम से कम नियमित रूप से विदेशों से सामान प्राप्त करने की पुरानी नीति में सुधार तो था।

सन् 1917 में स्थापित म्युनिशंस बोर्ड, स्वदेशी उत्पादन को प्रोत्साहित करने की दिशा में सरकार की तत्परता का एक और संकेत था। वास्तव में, इसने सरकार द्वारा सक्रिय उत्पादन की आवश्यकता और औचित्य को रेखांकित किया।

दूसरे दशक में रेलवे प्रबंध में 'क्रांतिकारी परिवर्तन-सा' आया। जैसाकि हमने पहले देखा, रेलवे का कार्यक्रम सरकार की सामान्य वित्तीय आवश्यकताओं के अनुसार होता था। एक्वर्थ कमेटी द्वारा सन् 1921 में दी गयी रिपोर्ट में, रेलवे

वित्त व्यवस्था को सामान्य बजट से अलग करने की सिफारिश की। यह सिफारिश मान ली गयी और जब सन् 1924 में, अलग रेलवे बजट पेश किया गया, तो एक दीर्घप्रतीक्षित सुधार की शुरुआत हुई और भारतीय रेलवे के भविष्य को संरक्षण मिला। कमेटी की अन्य सिफारिशों के पालन में सरकार ने, एक अन्य सार्वजनिक मांग के सामने झुकते हुए, रेलवे में सीधे राजकीय व्यवस्था प्रणाली को सिद्धांत रूप में मान लिया।

इसी समय में राजमार्ग परिवहन का विकास भी महत्वपूर्ण था और इससे रेलवे राजमार्ग प्रतिस्पर्धा के तथ्य को बढ़ावा मिला। अधिकारियों और जनता का ध्यान, इन दो प्रणालियों के समन्वय की समस्या और भविष्य में इनके उचित विकास की ओर लग गया।

सरकार की नीतियों की जोखिम, जो दूरस्थ होम गवर्नमेंट द्वारा निर्देशित थी, प्रभावशाली रूप में प्रकट हो रहा था जबकि रुपये का समान मूल्य दूसरे दशक के प्रारम्भ में अत्यधिक अनिश्चितता का शिकार हो रहा था। विनिमय की परेशानियों ने इस शताब्दी के बदलने तक धागे के लिए हमें चीन की मंडी से वंचित कर दिया था। जैसे जैसे चांदी की कीमत बढ़ती गयी, विनिमय दर में भी वृद्धि होती गयी जो सन् 1920 में दो शिलिंग के रुपये तक पहुंच गयी। इससे निर्यात को धक्का लगा और आयात को प्रोत्साहन। इसके बाद पासा पलट गया, विश्व मंडी में आया तूफान फट गया और रुपये का मूल्य गिरने लगा। एक साल के अंदर अंदर इसका मूल्य दो शिलिंग से घटकर एक शिलिंग 3 पैन्स तक आ गया। स्थिति में सुधार सन् 1923 के बाद ही शुरू हुआ। सरकार इस दौरान चुपचाप स्थिति का जायजा ले रही थी और विनिमय दर के युद्ध-पूर्व के सम्मानजनक समान मूल्य पर एक शिलिंग 6 पैन्स (स्टर्लिंग) अथवा एक शिलिंग चार पैन्स (सोने) तक पहुंचने के इंतजार में थी। यह स्थिति सन् 1924 में आयी जब सरकार ने फौरन इसे वहीं स्थिर करने के लिए कदम उठाया। लेकिन सन् 1925 में जब ब्रिटिश स्टर्लिंग सोने के बराबर हो गया, रुपये के मूल्य में फिर से वृद्धि हुई। इस प्रकार, वास्तव में, अर्थव्यवस्था पर मुद्रा संकुचन की दोहरी मार पड़ी जबकि समय की आवश्यकता युद्धोपरांत की मंदी से निपटने के लिए संकुचन रोकने हेतु कदम उठाना था। स्थिति और अधिक खराब हुई जब सन् 1929 के बाद विश्व में अप्रत्याशित मंदी आयी। थोड़ी बहुत राहत अचानक मिली जब सन् 1931 में बिटेन की मुद्रा में सोने के स्तर से गिरावट आयी। फिर भी यह नुकसान तो पहले ही हो चुका था।

तीसरे दशक की बजट संबंधी नीतियां निश्चित रूप में अपस्फीति की थी और वह देश जिसने वर्षों तक अपने भुगतान संतुलन के रूप में सोना प्राप्त किया हो, अब अपनी हानि का पूरा करने के लिए सोने को अत्यधिक मात्रा में बाहर

जाता देख रहा था। इससे देश की मुद्रा को दूरस्थ और असंबद्ध स्टर्लिंग के साथ जोड़ने में जो जोखिम था वह उद्‌घाटित हो गया था। यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी कि संरक्षण के मामले ने, जो कुछ वर्षों तक गहरे विवाद का विषय बना रहा था, अब विनिमय के विवाद को गौरवपूर्ण स्थान प्रदान कर दिया। इस विनिमय संबंधी विवाद में न केवल शिक्षाविद् और व्यक्तिगत राजनीतिज्ञ ही सम्मिलित थे वरन् महान अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी भी शामिल थी।

जहां संरक्षण सिद्धांत को मान लिया गया था और अमल में भी लाया जा रहा था, इसके प्रभावों को बेकार कर देने के प्रयत्न भी कार्यशील थे। इंपीरियल प्रीफेरैंस का विचार, जिसकी चर्चा सन् सन् 1905 में चली थी और सफलतापूर्वक इसका प्रतिरोध हुआ था, अब फिर अपना अनिष्टकारी सिर उठाने लगा था। सन् 1932 में इंपीरियल प्रीफेरैंस, ओटावा एग्रीमेंट के अंतर्गत, लोकप्रिय जनमत के विरुद्ध, भारत पर थोप दिया गया। इससे भारतीय मंडियों में ब्रिटिश सामान को और ब्रिटिश मंडियों में भारत के कच्चे माल को प्राथमिकता मिली जो वास्तव में–सन् 1915 से पूर्व की स्थिति पर वापिस जाने की स्पष्ट कोशिश थी।

जो भी हो, इस पक्षपातपूर्ण सुरक्षा की प्रतिबंधित और अनिश्चित नीति ने एक दशक के समय में ही आंशिक रूप में ऊंचे दर के राजस्व शुल्क के माध्यम से, सामान्य सुरक्षा की प्रणाली का रूप धारण कर लिया। मुक्त व्यापार नीति के सब दावे छोड़ देने पड़े जब सन् 1931 में इंपीरियल प्रीफेरैंस के बहाने से ब्रिटेन संरक्षक बन बैठा। यह एक दिलचस्प बात है कि घटना चक्र ने आलोचकों के दावों को खंडित किया कि भारत संरक्षण की ऊंची कीमत के बदले में बहुत कम औद्योगिकीकरण का सौदा कर रहा है। इस दौरान राजनैतिक आबोहवा में तेजी से परिवर्तन आ रहा था और इसमें महत्वपूर्ण आर्थिक उलझनें थीं। सन् 1935 के गवर्नमेंट ऑफ इंडिया एक्ट में इसकी चरम सीमा नजर आयी, जिसमें एक जिम्मेदार स्वत्वपूर्ण सरकार पर आधारित अखिल भारतीय संघ का प्रावधान किया गया। राजनैतिक सुधारों में सरकार की आर्थिक और वित्तीय नीतियों में आधारभूत परिवर्तन की बात थी यद्यपि इन सुधारों को कभी पूरी तरह से अमल में नहीं लाया गया। सन् 1935 में रिजर्व बैंक आफ इंडिया की स्थापना से एक समन्वित संघीय वित्तीय संगठन के विकास की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाया गया। सन् 1936 के इंडियन कंपनीज एक्ट के माध्यम से मैनेजिंग एजेंटों की नियुक्ति, उनके कार्यकाल, अधिकार और वेतन के नियमन द्वारा तथा शेयरहोल्डरों की नीतियों और अधिकारों की सुरक्षा द्वारा, संगठन और प्रबंधन संबंधी दुरुपयोगों को रोकने का प्रयत्न किया गया। आर्थिक जागरूकता पर अब राजनैतिक जागरूकता लाद दी गयी थी। संभवतया यह इस देश की राजनैतिक परिपक्वता और भावी आर्थिक मुश्किलों के प्रति तत्परता का संकेत था। देश की प्रमुख

राजनैतिक संस्था, कांग्रेस ने सन् 1938 में नेशनल प्लानिंग कमेटी की स्थापना कर, आर्थिक क्षेत्र में, गंभीरता से और पूरे तौर पर अपने दायित्वों को निबाहा।

पूर्वगामी परिच्छेदों में चर्चित सामाजिक राजनैतिक आर्थिक स्थिति को याद रखना महत्वपूर्ण है क्योंकि युद्ध समय के औद्योगिक विकास पर इसका अत्यधिक प्रभाव हुआ। इससे उस स्थिति की भी आंतरिक जानकारी मिलती है जो युद्ध समय की तेजी से युद्धोपरांत की मंदी, अल्पकालीन नरमी, ग्रेट डिप्रेशन (भारी मंदी) तथा इसके पश्चात धीमी गति से पुनर्लाभ तथा भारतीय मानचित्र पर एक दूसरे विश्व संकट की उभरती छाया, का परिणाम थी।

विकास की आधारभूत संरचना

रेलवे

युद्ध के वर्षों के दौरान रेलवे विस्तार में लगभग ठहराव सा आ गया था। यह पूर्व के वर्षों में हुए तीव्र विकास के विपरीत था। यद्यपि युद्ध और युद्ध के बाद की आवश्यकताओं के कारण रेलवे के महत्वपूर्ण विस्तार का काम समाप्तप्राय हो गया था, इसकी गति में कमी आने का एक और कारण था कि रेलवे विकास अपने उत्कर्ष पर पहुंच गया था और अब इसे भविष्य के लिए एक नया रूप और आकार धारण करना था। मैकेय कमेटी (सन् 1908) ने कुछ समय पूर्व अनुमान लगाया था कि भारत की दीर्घकालीन आवश्यकताओं को देखते हुए 1,00,000 मील लंबी रेलवे पटरी भी कम रहेगी। लेकिन यह भी स्पष्ट था कि विस्तार का मुख्य और विशाल चरण वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में ही पूरा हो गया था। अब इसमें ब्रांच फीडर लाइनों की अत्यधिक आवश्यकता थी। लेकिन वित्तीय कठिनाइयों के नाम पर विस्तार की सभी योजनाओं को स्थगित कर दिया गया। इन सब के बावजूद, जैसा कि हमने देखा, रेलवे प्रशासन रेलवे राजस्व और रेलवे नीतियों में दूरगामी परिवर्तन हो रहे थे।

युद्ध के वर्षों के दौरान, रेलवे पर अत्यधिक दबाव था। यह न केवल सेना और युद्ध सामग्री को देश में ही लाने ले जाने के कारण था वरन् अफ्रीकी युद्ध में रेलवे के लिए स्टाफ और सामग्री की बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के उन पर सौंपे गये दायित्व के कारण था। रेलवे कार्यशालाओं को युद्ध सामग्री के उत्पादन में लगा दिया गया था। परिणामस्वरूप युद्ध के कारण रेलवे की दशा बिगड़ गयी। रेलवे के काम करने का औसत सन् 1913-14 में 34,656 मील से बढ़कर सन् 1918-19 में 36,616 मील तक ही हो पाया।

युद्धोपरांत के वर्षों में गाड़ियों की अत्यधिक कमी नजर आयी। घिसे पिटे

इंजन काम कर रहे थे। वर्कशाप मरम्मत के काम को पूरा कर पाने में असमर्थ थी। इसका सीधा परिणाम था अकुशल और अपर्याप्त मालगाड़ी और यात्री गाड़ी सेवा। युद्ध वर्षों के समय की अपेक्षा सन् 1919-20 के युद्धोपरांत के समय में यह एक बहुत बड़ा अवरोध तथा जनता के क्रोध का कारण सिद्ध हुआ। परिणामस्वरूप, रेलवे पर सरकारी स्वामित्व के पक्ष में प्रबल जनमत बन गया।

सन् 1921 के बाद आयी मंदी से रेलवे दबाव कुछ कम हुआ, लेकिन इनके संचालन के ऊंचे परिव्यय के कारण, सन् 1900 के बाद के वर्षों में पहली बार रेलवे के सामने कठिनाई आयी। लेकिन सौभाग्यवश यह कठिनाई अल्पकालीन ही थी क्योंकि आगामी दो वर्षों के अंतर्गत ही, उद्योग और व्यापार में फिर से वृद्धि हुई, और रेलवे सेवाओं में भी सुधार और मजबूती आयी। रेलवे राजस्व ने भी जो कि सन् 1924 में सामान्य राजस्व से अलग कर दिया गया था, अभूतपूर्व सफलता दिखायी जब तक कि, एक बार फिर, ग्रेट डिप्रेशन के कारण एक जोरदार और दीर्घकालीन संकट का सामना न करना पड़ा।

एक्वर्थ कमेटी की रिपोर्ट के परिणामस्वरूप, विस्तार की भव्य योजनाएं बनायी गयीं। इन योजनाओं के अंतर्गत आने वाले वर्षों में, प्रति वर्ष एक हजार मील नयी रेलवे लाइनें बनाने की बात थी। ये लाइनें अधिकांशतः शाखा तथा पूरक लाइनें थीं। लेकिन वास्तविक रूप में, ग्रेट डिप्रेशन के कारण वार्षिक लक्ष्य का आधा भी पूरा नहीं किया जा सका और सन् 1930 के बाद सारा नया काम रोक दिया गया। रेलवे फाइनेंस कमेटी के सुझाव पर 150 करोड़ रुपये की लागत की पुनर्स्थापना की योजना का इंचेप (Inchape) कमेटी ने वित्तीय कठिनाइयों के कारण विरोध किया। लेकिन सन् 1924-32 के दौरान, जो अप्रत्याशित समृद्धि का समय था, रेलवे के लिए भी सफलता का स्वर्णयुग आया। पूर्व अनुमोदित योजनाओं को वे शीघ्रता से क्रियान्वित करना चाहते थे। इस प्रक्रिया में मूल्य संबंधी सभी अनुमान उलट पुलट हो गये और जहां इस समय में कुल जमा पूंजी में 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई, ब्याज में 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई। संचालन की अनुदान राशि में भी वृद्धि हुई तथा युद्ध समय और युद्ध के फौरन बाद के वर्षों की 46 से 57 प्रतिशत की तुलना में, दूसरे दशक में यह दर 65 और 76 प्रतिशत के बीच रही।

रेलवे की बचतें, जो सामान्य आमदनी में जोड़ी जाती थी, युद्ध के वर्षों में तथा फिर सन् 1924-32 में अच्छी खासी थी। ये बचतें पहले समय में औसतन 11.5 करोड़ रुपये वार्षिक थीं और दूसरे समय में रिजर्व फंड में 2.8 करोड़ रुपये के योगदान के अतिरिक्त, 5.9 करोड़ रुपये थी। सन् 1931 के बाद, कुल आमदनी में गिरावट आयी, जबकि खर्च ज्यों का त्यों रहा, और इस प्रकार संचालन का अनुपात बढ़ता गया। सन् 1931 से 1937 के मध्य रेलवे से सामान्य राजस्व

को कोई योगदान नहीं मिला। रेलवे की राजस्व स्थिति इतनी खराब थी कि सामान्य बजट से निवेशित पूंजी का ब्याज तक भी उससे नहीं निकल सका। रेलवे ने रिजर्व फंड को समाप्त कर दिया था और अब अवक्षयण कोष में भी हाथ मारना शुरू कर दिया। सन् 1935 में सामान्य राजस्व के सारे भुगतान रोक दिये गये। रखरखाव का काम या तो कम कर दिया गया था अथवा स्थगित। नवीनीकरण अथवा स्थानापन्न के काम में कटौती कर दी गयी थी। सन् 1937 तक स्थिति में सुधार होना शुरू हुआ लेकिन इससे पहले कि रेलवे अपने रखरखाव के काम को फिर से शुरू कर सके और कमियों को पूरा कर सके, दूसरा विश्वयुद्ध शुरू हो गया।

यह स्पष्ट था कि युद्ध और युद्धोपरांत की समृद्धि एक सुदृढ़ वित्तीय प्रबंधन के लिए सहायक नहीं रही थी। रेलवे वित्त व्यवस्था को एक युक्तिसंगत और सफल स्थान दिलाने की दृष्टि से, सरकार ने, इस विषय पर अपनी रिपोर्ट देने के लिए, वेजवुड कमेटी का गठन किया। कमेटी ने अवक्षयण कोष के लिए एक तर्कसंगत आधार, और उचित वाणिज्य विभागों तथा प्रचार और लोक संपर्क के काम में संगठन की आवश्यकता पर बल दिया। यद्यपि रेलवे प्रशासन के कुछ अन्य पहलुओं से संबंधित कमेटी की सिफारिशों को नहीं माना गया क्योंकि सरकार के जिस संघीय ढांचे पर ये आधारित थीं, उसे ही स्वीकार नहीं किया गया, फिर भी इस कमेटी की सिफारिशों ने रेलवे बोर्ड की स्वायत्तता और सत्ता को मजबूत बनाने में सहायता दी।

युद्ध के वर्षों में तथा दूसरे दशक के प्रारंभ में खोली जाने वाली नयी रेलवे लाइनों में आया अवरोध, मंदी से पूर्व के वर्षों में विस्तार की धीमी गति, और तीसरे दशक में एक बार से आया गतिरोध निम्नांकित आंकड़ों से स्पष्ट है। कुल जमा पूंजी में तेजी से वृद्धि हुई, आय में उतार चढ़ाव आये, लेकिन काम करने के व्यय में सापेक्ष रूप से स्थिरता रही। तीसरे दशक में कुल आय में गिरावट आयी।

रेलवे लाइनों में मामूली वृद्धि के विपरीत, ले जाये गये यात्रियों की संख्या और ढोये गये माल की मात्रा में बहुत अधिक विस्तार हुआ। लेकिन इनमें भी सन् 1921 के बाद युद्ध पश्चात की वृद्धि में अचानक रुकावट आने पर और एक बार फिर तीसरे दशक के प्रारंभ में, बहुत अधिक मंदी आने पर एकदम गिरावट आयी। ढोया गया माल सन् 1914-15 में 8 करोड़ 10 लाख टन से बढ़कर सन् 1929-30 में 8 करोड़ 76 लाख टन तक हो गया, सन् 1924-25 में 7 करोड़ 78 लाख टन तक रहा तो सन् 1928-29 में सबसे अधिक 11 करोड़ 98 लाख टन तक पहुंचा। इसके बाद, मंदी आते ही, रुख पलट गया जब तक कि तीसरे दशक के अंत तक यह फिर से व्यवस्थित नहीं हुआ। ढोये गये यात्रियों की संख्या सन् 1913-14 में 45 करोड़ 70 लाख थी। सन् 1921-22

में यह 57 करोड़ हो गयी और एक दशक बाद यह संख्या गिरकर 50 करोड़ 60 लाख रह गयी।

तालिका 6.1
रेलवे की प्रगति 1913-39 करोड़ रुपये में

वर्ष	*नयी रेलवे लाइनों की लंबाई (मीलों में)*	*कुल जमा*	*कुल प्राप्ति*	*संचालन व्यय*	*शुद्ध प्राप्ति*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*
1913-14	34,656	495.09	63.59	32.93	30.66
1918-19	36,616	549.74	86.29	41.80	44.49
1921-22	37,266	647.97	92.89	70.80	22.09
1929-30	41,724	856.75	116.08	75.49	40.59
1934-35	43,021	885.47	102.81	70.60	32.21
1938-31	41,134	847.82	107.15	71.19	35.96

1(1937-38 में भारत से बर्मा के अलग हो जाने के कारण नयी रेलवे लाइनों की लंबाई में कमी आयी)

भारतीय रेलवे में मार्ग विद्युतीकरण का काम सबसे पहले सन् 1925 में प्रारंभ हुआ और आगामी कुछ वर्षों में ही काफी पूंजी लगाकर इस कार्य को आगे बढ़ाया गया। मार्गों के दोहरीकरण और चौहरीकरण, पुलों के निर्माण और मजबूतीकरण, वर्कशापों में सुधार, और यात्री सुविधाओं में विस्तार, आदि की अनेक योजनाएं इस दौरान चालू की गयीं।

नयी लाइनों के निर्माण का कार्य धीमी गति से चला लेकिन थोड़ी बहुत जो भी लाइनें बनीं, उनसे कुछ कमी पूरी हुई, नये क्षेत्र खुले और नये केंद्रों से संपर्क हुआ। तथापि, दूसरे दशक में बनायी गयी, ग्रामीण क्षेत्रों को मिलाने वाली पूरक लाइनों (फीडर लाइनों) की योजनाओं के क्रियान्वयन में अधिक प्रगति नहीं हुई।

रेलवे किरायों में संशोधन के विचार से सन् 1924 में एक रेलवे रेट्स ट्रिब्युनल की नियुक्ति की गयी। इसके बाद सन् 1926 में जनता के हितों की सुरक्षा और उनकी शिकायतों को सुनने के लिए एक रेलवे एडवाइज़री कमेटी की नियुक्ति हुई। फिर भी, दर नीतियों में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। यात्रियों और माल के लिए वसूल किये जाने वाले अधिकतम किराये में, सन् 1917 में, अधिभार (सरचार्ज) जोड़ दिया गया, सन् 1921 में इसमें वृद्धि कर दी गयी। अगले वर्ष सभी अधिकतम दरों में स्थायी तौर पर वृद्धि कर दी गयी। इसके बाद कुछ कटौती भी की गयी। पूरे तौर पर, भारत में तुलनात्मक दृष्टि से किराये की दरें कम ही थीं। वर्तमान परिस्थितियों में यह संभवतः ठीक ही था क्योंकि किरायों और

ढुलाई की दरों में की जाने वाली किसी भी वृद्धि का आमदनी पर उल्टा ही प्रभाव होता। प्रथम और द्वितीय श्रेणी के किरायों में की गयी वृद्धि का अनुभव यही रहा था। इससे यात्री राजस्व में दस प्रतिशत की भी वृद्धि नहीं हुई और जैसा कि गत शताब्दी में एक रेलवे अधिकारी ने कहा था कि रेलवे प्रत्येक प्रथम श्रेणी के यात्री को यात्रा न करने के लिए 20/- (बीस रुपये) प्रति यात्री की दर से भुगतान खुशी से दे सकती है, उच्च श्रेणी के यात्रियों पर रेलवे का इतना अधिक नुकसान था। लेकिन तीसरी श्रेणी के किराये भी, जो रेलवे राजस्व के लिए मेरुदंड थे और सदा बने रहे, इसके संभवतयाः अपवाद नहीं थे। माल ढुलाई की दरें भी संसार भर में सबसे कम थीं और इस देश की विचित्र स्थितियों को देखते हुए यह ठीक ही था। महाद्वीपीय विस्तार के देश में, जहां कम कीमत के अधिक माल का परिवहन दूरस्थ ठिकानों तक होता हो, जैसाकि अमेरिका में होता है, यथासंभव दरों में कमी से परिवहन को प्रोत्साहन मिलेगा और आनुपातिक रूप में राजस्व में भी वृद्धि होगी। वास्तव में, वर्तमान दरों पर दूर दूर स्थानों तक कोयले की ढुलाई में नुकसान था और काफी स्थानों पर आयातित कोयला सस्ता भी पड़ता था। इसलिए, दर नीति में युक्तिसंगत संशोधन के काफी अवसर थे, जो इसके विरोध में उठी आलोचनाओं को दूर करने के लिए ही नहीं वरन् नयी रेलवे व्यवस्था के संदर्भ में भी आवश्यक था। निस्संदेह, किराये दर से परिवहन लागत मूल्य का कुछ पता नहीं चलता जब तक कि इसका संबंध बदले में प्राप्त सेवा की गुणात्मकता से न हो, और प्राप्त सेवा निश्चित रूप से बहुत खराब थी। इस कारण, यहां नीतियों की जांच पड़ताल की आवश्यकता एक और पहलू से थी। युद्ध और मंदी के भार से प्रताड़ित होने के कारण, रेलवे अधिक कुशल और सक्षम सेवाएं नहीं दे सकीं लेकिन सभी कमियों के लिए आर्थिक परिस्थितियों को दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

सड़क और जहाजरानी

जहां रेलवे उन्नति के पथ पर अग्रसर थी, सड़क परिवहन की ओर सामान्यतः कोई ध्यान नहीं दिया गया। गत शताब्दी के बदलते बदलते, देश में 37,000 मील पक्की सड़कें और 1,36,000 मील कच्ची सड़कें बन गयी थीं। आगामी चार दशकों में 22,000 मील लंबी पक्की सड़कें बन गयी थीं। दूसरी ओर तीसरी श्रेणी की कच्ची सड़कें अधिकांशतः अच्छे मौसम की सड़कें थीं जिन पर स्थापित तौर पर पुल नहीं थे और वर्ष के कुछ समय में उनका प्रयोग नहीं हो सकता था।

सन् 1914 से पहले भारत में स्वचालित वाहन मुश्किल से ही होते थे। लेकिन इसके बाद इनकी संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। रेलवे के पूरक के रूप में ट्रकों

से माल ढोने का काम बढ़ने लगा। मोटर कारों का आयात सन् 1913 में 3000 प्रतिवर्ष से बढ़कर अवक्षयण से पूर्व, 20,000 प्रतिवर्ष तक हो गया। यह संख्या सन् 1932-33 में घटकर 6,000 से कुछ ऊपर तक रह गयी लेकिन सन् 1937 के बाद यह बढ़कर 16,000 तक पहुंच गयी। इतनी ही संख्या में, इन दिनों में प्रत्येक वर्ष व्यापारिक वाहनों का आयात होता था।

इसी दौरान, सड़कों की स्थिति में सुधार के प्रयत्न जारी थे। दी इंडियन रोड डेवलपमेंट कमेटी ने सन् 1928 में एक सेंट्रल रोड फंड की स्थापना की सिफारिश की जो अगले वर्ष स्थापित भी हो गयी। कमेटी की दूसरी सिफारिशों, जैसे समय समय पर कांफ्रेंस करना, रोड टैक्स को समाप्त करना आदि को भी लागू किया गया। सन् 1935 में रेल और सड़क परिवहन में समन्वय करने के लिए एक ट्रांसपोर्ट एडवाइजरी कौंसिल बनायी गयी। जैसे जैसे सड़क परिवहन की महत्ता बढ़ रही थी, रेल सड़क के समन्वय की आवश्यकता को भी महसूस किया गया, यद्यपि सड़क परिवहन तब तक मुख्य रूप से रेलवे के एक पूरक के रूप में ही काम कर रहा था।

आंतरिक जल परिवहन महत्वपूर्ण नहीं था, लेकिन तटीय और अंतर्राष्ट्रीय जहाजरानी में काफी वृद्धि हो रही थी। भारत के विदेशी व्यापार को सन् 1850 के बाद अचानक बढ़ावा मिला और स्वेज नहर के खुलने से यह अप्रत्याशित रूप से चमक उठा। लेकिन भारत के पास बंदरगाह की सुविधाएं पर्याप्त नहीं थीं और इसे अपने थोड़े बहुत उपलब्ध बंदरगाहों से ही तेजी से बढ़ते व्यापार का काम चलाना पड़ता था। सन् 1919 तक 10 करोड़ रुपये की लागत से एक योजना को लागू किया गया जिससे बंबई बंदरगाह पर उपलब्ध सुविधाओं में काफी विस्तार हुआ। यद्यपि इसी प्रकार की एक छोटे स्तर की योजना, सन् 1913 में कलकत्ता के लिए बनायी गयी और इसका क्रियान्वयन युद्ध के वर्षों में ही किया गया।

लोहा अथवा इस्पात के भाप चालित जहाजों की शुरुआत से पहले भारत के पास अच्छा खासा जहाजरानी निर्माण उद्योग तथा जहाजी बेड़ा था। 1850 और सन् 1920 के दौरान भारत के विदेशी व्यापार में लगभग 20 गुनी वृद्धि हुई लेकिन जहाजरानी को देश से समाप्तप्राय कर दिया गया। तेजी से बढ़ता यह विदेशी व्यापार विशाल मंडियों का संकेत था जो भारतीय माल के लिए, विशेषकर, कृषि संबंधी माल और भारत में विदेशी वस्तुओं के लिए खोली जा रही थी।

आंतरिक व्यापार का विस्तार धीमी गति से हुआ। यह अन्य देशों में हुए विकास के बिल्कुल विपरीत था। जहां रेलवे ने इस संबंध में अपनी भूमिका अवश्य निबाही, वह अर्थव्यवस्था की आंतरिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए पूरी तरह से सक्षम नहीं थी और परिवहन के अन्य आधुनिक साधन, जैसाकि हमने देखा, अभी अपना स्थान नहीं बना पाये थे। नागरिक उड्डयन में अभी

केवल शुरुआत ही हुई थी। इस कारण रेलवे लगातार तनाव में रहा और इसने एक तरह से भीड़-भाड़, परेशानी और अपर्याप्तता का चित्र ही प्रस्तुत किया।

परिवहन और संचार व्यवस्था ने जो युद्ध के दौरान और बाद के वर्षों में विकसित हुई, देश में आर्थिक परिवर्तन की पृष्ठभूमि तैयार की। यदि यह स्थानीय व्यापार और निर्माण के विकास के लिए पूरी तरह से निर्देशित होती, और व्यापारियों की ओर से ठीक प्रतिक्रिया मिलती तो वास्तविक रूप से आर्थिक परिवर्तन हो गया होता। अब देश के सामने मुख्य प्रश्न बुकानन के अनुसार, विदेशी मंडियों को हथियाने का नहीं था वरन् विदेशियों द्वारा हथियायी गयी स्वदेशी मंडी को फिर से प्राप्त करने का था। अतीत में इसकी जो भी दिशाएं रही हों तथा वर्तमान में इसकी जो भी सीमाएं रही हों, रेल सड़क जहाजरानी परिवहन का एक जाल बिछ गया था और यह व्यापार और औद्योगिक विकास के लिए पर्याप्त संभावनाओं के साथ एक अचल उपलब्धि थी।

कोयला तथा अन्य शक्ति संसाधन

जैसाकि हमने देखा, कोयला उत्पादन, यद्यपि तेजी से बढ़ रहा था, युद्ध पूर्व के वर्षों में, मांग के साथ अपना तालमेल नहीं रख पा रहा था। युद्ध छिड़ने पर, उद्योगों को आरंभिक धक्का लगा परंतु शीघ्र ही वे संभल गये और उन्हें विस्तार के लिए अप्रत्याशित अवसर मिले। आयात में रुकावट आ गयी थी और युद्ध की बढ़ती हुई मांग को पूरा करना आवश्यक था। कोयला उद्योग भी इसका अपवाद नहीं था। बढ़ती हुई कमी के कारण, सरकार को एकाधिकार द्वारा प्राप्त, निर्यात पर प्रतिबंध तथा मूल्य और वितरण नियंत्रण जैसे साधना द्वारा हस्तक्षेप करना पड़ा। कोयला उद्योग, जिसने युद्ध पूर्व के वर्षों में निश्चित रूप में उन्नति की थी, सन् 1921 तक अभूतपूर्व विकास के शिखर पर पहुंच गया। युद्ध के प्रारंभिक वर्षों में परिवहन संबंधी कठिनाइयों के कारण विकास की गति धीमी रही, यद्यपि उद्योगों की तरफ से, विशेषकर, रेलवे की तरफ से कोयले की मांग बढ़ती ही रही। कोयले के तटीय जहाज लदान में रुकावट आ गयी और कोयले के परिवहन का पूरा भार रेलवे पर आ गया।

सन् 1921 के बाद, इस उद्योग ने देखा कि इसका कुछ विदेशी बाजार समाप्त हो गया है और इसके साथ ही इसे अफ्रीका के कोयले की प्रतियोगिता में आना पड़ रहा है। स्वदेशी मार्किट में इसने अपने पांव पूरी तरह जमा लिये थे। कोयले का उत्पादन सन् 1913 में 1 करोड़ 60 लाख टन से बढ़कर सन् 1920 में 2 करोड़ टन तक पहुंच गया था। इसके बाद उत्पादन में थोड़ी गिरावट आयी लेकिन शीघ्र ही वह संभल गया और सन् 1926 में फिर 2 करोड़ टन तक पहुंच गया।

इस अवधि में कुल खपत में स्वदेशी कोयले का हिस्सा बढ़ता ही जा रहा था। यह युद्ध पूर्व के 94 प्रतिशत के औसत से बढ़कर सन् 1919-23 में 98 प्रतिशत के औसत तक हो गया। निर्यात युद्ध पूर्व के 8 लाख से अधिक के वार्षिक औसत से गिरकर युद्ध के दिनों में आधा रह गया। सन् 1929-30 में इसे बढ़ाकर 7 लाख टन तक किया गया लेकिन मंदी के प्रारंभिक वर्षों में यह गिरकर 5 लाख तक आ गया। दूसरी ओर अफ्रीकी कोयले का आयात दस लाख टन प्रति वर्ष औसतन था।

भारतीय कोयला उद्योग के पास छोटी सी निर्यात मंडी थी जिसको वह संजोकर विकसित कर सकता था। यह एक अदूरदर्शितापूर्ण नीति थी कि बढ़ती हुई घरेलू खपत की खातिर विदेशी मंडियों को खो दिया गया। दक्षिण अफ्रीका सरकार की नीति इसके ठीक विपरीत थी जिसके अंतर्गत विदेशी मंडियों में जमने की खातिर इसने अपने उद्योग को काफी सहायता दी। ऐसे मामलों में जैसा कि होता आया है, यदि सरकार की नीति सकारात्मक रूप में सहायक नहीं थी, इस उद्योग का आचरण भी दोषमुक्त नहीं था। इन्होंने घटिया किस्म का कोयला निर्यात कर विदेशी खरीदारों का विश्वास खो दिया। यहां तक कि घरेलू उपभोक्ता भी संदेह करने लगा। बंगाल के कोयले के लिए, बंबई की मंडी में दक्षिण अफ्रीकी कोयले का सफलतापूर्वक मुकाबला करना संभव हो सकता था लेकिन जिस सामान्य अविश्वास के साथ स्थानीय पूर्ति को देखा गया उसके कारण यह नहीं हो सका। रेलवे की दर नीति भी स्थानीय कोयले की प्रतियोगितात्मकता को बढ़ाने की दृष्टि से नहीं बनायी गयी थी। यह कभी आंशिक रूप में सन् 1924 में पूरी की गयी जब ईस्ट इंडियन और बंगाल नागपुर रेलवे ने निर्यात किये गये सभी कोयले पर 25 प्रतिशत की छूट दी। अगले वर्ष, इंडियन कोल कमेटी ने, निर्यात में गुणात्मकता और मूल्य की महत्ता को समझते हुए, केवल प्रथम श्रेणी के कोयले के निर्यात की सिफारिश की और रेलवे छूट को भी 37½ प्रतिशत तक बढ़ा दिया। उसी वर्ष ग्रेडिंग बोर्ड बना दिया गया। इन सब कार्रवाइयों का निर्यात पर ठीक प्रभाव हुआ जिसने सन् 1925 के बाद काफी लाभ दिखाया।

युद्ध वर्षों में कोयले के उत्पादन और खपत में निरंतर वृद्धि होती गयी। रेलवे के अतिरिक्त जो रेलवे कोयले का मुख्य उपभोक्ता है, लोहा और इस्पात उद्योग की शुरुआत ने भी कोयला खपत को बढ़ावा दिया। सन् 1931-34 के मंदी के वर्षों के सिवाय, उत्पादन में प्रतिवर्ष वृद्धि होती गयी। मंदी से पहले के वर्ष 1931 में, यह 2 करोड़ 10 लाख टन से बढ़कर सन् 1936 में 2 करोड़ 20 लाख टन हो गयी और सन् 1938 में 2 करोड़ 80 लाख टन हो गयी। तब भी भारत में प्रति व्यक्ति खपत तुलनात्मक रूप में बहुत कम रही, सन् 1927 में केवल 0.07, इसके विपरीत अमेरिका में 4.7 टन और ग्रेट ब्रिटेन में, 2.6

टन। कोयले का मूल्य, अपने स्वर्ण युग में भी संसार में सबसे कम होने के बावजूद बिल्कुल ही कम रहा और उत्पादन की कीमत, सन् 1921 में सबसे ऊंची 13 करोड़ रुपये रहकर सन् 1931 में 8 करोड़ रुपये रह गयी और सन् 1936 में फिर 6 करोड़ रुपये रह गयी। सन् 1938 में यह धीरे धीरे बढ़कर 10.6 करोड़ रुपये तक पहुंची।

उद्योग की यह मंदी की स्थिति इसकी अपनी आंतरिक कमियों और पनबिजली तथा तेल के रूप में इसके विकल्प के आ जाने के मिश्रित प्रभाव के कारण थी। युद्ध के बाद के विकास के दिनों में अनेक नयी खानें खुदीं। लेकिन इसके परिणामस्वरूप आये आर्थिक संकट और बाद में मंदी ने छोटी और कम कुशल इकाइयों को मैदान से खदेड़ बाहर किया। कोयला उद्योग, फिर भी काफी फैला रहा और इसमें अनेक छोटी छोटी ऐसी कोयला खानें थीं जो आधुनिक मशीनों और विद्युतीकरण को जुटाने में असमर्थ थी। कुछ उद्योगों में, मशीनों का पूरी तरह से या उचित रूप में उपयोग नहीं हुआ था या इनको जंग लगने के लिए छोड़ दिया गया था। छोटी छोटी इकाइयों का प्रबंध करने वाली अनेक कंपनियों के बन जाने का परिणाम था, अनार्थिक स्तर पर उत्पादन, बहुत अधिक ऊपरी खर्चे, और बहुत कम लाभ। जैसाकि कोल कमेटी ने पाया कि सन् 1924 में उत्पादन मूल्य युद्ध पूर्व के मूल्यों की अपेक्षा 50 प्रतिशत अधिक था। इस कमेटी ने खानों के मशीनीकरण और कोयले के ऐसे एकत्रीकरण से बचने की सिफारिश की, जिसमें कोयले के खराब होने और चोरी होने का अंदेशा हो। खोखली खानों और सस्ते श्रम के बावजूद, संगठन की उपर्युक्त कमियों, उत्पादन के तरीकों और घटिया किस्मों ने गंभीर अवरोध पैदा किये। यह उद्योग सबसे अधिक बेढंगे तरीके से संगठित उद्योगों में से एक था जो फैक्ट्री के आकार के तो कहीं भी आसपास नहीं था। श्रमिक अकुशल थे और मुख्य रूप से तथा स्वभाव से किसान ही थे।

टैरिफ बोर्ड को ऐसा कुछ नहीं लगा कि कोयला उद्योग को संरक्षण की आवश्यकता है, क्योंकि कोयला खपत के उद्योगों जैसे लोहा और इस्पात को दिया गया संरक्षण ही इसके लिए पर्याप्त संरक्षण था। फिर भी, भारतीय कोयला पश्चिमी भारत में नाजुक स्थिति में था, और पहले से मिल रही रेलवे छूट तथा इसके समान ही अफ्रीकी कोयले पर लगाये गये शुल्क के मिश्रित प्रभाव ने देश के इस भाग में इस उद्योग की स्थिति को संभवतया मजबूत किया होगा।

कोयले का विकल्प

कोयला उद्योग की प्रगति पूरे तौर पर संतोषजनक थी और उद्योग तथा रेलवे की आवश्कताओं के अनुरूप ही थी। फिर भी, इसकी विचित्र भौगोलिक स्थिति

ने इसके उत्पादन को दूरस्थ औद्योगिक केंद्रों जैसे बंबई और मद्रास पर अनार्थिक बना दिया। इसलिए तेल और विद्युत जैसे विकल्प प्रचलन में आये। बंबई की अधिकांश मिलों ने जलीय विद्युत शक्ति का उपयोग शुरू कर दिया था और शेष ने तीसरे दशक तक तैलीय ईंधन का। यही पूरे दक्षिण भारत में हुआ। बंदरगाहों पर तेल तटीय कोयले के मुकाबले में था। एन. डब्लू. और जी. आई. पी. रेलवे के कुछ भागों में रेलवे का विद्युतीकरण हो गया था। बिजली बंगाल के कोयले से सस्ती नहीं थी लेकिन यह साफ सुथरी और विश्वसनीय थी।

बर्मा आयल कंपनी सन् 1886 में बनी, और इसके बाद सन् 1899 में असम आयल कंपनी। लेकिन पेट्रोलियम उद्योग का विकास धीमी गति से चला। पेट्रोलियम संसाधन मुख्य रूप से बर्मा तक ही सीमित थे और अधिकांश उत्पादन मुख्य देश को ही दिया जाता था। बर्मा आयल कंपनी अपनी रंगून की रिफाइनरी में कच्चे तेल को साफ करती थी और अपने उत्पादन का वितरण जो मुख्यतः मिट्टी का तेल था, प्रधान भारतीय बंदरगाहों पर लगे टैंक प्रतिष्ठानों के द्वारा तथा स्टीम टैंकरों के द्वारा करती थी। इनके अतिरिक्त, असम और कटक में तेल भंडार थे लेकिन वे तुलना में छोटे थे। असम ने स्पष्ट संभावनाएं दिखायीं और दूसरे दशक के दौरान इसका विकास तेजी से किया गया। सन् 1924 में, बर्मा का उत्पादन 2534 असम का 335 तथा अटक का 192 लाख गैलन था। पैट्रोल और मिट्टी के तेल की मांग तेज़ी से बढ़ रही थी और इसके अनुसार आयात में भी वृद्धि हो रही थी। जहां पेट्रोल का आयात अभी कम था, मिट्टी के तेल का काफी था, क्योंकि आंतरिक उत्पादन से मांग का केवल 40 प्रतिशत ही पूरा हो सकता था। सन् 1934-35 में बर्मा ने मुख्य देश को 1830 लाख गैलन तेल (मिट्टी का तेल मुख्यतः) दिया जबकि आयात इस वर्ष में 2010 लाख गैलन हुआ। जब सन् 1937 में बर्मा अलग हो गया, देश में कोई वास्तविक तेल क्षेत्र नहीं बचा।

युद्ध के वर्षों में जलीय विद्युत शक्ति उत्पादन की शुरुआत भी हुई और थोड़ा विस्तार भी हुआ। इससे औद्योगिक शक्ति में एक नयी आशा जगी और औद्योगिक विकास में क्रांतिकारी आयाम जुड़े। भारत में उत्पादित प्रथम जलीय विद्युत का प्रयोग कोलार की स्वर्ण खानों के विद्युतीकरण के लिए किया गया। लेकिन पानी से बिजली पैदा करने की पहली विशाल योजना महान औद्योगिक दूरद्रष्टा, जमशेद जी टाटा ने बनायी। दी टाटा हाइड्रो इलैक्ट्रिक सप्लाई कम्पनी लि. की स्थापना सन् 1910 में हुई जिसका उद्देश्य पश्चिमी घाटों के मानसूनी पानी का उपयोग करना और 1.75 करोड़ रुपये की पूंजी से 30,000 हॉर्स पावर की बिजली उत्पादन करना था। शीघ्र ही इसकी क्षमता 40,000 हॉर्स पावर कर दी गयी और पूंजी 3 करोड़ रुपये। बिजली का वितरण सन् 1915 में शुरू हो गया।

पहली कोशिश में अभूतपूर्व सफलता मिली, इसके बाद एक के बाद एक करके अनेक ऐसे कार्य शुरू हुए, जिनमें प्रमुख कार्य टाटा द्वारा ही संचालित थे। दी आंध्र वैली पावर कंपनी ने बंबई शहर और द्वीप को बिजली देने की योजना बनायी और आस पास के कुछ स्थानों पर बिजली उत्पादन का काम सन् 1922 में शुरू हुआ। इन सब में सबसे बड़ा था टाटा पावर कंपनी का काम जिसमें 10 करोड़ रुपये की पूंजी लगी थी। सन् 1927 में इसके पूरा होने पर टाटा कंपनीज की क्षमता 2,46,000 हॉर्स पावर तक बढ़ गयी। इससे बंबई शहर और इसके उद्योगों ट्रामवेज़ तथा उपनगरीय रेलवे की बिजली की आवश्यकताओं की पूर्ति हुई।

मैसूर के पास अपनी क्षमता को 89,000 हॉर्स पावर तक बढ़ाने की दो योजनायें थीं। हैदराबाद और कश्मीर ने भी अपने अपने लघु क्षमता के उत्पादन केंद्र बनाये। पंजाब और मद्रास में भी तीसरे दशक में ज़ोरदार विकास दिखाई दिया जिसने आने वाले वर्षों में इन क्षेत्रों में कृषि उन्नति और ग्रामीण विकास की आधारशिला रखी। बाद की योजनाओं, जैसे मद्रास में पयकारा और मैसूर, को सिंचाई सुविधाओं के साथ मिला दिया गया।

भारत ने, दूसरे विश्वयुद्ध से पूर्व, एक 4,00,000 हॉर्स पावर अथवा 3 लाख किलोवाट की क्षमता का उत्पादन संस्थान बनाया। लेकिन यह बिजली किसी भी तरह सस्ती नहीं थी, फिर भी इस देश के अविकसित शक्ति संसाधनों को देखते हुए इसका स्वागत किया गया। सस्ती और पर्याप्त बिजली औद्योगिकीकरण के लिए एक शक्तिशाली उत्तोलक होती है। लेकिन भारत में बिजली न तो सस्ती थी और न ही पर्याप्त। भारत में जलीय विद्युत में, मानसून के मौसमी स्वभाव के कारण, ऊपरी खर्चे काफी अधिक होते थे। मानसून की कमी अथवा विफलता पानी की पूर्ति में अनिश्चितता उत्पन्न कर देती थी। भारत में बिजली की दर प्रति इकाई, कुछ पश्चिमी देशों की तुलना में, पांच से दस गुनी अधिक थी। दर का भी महत्व कुछ नहीं रह जाता जब बिजली की खपत उत्पादन के खर्चों के अनुपात में बहुत कम हो। लेकिन, बिजली चालित उद्योगों में इसको सीमित करना आवश्यक हो जाता है। बंबई में, तीसरे दशक में प्रति इकाई दर 6 पाई थी जो पूरे देश में सबसे सस्ती थी और इस दर पर वाष्प एक गंभीर चुनौती थी।

जल योजनाओं के संचालन खर्च बिजली के अन्य संसाधनों की तुलना में कम थे और जैसे जैसे अधिकतम उपभोग की स्थिति आती लागत भी प्रति इकाई दर से कम हो जाती। इसका अर्थ था, रात्रिकालीन पालियों के द्वारा प्रयोग का उचित विभाजन, निर्माण तथा आर्थिक संचालन में मौसमी सामंजस्य, उपभोग की इकाइयों का क्षेत्रीय वितरण, सिंचाई के साथ बिजली उत्पादन का ताल मेल आदि आदि। म्युनिशन बोर्ड ने हिसाब लगाया कि यदि उचित परिस्थितियों में सर्वाधिक अच्छे ढंग से बिजली उपलब्ध करायी जाय तो उसकी दर दो पाई प्रति इकाई

आयेगी। लेकिन यह एक प्रकार की खामख्याली ही लगती थी। बिजली की अधिक कीमत ही भारतीय उद्योगों पर अंतिम रुकावट लग रही थी जब तक कि भविष्य की बिजली की सारी योजनाओं का ध्यानपूर्वक गठन और क्रियान्वयन न हो जाये और उनका समन्वय बिजली उपभोक्ता उद्योगों के साथ न बैठाया जाये। बिजली एक महत्वपूर्ण क्षेत्र था जिसमें दीर्घकालीन नियोजन बहुत जरूरी था लेकिन सरकारी हस्तक्षेप और नियंत्रण कहीं नजर नहीं आता था। यह रेलवे निर्माण के प्रारंभ में अपनाये गये सरकारी रवैये के बिल्कुल विपरीत था। यद्यपि रेलवे विकास को निजी उद्यमियों के ऊपर छोड़ दिया गया था, फिर भी सरकार की गहन रुचि और निर्देशन भी इसमें साफ नजर आ रहा था। लेकिन बिजली उत्पादन को पूरी तरह से निजी उद्यमियों, उनके एकाधिकार द्वारा शोषण, और अनियंत्रित विकास पर छोड़ दिया गया था जिसका परिणाम निश्चित रूप से काफी समय के बाद दिखाई देना था।

सूती वस्त्र उद्योग

युद्ध से पहले भारत, अमेरिका, इंग्लैंड और जापान के बाद और इसी क्रम में, चौथा सबसे बड़ा सूती वस्त्र उत्पादक देश बन गया था। युद्ध ने इसे आशंकित मंदी से बचाकर अभूतपूर्व उन्नति के शिखर पर पहुंचा दिया। लेकिन यह उन्नति आरंभ में अनुभव किये गये धक्के के बाद मिली। धक्का भी युद्ध के शुरू होने पर हुई अस्तव्यस्तता के कारण लगा था। इस उद्योग का बाजार महाद्वीप में समाप्त हो गया था। निर्यात करने के लिए माल की उपलब्धि भी काफी कम हो गयी थी और यह खास तौर से चीन को भेजे जाने वाले धागे में हुआ। व्यापारियों के पास स्टाक बढ़ता गया और परिणामस्वरूप मूल्यों में कमी आती गयी। कीमतों के गिरने पर भी आंतरिक मांग में कोई बढ़ोतरी नहीं हुई और व्यापारिक और औद्योगिक केंद्रों में एक तरह का डर फैल गया था।

यह स्थिति कुछ ही समय के लिए थी। ऐसा नहीं कि उद्योग की सभी समस्याएं समाप्त हो गयी थीं। वास्तव में कुछ समस्याएं तो और बढ़ गयी। माल की कमी हो गयी और कुछ हद तक कमी बढ़ भी गयी। इंग्लैंड से आयात भी कम हुआ। लेकिन आंतरिक मांग में तेजी से वृद्धि हुई। यह एक दिलचस्प बात है कि उद्योग के इतिहास में पहली बार मानसून के दौरान होने वाला मौसमी उतार चढ़ाव इतना अधिक साफ तौर से दिखायी नहीं दिया। पारस्परिक व्यापार चक्र चारों तरफ बढ़ती कीमतों के प्रभाव में दब कर रह गया। मानचेस्टर से होने वाले आयात की कठिनाइयों ने विशेषकर ब्लीच और रंगदार माल की कठिनाइयों ने उद्योग के लिए मांग के नये रास्ते खोज दिये। जहां मजदूरी, कच्चे माल की कीमतें तथा अन्य संचालन संबंधी खर्चे स्थिर रहे वहां बाजार की कीमतों में वृद्धि होती

गयी और मिलों ने आशा से अधिक लाभ कमाया। चूंकि नयी क्षमता वाले उत्पादन के लिए मशीनों और उपकरणों का आयात असंभव था, उपलब्ध क्षमता में ही वृद्धि की गयी और इससे मालिकों को, किसी भी नये मुकाबले के डर से मुक्त होकर, अपनी मनमर्ज़ी करने का अवसर मिल गया।

यह भी एक दिलचस्प बात है कि मिल मालिक, जो केवल एक वर्ष पूर्व ही मंदी की संभावनाओं से आशंकित थे, अपने अत्यधिक आत्म विश्वास के कारण कठिनाइयों के भावी तूफान की फरफराहट को भुला बैठे। बाजार पर विक्रेताओं की बढ़ती पकड़ के कारण उनको अब चीन के धागे के निर्यात से होने वाली हानि की चिंता नहीं रही थी। कपड़े और धागे का भंडार बढ़ता जा रहा था और नयी नयी अटकलबाजियों के कारण "प्रति सप्ताह नये नये लखपति" बन रहे थे। सरकार भी अधिक लाभ टैक्स लगा कर और बढ़ी हुई आयकर दरों के द्वारा इस समृद्धि में अपना हिस्सा बांटने के लिए आगे आयी। उपभोक्ता की किसी को भी चिंता नहीं थी, और जैसाकि टैक्स्टाइल ऐसोसिएशन (इंडिया) के एक प्रकाशक के अनुसार, उद्योग और सरकार द्वारा उपभोक्ता के हितों को पूरी तरह से नकारना, "जन प्रशासन के स्तर तथा भारतीय सूती वस्त्र मिलों के अधिकारियों के व्यवहार पर सदैव एक दुखद चर्चा के रूप में याद रहेगी।"

उद्योग भी इस बात से अनजान बैठा था कि जापान इसकी संरक्षित मंडी में स्पष्ट रूप से अपनी गहरी पैठ बना रहा था। कुछ ही वर्षों में, जापान एक गंभीर चुनौती के रूप में उभर आया और इस देश के लिए कभी न समाप्त होने वाली एक चिंता का विषय बना रहा। सरकार द्वारा मूल्य नियंत्रण संबंधी देर से उठाये गये कदमों का असर अच्छा पड़ा, लेकिन तब तक युद्ध समाप्त होने को था, तथा मिल मालिकों और व्यापारियों के सामने संकुचित होती मंडियों के डर की, और बढ़ती हुई जापानी चुनौती की समस्या थी। अटकलबाजियों का चक्र अब उल्टा चलता नजर आ रहा था।

युद्ध का समय, मशीनों और स्टोर के आयात की कठिनाइयों को देखते हुए, उद्योग के लिए, अवरुद्ध विकास का समय था। लेकिन, मोटे तौर पर, युद्ध पूर्व की स्थिति चलती रही।

बंबई में तथा शेष भारत में, मिलों और तकुवों की संख्या तथा उसी अनुपात में उनका वितरण युद्ध वर्षों में स्थिर रहा। फिर भी करघों की संख्या में 25 प्रतिशत की वृद्धि हुई जो धागे के निर्यात व्यापार में और अधिक कमी का संकेत था। धागे का निर्यात, सन् 1914-15 में 1430 लाख पौंड से बढ़कर सन् 1916-17 में 1780 लाख पौंड तक बढ़ने के बाद, सन् 1917-18 में 1300 लाख पौंड और सन् 1918-19 में 730 लाख पौंड तक गिर गया। इस प्रकार, निर्यात भी सन् 1913-14 में कुल उत्पादन के 30.31 प्रतिशत से गिरकर सन् 1916-19 में 11.7

प्रतिशत रह गया। 1927 में जैसा कि टैरिफ बोर्ड की रिपोर्ट में था, यह गिरावट जितनी चीनी और जापानी धागे की प्रतिस्पर्धा तथा ढुलाई की कठिनाइयों के कारण थी उतनी ही विदेशी मंड़ियों की उपेक्षा के कारण थीं जबकि भारतीय मंडियों में लाभ की दरें ऊंचीं भी और लाभ कमाना आसान था।

युद्ध के दिनों में धागे तथा थानों, दोनों के ही आयात में काफी कमी आयी, लेकिन जापान से होने वाले आयात में उसी अनुपात में अच्छी खासी वृद्धि हुई। धागे का आयात, सन् 1914-15 में 429 लाख पौंड से गिरकर सन् 1917-18 में 194 लाख पौंड रह गया और अगले वर्ष (सन् 1919 में) फिर से 381 लाख पौंड तक बढ़ा। सन् 1915-16 में जापान से होने वाला आयात कुल आयात का 1.7 प्रतिशत था। यह 13.6 प्रतिशत अर्थात 40 लाख पौंड तक बढ़ गया तथा बाद में सन् 1918-19 में 72 प्रतिशत अर्थात् 270 लाख पौंड हो गया। बाद के वर्षों में, इंग्लैंड का हिस्सा गिर कर केवल 25 प्रतिशत अर्थात् 90 लाख पौंड तक रह गया। जापान से कपड़ों के थान के आयात में विस्तार भी हुआ लेकिन इतनी तेजी से नहीं जितनी तेजी से धागे का हुआ। जापान से मोटे माल का आयात सन् 1916-17 में 756 लाख गज से (कुल आयात का 9 प्रतिशत) बढ़कर सन् 1918-19 में 2368 लाख गज (35 प्रतिशत) हो गया। सफेद और रंगीन माल के आयात में भी वृद्धि हुई लेकिन मात्रा बहुत कम थी। जापान से आयातित कुल कपड़ा 1918-19 में कुल आयात का 21 प्रतिशत था जबकि लगभग शेष सभी आयात इंग्लैंड से था।

उद्योग की समृद्धि जो सन् 1917 में शुरू हुई, युद्धोपरांत के वर्षों में भी, सन् 1920-21 के विश्व व्यापी व्यापारिक संकट तक चलती रही। युद्ध के बाद, फिर से शुरू किये गये आयात ने थान-कपड़े की बहुतायत कर दी और सन् 1918 के इन्फ्लुएंजा महामारी से हुई घरेलू मांग में कारण तथा अगले वर्ष मानसून की विफलता के कारण, मंदी और अधिक हो गयी। फिर भी इन सब घटकों का निराशापूर्ण प्रभाव कुछ समय अंतराल के बाद हुआ। इस दौरान उत्पादन मूल्य में वृद्धि हो गयी थी। उद्योग ने बढ़ती हुई युद्ध की मांग को पूरा करने के लिए नये नये अकुशल श्रमिकों की नियुक्ति का उपाय अपनाया। दूसरी ओर, सन् 1917 में खाद्य सामग्री की कीमतों में काफी वृद्धि हुई और इससे श्रमिक वर्ग की आर्थिक कठिनाइयां काफी बढ़ीं। मजदूरी में वृद्धि के लिए दवाब बढ़ता जा रहा था जिसका परिणाम था श्रम समस्या। बंबई में सन् 1914 और सन् 1923 के दौरान एक मिल श्रमिक की कुल आमदनी औसत रूप में 80 प्रतिशत से भी अधिक हो गयी और अहमदाबाद में यह दुगुनी हो गयी। सन् 1918 और सन् 1922 के बीच, मिलों अथवा तकुवों और करघों की संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई धागे और कपड़े का उत्पादन पूरी क्षमता से सन् 1918-19 में 6150 लाख पौंड

तथा 3490 लाख पौंड से बढ़कर सन् 1921-22 में क्रमशः 6930 पौंड़ हो गयी।

आगामी कुछ वर्ष स्पष्ट रूप से आर्थिक मंदी के थे। यह एक विश्व व्यापी घटना थी और भारत के आर्थिक विकास में पहली बार इस बात का संकेत मिला कि देश की अर्थव्यवस्था विश्व व्यापार चक्र के भंवर में फंस गयी थी। क्षमता का विस्तार किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं था। लेकिन पहली बार देहात की मिलों ने क्षमता तथा उत्पादन के क्षेत्र में एक खास जगह बनायी। करघों में उपनगरीय मिलों का भाग उत्पादन में 52 प्रतिशत से बढ़कर 62 प्रतिशत हो गया और कपड़ा उत्पादन में यह 57 प्रतिशत हुआ। बंबई मिलों की संख्या 1920-21 में 83 से घटकर सन् 1924-25 में 79 रह गयी और उपनगरीय मिलों की संख्या 162 से बढ़कर 196 हो गयी।

युद्धोपरांत के वर्षों में धागे और कपड़े का निर्यात घटता रहा। जहां सन् 1922 के बाद कपड़े के आंतरिक मूल्य में गिरावट आयी, रुई की कीमतों की प्रवृत्ति इसके विपरीत थी और जैसाकि हमने देखा, समय समय पर मजदूरी में वृद्धि होती रही। उत्पादन मूल्य में 'वृद्धि चिंताजनक दर' से हो रही थी। इस प्रकार लाभ उत्तरोत्तर कम होता जा रहा था। जहां अटकलबाजियों के आधार पर उपनगरीय क्षेत्रों में नये नये मिल खुलने शुरू हुए और जिनमें से कुछ तो समय के साथ लड़खड़ाने भी लगे; बंबई में, जहां सन् 1919 के बाद नये मिल खोलने पर प्रतिबंध लग गया था, यह मैनेजिंग एजेंसियों में बदलाव के रूप में आना शुरू हो गया था और जिसका परिणाम था हर परिवर्तन पर अधिक पूंजीकरण। अत्यधिक उत्पादन के समय में मिल मशीनों की खरीद का आर्डर भेजा जाता था, लेकिन आर्डर और सप्लाई के बीच होने वाला अनिवार्य समय अंतराल कठिनाई पैदा करता था। आयातित मशीनों के मूल्य सन् 1919-20 में 1.31 करोड़ रुपये से बढ़कर आगामी तीन वर्षों में क्रमशः 3.67 करोड़ रुपये, 7.64 करोड़ रुपये तथा 8.49 करोड़ रुपये हो गये। इसके बाद यह गिरकर अगले वर्ष 5.60 करोड़ रुपये, 1924-25 में 2.68 करोड रुपये, और सन् 1925-26 में 2.35 करोड़ रुपये तक आ गये।

संरक्षण के लिए दबाव

उद्योग में मंदी आ जाने से संरक्षण की मांग बढ़ गयी। सामान्यतः यह माना जाता था कि सूती वस्त्र निर्माण उद्योग की स्थिति एक व्यापक घटनाचक्र का ही भाग थी और व्यापारिक मंदी के सभी लक्षण इसमें मौजूद थे। जहां तक मंदी की मात्रा का संबंध था, यह प्रत्येक केंद्र पर अलग अलग थी और बंबई का क्षेत्र उपनगरीय क्षेत्रों की अपेक्षा अधिक प्रभावित था। इसके लिए काफी सीमा तक बंबई के

मिल भी दोषी थे। लाभांश वितरण के लिए अपनायी गयी नीति ने भी एक दिलचस्प स्थिति पैदा की, और मजबूत वित्त प्रबंध के प्रति उनके रुझान का दोषारोपण उन पर हो गया। लाभांश वितरण लगातार बढ़ता ही गया जो सन् 1917 में 1.70 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1920 में सबसे अधिक 5.98 करोड़ रुपये तक पहुंच गया और इसके बाद तेजी से यह घटकर सन् 1925 में 43 लाख रुपये तक पहुंच गया यह सन् 1917-21 के दौरान, प्रदत्त पूंजी का 22 प्रतिशत से 40 प्रतिशत तक रहा और सबसे अधिक इस अवधि में सन् 1919 में रहा। सन् 1922 के बाद, यह एकदम घटकर नीचे 2.2 प्रतिशत तक आ गया। सन् 1923 और सन् 1925 के बीच, लाभांश जमा पूंजी से निकालकर बांटा गया। यह बात इन तथ्यों से भी उभरती है कि न तो अवमूल्यन का कोई ध्यान रखा गया और न ही समृद्धि के दिनों में जमा पूंजी में कोई वृद्धि की गयी। अतिरिक्त कमाया गया लाभ भी लाभांश के रूप में बांट दिया गया। इसके अतिरिक्त यदि तेजी के वर्षों में शुरू की गई नयी मिलों को, जिनके कारण बंबई मिलों की प्रदत्त पूंजी में वृद्धि हुई, गिनती में न लिया जाये, तो प्रदत्त पूंजी पर आधारित लाभांश प्रतिशत सन् 1920 में 47 और सन् 1921 में 40.5 आता है।

इसके विपरीत अहमदाबाद की मिलों ने अवमूल्यन को बट्टे खाते में डालने में नियमित स्तर बना कर रखा और अपने सबसे बुरे समय में यानी सन् 1923-25 के दौरान भी लाभ कमा लिया। उन्होंने सन् 1921 में सर्वाधिक लाभांश अर्थात् प्रदत्त पूंजी का लगभग 61 प्रतिशत का भुगतान किया। अगले वर्ष इस अनुपात को आधा कर दिया गया और इसके बाद इसे कम करके सन् 1923 में 12 प्रतिशत से कुछ अधिक रखा और सन् 1925 में थोड़ा बढ़ाकर 14 प्रतिशत कर दिया। अहमदाबाद की मिलों का इतिहास अधिक प्रभावशाली है क्योंकि जहां बंबई की मिलों ने मैनेजिंग एजेंटों के कमीशन का भुगतान लाभ के एक निश्चित प्रतिशत के रूप में किया, अहमदाबाद की मिलों ने इस ब्रिक्री के निश्चित अनुपात के रूप में दिया। जहां तक दूसरी उपनगरीय मिलों का प्रश्न है टैरिफ बोर्ड को, इनके विस्तृत विकेंद्रीकरण के कारण तथा इनकी विभिन्न परिस्थितियों के कारण, इनके बारे में एक सामान्यीकरण करना कठिन लगा। टैरिफ बोर्ड ने बस केवल इतना ही कहना ठीक समझा कि इनका तथा अहमदाबाद की मिलों का काम ठीक रहा है।

मिल मालिकों की ओर से तर्क दिया गया कि उनके लिए विदेशी प्रतियोगियों द्वारा अनुचित किस्म की प्रतियोगिता के कारण मंदी का मुकाबला करना और अधिक कठिन हो गया है। इसलिए व्यापारिक संरक्षण देने की मांग आयी। संरक्षण की मांग बंबई की मिलों की तरफ से बहुत तेज थी क्योंकि उनके अनुसार जापान की ओर से चुनौती अत्यधिक गंभीर थी। यह पहली बार था कि इस प्रकार का तर्क एक ऐसे उद्योग ने दिया था जो किसी भी प्रकार से अब 'शिशु' नहीं था,

और जो वास्तव में अपने में, एक सुव्यवस्थित उद्यम बनने तक, एक शताब्दी के तीन चौथाई वर्षों का इतिहास, समेटे हुए था। टैरिफ बोर्ड ने इसलिए संरक्षण की आवश्यकता का उचित ढंग से अध्ययन किया और सन् 1927 में इस पर एक रिपोर्ट प्रस्तुत की।

बोर्ड ने अनुमान लगाया कि जापान से आयातित माल के 40 प्रतिशत का भारतीय मिलों के द्वारा उत्पादित माल से सीधा मुकाबला था। यह तीस से नीचे की गिनती के माल में था जिसमें लट्ठा, कमीज का कपड़ा, ड्रिल और जीन आता था। इंग्लैंड से इन श्रेणियों के कपड़ों का आयात बिल्कुल न के बराबर था। तीसरे और चौथे दशक के दौरान उन श्रेणियों में जिनमें उत्पादन कम था किसी भी प्रकार के मुकाबले की बात सोचना कठिन था। इस क्षेत्र में संभवतया: जापान ने इंग्लैंड के निर्यात में कटौती कर, भारत में अपना निर्यात बढ़ा दिया।

बंबई मिलों की ओर से यह तर्क दिया गया कि जापान से आयातित माल की मात्रा की अपेक्षा मूल्यों में कटौती ने इस मुकाबले को अनुचित बना दिया। यह भी दोष लगाया गया कि जापानी उद्योग ने, जोड़ तोड़ से की गयी विनिमय दर, घटिया श्रम परिस्थितियों और पुरस्कारों, अनुदानों और दूसरी सरकारी मदों की शक्ल में अनुचित लाभ उठाये। इसमें कोई संदेह नहीं था कि कुछ समय तक घटती अवमूल्यन की विनिमय दरों से जापानी आयात को लाभ मिला, लेकिन सन् 1925 तक येन (जापानी मुद्रा) की दर सोने के बराबर स्थिर हो गयी थी। जापानी उद्योग में ट्रेड यूनियन का प्रभाव अभी बनना था, जबकि भारत में, खास तौर से बंबई में, यह बहुत प्रबल था। मजदूरी में कमी करने की प्रवृत्ति का भारत में कड़ा विरोध किया गया और बंबई मिलों में बार बार श्रम हड़तालों की बीमारी सी लग गयी थी। जापानी फैक्ट्री एक्ट ने 16 साल से कम के बच्चों की नौकरी की आज्ञा दे दी और बड़े श्रमिकों का काम करने की समयावधि निश्चित नहीं की गयी। इस प्रकार श्रम परिस्थितियां जापान में निश्चित रूप से घटिया थी। बच्चों और स्त्रियों को काम पर लगाने से उनके लिए रात्रि की पाली चलाना संभव हो गया। फिर भी टैरिफ बोर्ड ने गणना की कि इस प्रकार से की गयी उत्पादन मूल्य में बचत इतनी अधिक नहीं थी कि 'मूल्यों में कटौती' संभव हो सके। जापान के पास बेहतर जलवायु तथा सस्ते महिला श्रम की नियुक्ति के संबंध में किसी भी तरह के सामाजिक प्रतिब्रधों के न होने के कारण, वह निश्चित रूप से अच्छी स्थिति में था। यद्यपि कच्चे माल की सप्लाई के बारे में भारत की स्थिति बेहतर थी, जापान को इसमें कोई विशेष दिक्कत नहीं हुई क्योंकि इसे छोटे रेशे वाली रुई के लिए चीन की मंडी और लंबे रेशेवाली रुई के लिए अमेरिका की मंडी से माल मिल सकता था।

टैरिफ बोर्ड को इस बात के मानने में संकोच था कि जापानी उद्योगों को

उपलब्ध विभिन्न प्रकार की रियायतों और लाभ के कारण उनकी प्रतियोगितात्मक स्थिति में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन आया था। बोर्ड के अनुसार जहाजरानी अनुदानों से मिली वित्तीय सहायता ही उनको काफी होनी चाहिए थी। लेकिन इनका यह भी मत था कि सरकारी सहायता लेना कोई अनुचित लाभ नहीं था। इसके अतिरिक्त इनका तर्क था कि उद्योगों को सरकारी सहायता एक सर्वव्यापी बात थी। यदि ऐसा था, तो इसी प्रकार की, यदि कोई विशेष न सही, भारतीय सरकार से प्राप्त सहायता अकाट्य थी, चाहे अनुचित प्रतियोगिता का दोष सिद्ध हुआ हो या नहीं। लेकिन, इन्होंने माना कि अधिकांश 'अनुचित' लाभ अब अतीत की बातें थीं, येन विनिमय की दर वापिस समानता की स्थिति पर पहुंच गयी थी, 10 प्रतिशत का निर्यात पुरस्कार अब 1 अप्रैल 1926 से समाप्त कर दिया गया था, श्रम परिस्थितियों में सुधार हो रहा था, आदि, आदि। इसके बावजूद भी, इनको मानना पड़ा था कि जापानी निर्यात को अतीत में प्रोत्साहन मिला था। यदि ऐसा था तो इस प्रकार के प्रोत्साहन से ही जापान को भारतीय मंडियों में अपनी धाक जमाने में सहायता मिली होगी। इसलिए भारतीय उद्योग को सुरक्षा प्रदान करने का निश्चय उदारात्मक दृष्टि से ही किया जाना चाहिए, न कि किसी परिस्थिति और समय विशेष के संदर्भ में।

उद्यमशीलता का अभाव

उद्योग को विशेषकर बंबई की मिलों को, कुप्रबंध वित्तीय असावधानी और उद्यमशीलता के सामान्य अभावों के दोषों से मुक्त नहीं किया जा सकता। ये कमियां मंदी का कारण नहीं थीं, वरन् इनसे कठिनाइयों में वृद्धि निश्चित रूप से हुई और उद्योग को इन्होंने विशेष रूप से दोषपूर्ण बना दिया। वृद्धि के दिनों में (सन् 1918-23) बंबई मिलों में अधिक पूंजीकरण, संगठनात्मक कमजोरी का अत्यधिक प्रत्यक्ष प्रमाण था।

जैसाकि इंडस्ट्रियल कमीशन ने देखा कि मैनेजिंग एजेंट, जिन्होंने उद्योग के उत्तम पक्ष की नियति का निर्देशन किया था, अपनी सब अच्छाइयों के साथ साथ, "अपने व्यापार के तरीकों में अत्यधिक रूढ़िवादी थे और नये उद्योगों को शुरू करने में अत्यधिक अनिच्छा दिखा रहे थे।" उत्पादन की अपेक्षा व्यापार को प्राथमिकता देने की इच्छा उनके मन में प्रमुख थी जो उनके अपने अतीत में व्यापारी होने का एक मानसिक बोझ मात्र था। इसके अतिरिक्त, बंबई की मिलें कुछ मैनेजिंग एजेंटों के हाथों में ही केंद्रित हो गयी थीं जिसके कारण मंदी के दौरान उनका बोझ भी अधिक बढ़ गया। स्वयं मैनेजिंग एजेंट भी अपनी मिलों के लिए एक बोझ बन गये थे क्योंकि उनका कमीशन, अहमदाबाद की भांति,

बिक्री पर निर्भर था–जो अत्यधिक अविवेकपूर्ण और खर्चीला तरीका था, विशेष रूप से जबकि व्यापार में मंदी हो।

उद्यमशीलता की कमी तथा बंबई मिलों की आलस्यपूर्ण आत्मतुष्टि चीन की धागा मंडी की समाप्ति में स्पष्ट रूप से नजर आ रही थी, जबकि युद्धपूर्व के समय में उनका इसमें एकाधिकार रहा था। जबकि चीन ने सन् 1910 के बाद अपने तकुवों की संख्या में वृद्धि कर ली थी, और सन् 1914 से 1924 के मध्य इसे तिगुना कर लिया था, जापान ने भारतीय निर्यात को चीन के पक्ष में समाप्त कर दिया था, बंबई की मिलें फैलते हुए स्वदेशी मार्किट के लोभ में फंसी रहीं। दूसरी ओर, कपड़े के थानों के निर्यात में इतनी वृद्धि नहीं हुई कि धागे के निर्यात में हुई क्षति की पूर्ति हो सके।

उद्यमशीलता की कमी, विकेंद्रीकरण की दिशा में किसी भी प्रकार के निश्चित प्रयत्नों की कमी में भी प्रतिबिंबित होती थी। बंबई की मिलों में इस बात का अहसास धीरे धीरे हुआ कि केवल कताई की इकाइयों से ही जीवित रहना कठिन होता जा रहा था। कताई और बुनाई की मिश्रित इकाइयों के रूप में सीधा एकजुट होना, 1920 की समाप्ति के आसपास, सामान्य सी बात हो गयी थी। ग्राहकों की बदलती रुचि और आवश्यकताओं के साथ ताल मेल रखने की दृष्टि से उत्पादित माल को विकेंद्रित करने की प्रक्रिया भी कहीं स्पष्ट नही थी। बंबई की मिलों ने इस संबंध में उपनगरीय मिलों की अपेक्षा अधिक ढिलाई दिखायी। विकेंद्रीकरण की आवश्यकता इन बंबई मिलों को अधिक थी क्योंकि वे उपनगरीय मिलों के आसपास बाजारों में कहीं भी ठहर नहीं सकती थीं।

75 वर्षों के विकास के बाद विश्व और भारतीय मांग में बदलाव आने के बावजूद भारतीय सूती वस्त्र निर्माण उद्योग, घटिया किस्म का कपड़ा बनाते रहे। यहां तक कि अहमदाबाद की प्रगतिशील मिलों ने भी बहुत कम मात्रा में अच्छा महीन कपड़ा बनाया। बंबई की मिलें छोटे छोटे कपड़ों, जैसे धोती और रंगीन कपड़ों, की महीन किस्में बनाने में बहुत पीछे रह गयीं।

बंबई की जलवायु, अनुभवी श्रम, वित्तीय सुविधा, बिजली की शक्ल में साफ सुथरे ईंधन की उपलब्धि आदि की सुविधाओं को भीड़ भाड़, ऊंची मजदूरी, कच्चे माल को लाने तथा उत्पादित माल ले जाने में अधिक ढुलाई दर, अत्यधिक टैक्स वहन आदि ने समाप्त कर दिया था। यह एक दिलचस्प बात है कि यद्यपि इस उद्योग की बुराइयों और वास्तव में इस समुद्री द्वीपीय शहर की कमियों का निदान गत आधी शताब्दी से ढूंढा जा रहा है और बहुत से समाधान सुझाये भी गये हैं, फिर भी भीड़ भाड़ और संतुलन की समस्याएं ज्यों की त्यों बनी रही हैं और कुछ सीमा तक बदतर भी हो गयी हैं।

उद्योग की कार्यक्षमता, यहां तक कि उपनगरीय क्षेत्रों की नयी इकाइयों की

कार्यक्षमता में उत्तरोत्तर रूप में कोई विकास नहीं हुआ था और यह अन्य देशों द्वारा प्राप्त स्तर के कहीं भी आसपास नहीं था। जो भी 'अनुचित' लाभ जापान को मिले हों, उस देश द्वारा की जा रही तीव्र टैक्निकल प्रगति को किसी भी तरह से झुठलाया नहीं जा सकता। यदि जापान में औसत रूप में एक संचालक 240 तकुवे चला सकता था तो भारत में यह संख्या केवल 180 थी। इंग्लैंड और अमेरिका में यह संख्या इससे भी कहीं अधिक क्रमशः 500 से 600 तथा 1,100 के लगभग थी। यह नहीं कहा जा सकता था कि भारतीय श्रमिक स्वाभाविक रूप से अक्षम थे। क्योंकि, जहां अहमदाबाद की मिलों में बंबई की मिलों की अपेक्षा संचालित तकुवों का अनुपात अधिक अच्छा था, वहां कुछ ऐसी भी इकाइयां थीं, यद्यपि संख्या में बहुत कम, जिनका अनुपात जापान की तुलना में काफी अच्छा था। अन्य देशों के विपरीत बुनकरों की अपेक्षा कतकरों को कम वेतन दिया जाता था, जिससे कतकरों को निराशा ही होती थी। इस देश में बुनकरों करघों का अनुपात भी कुछ अच्छा नहीं था यद्यपि यह असमानता उतनी अधिक नहीं थी जितनी कतकरों तकुवों के अनुपात में थी।

मिलों द्वारा उत्पादन की नयी और उन्नत तकनीक के न अपनाने में दूरदर्शिता और प्रगतिशील दृष्टिकोण का अभाव स्पष्ट झलकता था। स्वचालित करघों का न होना खटकता था। टैरिफ बोर्ड ने पाया कि उनके पास कोई समाधान नहीं था, विशेषकर युद्ध के वर्षों में बंबई की मिलों के सामने आयी कठिनाइयों का कोई समाधान नहीं था। लेकिन यह स्पष्ट था कि प्रारंभ में आधुनिक तरीकों को शुरू करने के कोई प्रयत्न नहीं किये गये, जबकि व्यापार में समृद्धि का समय था और लागत मूल्य धीरे धीरे कम हो सकता था। शोध और विकास को जो सब जगह आधुनिक उद्योग के मेरुदंड समझे जाते हैं, बिल्कुल ही नकार दिया गया था। वास्तव में, इनकी महत्ता पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। इसी प्रकार, उपभोक्ता की बदलती रुचियों और आवश्यकताओं को समझने की दृष्टि से, मार्किट सर्वेक्षण के महत्व को न तो पूरी तरह से समझा गया और न ही कोई ध्यान दिया गया। जहां पर उद्योग के हितों पर सीधा प्रभाव पड़ता था, वहां पर भी कहीं कोई सामूहिक कार्यक्रम, जैसे कच्चे माल की प्राप्ति, रेलवे और जहाजरानी ढुलाई आदि का कोई प्रयत्न नहीं था। बंबई की सभी मिलों की लंबे समय से अनुभव की जा रही आवश्यकता थी एक रंगाई, छपाई और ब्लीचिंग फैक्ट्री कीं, जिसका लगाना किसी भी अकेली एक मिल के लिए अत्यधिक खर्चीली योजना हो सकती थी। जैसाकि पहले देखा, बंबई मिलों का धोतियों और ब्लीच माल के उत्पादन में योगदान सीमित था। देश में छपे कपड़े का उत्पादन नगण्य था। इसलिए इस तरह की फैक्ट्री की स्थापना में किये गये संयुक्त प्रयत्न, मिलों की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को बढ़ाने में काफी सहायक हो सकते थे। लेकिन

सहकारी प्रयत्न पर्याप्त रूप में कहीं नजर नहीं आ रहे थे। और जैसाकि प्रायः होता है, बुद्धि तब आयी, जब पूंजी समाप्त हो चुकी थी। इस संबंध में, यह ध्यान देने की बात है, कि रंगीन और छपे हुए कपड़े के क्षेत्र में भारत विदेशी मुकाबले में टिक सका। भारत में निर्यात किये गये थानों में अधिकांश रूप में इसी तरह का कपड़ा था। इस कारण से, उनके उत्पादन का विस्तार होना स्पष्ट था।

फिर भी, टैरिफ बोर्ड, सन् 1927 में, संतुलित सोच विचार के बाद इस बात को मान गया कि वर्तमान परिस्थितियों में संरक्षण की आवश्यकता है। उद्योग को वित्तीय सुरक्षा प्रदान की गयी, पहले सन् 1927 में, और इसके बाद तीसरे दशक में समय समय पर इसमें विस्तार और वृद्धि की गयी।

विश्वव्यापी मंदी

लेकिन इससे पूर्व कि राजस्व तरीके अपना कुछ प्रभाव दिखाते, उद्योग में एक दीर्घकालीन हड़ताल हो गयी और इससे पहले कि मिल इससे छुटकारा पाती, वह भारी मंदी का शिकार हो गयी। इससे संरक्षण की मांग फिर से उठी विशेषकर जापान से होने वाले आयात के विरुद्ध। सरकार ने जी. एस. हार्डी को जांच पड़ताल करने और रिपोर्ट देने के लिए कहा। उनकी रिपोर्ट ने इस दृष्टिकोण का समर्थन किया कि जापान की ओर से 'अनुचित' प्रकार की प्रतिस्पर्धा थी। लेकिन इस समय तक सरकार की राजस्व नीति, बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति की मजबूरी के अंतर्गत बड़े बड़े परिवर्तनों से गुज़र रही थी। सीमा शुल्क नीति को भी पहले ही दौर में आवश्यकताओं के अनुसार बदलना पड़ा था। और इस तरह जब ब्रिटेन में सन् 1931 में स्वर्ण मान समाप्त हो गया और जब ब्रिटेन ने मुक्त व्यापार की नीति को छोड़ दिया, भारत को राजशाही प्राथमिकताओं की प्रणाली को अपनाना पड़ा। बाद के वर्षों में होने वाले अत्यधिक महत्वपूर्ण परिवर्तनों में, संरक्षण का पर्याप्त सीमा तक विस्तार, विशेष रूप से सूती वस्त्र व्यापार में बढ़ती हुई जापानी प्रतिस्पर्द्धा के मुकाबले के लिए, भी निहित था। लेकिन, अपने स्वभाव के अनुसार, जापान ने भारत के बाजारों को रेमन कपड़े के थानों से अंधाधुंध भर दिया, जिस पर किसी भी प्रकार का शुल्क नहीं लगता था। इस बार सरकार ने तत्परता दिखायी और इस पर 40 प्रतिशत कर लगा दिया जिसे, अधिभार लगाकर, 50 प्रतिशत तक बढ़ा दिया। पहले सरकार ने सूती वस्त्र उद्योग के संरक्षण की मांग का विरोध किया था, लेकिन अब इसने ब्रिटिश माल के प्रति कोमलता का रवैया अपनाने के प्रावधान के साथ, सूती वस्त्र माल को 'संरक्षित माल की अनुसूची' में डाल दिया। इस प्रकार गैर ब्रिटिश माल

के विरुद्ध संरक्षण तथा इंपीरियल प्राथमिकता सूती वस्त्र उद्योग की ओर सरकारी नीति का दोहरापन था। जापान से प्रतिस्पर्धा, न केवल सूती माल में वरन् अन्य अनेक वस्तुओं में भी इतनी विकट हो गयी और जापान द्वारा अपने निर्यात को बढ़ावा देने वाले तरीके इतने सामान्य हो गये कि सरकार को जापान से आयात रोकने के लिए नियमित प्रबंध करने पड़े। येन का एक बार फिर से अवमूल्यन जापान के अनुकूल हो सकता था। गैर ब्रिटिश सूती माल पर शुल्क बढ़ाकर सन् 1932 में 50 प्रतिशत और अगले वर्ष 75 प्रतिशत कर दिया गया। इस प्रक्रिया में सन् 1904 के भारत जापान व्यापार समझौते को समाप्त कर दिया गया। इसमें पारस्परिक 'सर्वाधिक लाभ प्रदत्त देश' के रवैये का प्रावधान था। सूती माल के आयात को अंततः सन् 1934 के 'भारत जापान व्यापार समझौते' जिसका नवीनीकरण छोटे मोटे परिवर्तनों के साथ सन् 1937 में किया गया, के अंतर्गत कोटा प्रणाली से समाप्त कर दिया।

इंपीरियल वरीयता की पद्धति का, भारत के संदर्भ में, अर्थ था कि जहां भारत रुई और कच्चे लोहे जैसे कच्चे माल का निर्यात ब्रिटेन को करता रहा, ब्रिटेन को अपने तैयार माल, जैसे इस्पात, कपड़े के थान आदि, को भारत निर्यात करने के संबंध में तरजीह मिली। इस व्यवस्था के तुलनात्मक लाभ का हिसाब लगाना कठिन है, लेकिन यह काफी महत्वपूर्ण है कि टैरिफ बोर्ड (1933) ने वरीयता का विरोध किया। भारत में इसका व्यापक विरोध हुआ जिसके परिणामस्वरूप द्विपक्षीय व्यापारिक समझौतों के पक्ष में इसे पूर्णतः त्याग दिया गया। इसी दौरान, सन् 1933 में, भारत और लंकाशायर के बीच सूती वस्त्र व्यापार के नियंत्रण के उद्देश्य से 'मोदी लीज़ पैक्ट' पर हस्ताक्षर हुए। यह पैक्ट (समझौता) लंकाशायर उद्योगपतियों की ओर से एक स्वीकारोक्ति थी कि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग अपने उत्तरोत्तर विकास के लिए 'इंग्लैंड के धागों और थान कपड़ों के आयात के विरुद्ध उचित सीमा तक संरक्षण' का अधिकारी था। इस प्रकार भारत के इसके दो प्रबल विरोधियों जापान और ब्रिटेन के साथ, व्यापार में एकपक्षीय गतिविधि के स्थान पर, निश्चित किये गये समझौतों का एक नया अध्याय शुरू हुआ। अब आयात केवल उन्हीं वस्तुओं तक सीमित कर दिया गया, जिनका उत्पादन भारत में आवश्यकतानुसार मात्रा में नहीं होता था।

सन् 1930 से हुए सीमा शुल्क में परिवर्तनों के प्रभावों की तीसरी बार जांच पड़ताल करने के लिए टैरिफ बोर्ड से सन् 1936 में कहा गया। भारत इस दौरान, ओटावा एग्रीमेंट से बंधा था, जिसके अनुसार, अन्य विषयों के साथ साथ सदस्य देशों पर यह भी दायित्व था कि उनके सुरक्षात्मक शुल्क, आयातित वस्तुओं के मूल्यों तथा स्थानीय निर्माताओं के लिए निर्धारित उचित मूल्यों के अंतर से अधिक नहीं होना चाहिए। बोर्ड से इस प्रतिबंध में निहित गुत्थियों का विवरण देने के

लिए कहा गया। इसकी सिफारिशों के आधार पर, सरकार ने गैर ब्रिटिश सामान पर 50 प्रतिशत शुल्क कायम रखा। भारत जापान एग्रीमेंट के आते ही यह शुल्क 75 प्रतिशत से घटाकर 50 प्रतिशत कर दिया गया था और ब्रिटिश सादे कपड़े के थानों तथा बॉर्डर वाले सादे, ब्लीच और रंगदार कपड़े के थानों पर शुल्क 25 प्रतिशत से घटाकर 20 प्रतिशत कर दिया।

संरक्षण का यह कुछ विस्तृत आकलन अजीब नहीं लगेगा यदि यह अहसास हो जाये कि मंदी के महत्वपूर्ण वर्षों में तथा उसके बाद, उद्योग की प्रगति और पुनर्जीवन, संरक्षण से कितने अधिक जुड़े हैं।

निम्न तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्योग की क्षमता सन् 1926-36 के दशक में स्थिर बनी रही।

तालिका 6.2
सूती वस्त्र उद्योग–1925-39

वर्ष	*मिलों की संख्या*	*प्रदत्त पूंजी लाख रुपये में*	*करघे*	*तकुवे*	*नियोजित श्रमिकों की संख्या*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*
1925-26	303	4,750	1,54,591	84,03,336	3,70,617
1930-31	300	3,347	1,71,725	88,02.339	4,07.189
1936-37	361	3,787	1,91,011	93,02,589	4,17,000
1938-39	415	4,059	1,99,106	98,26,399	4,42,000

लेकिन संरक्षण का अनुकूल प्रभाव उन उत्प्रेरकों के द्वारा स्पष्ट हुआ जो धागे और कपड़ा थानों के उत्पादन में दिये गये। यह उत्पादन मंदी के बावजूद नियमित रूप से बढ़ता गया। आयात और निर्यात, दोनों में ही, तीसरे दशक के प्रारंभ में गिरावट आयी और आयात में इसके बाद भी कमी होती ही रही। निर्यात में फिर से वृद्धि हुई और सन् 1936-37 में यह मन्दी पूर्व के स्तर तक पहुंच गयी और आगामी वर्षों में इसमें वृद्धि होती रही। तीसरे दशक में आंतरिक सुलभता भी बढ़ गयी जो बढ़कर सन् 1938-39 में 47,340 लाख गज अर्थात् सबसे अधिक हो गयी।

सादे और ब्लीच कपड़े का उत्पादन तीसरे दशक में बढ़कर दुगुना हो गया और विभिन्न किस्मों के रंगीन कपड़े के उत्पादन में विस्तार भी महत्वपूर्ण तरीके से हुआ। कुल उत्पादन में भी वृद्धि दुगुनी से अधिक हुई। अधिक महत्व की बात यह थी कि भारतीय मिलें अब घरेलू आवश्यकताओं की पूर्ति करने में सक्षम थीं। सन् 1924-29 में इन मिलों ने खपत का कुल आधा कपड़ा ही दिया था लेकिन सन् 1938-39 में यह पूर्ति 87 प्रतिशत तक पहुंच गयी। इस प्रकार, धागे

और थान के संबंध में हमारी आवश्यकता का नाममात्र हिस्सा ही आयात किया गया। लंकाशायर की ओर से होने वाला धागे का आयात घटता ही गया और सन् 1936-37 में यह 27 प्रतिशत ही रह गया जबकि सन् 1913-14 में यह 80 प्रतिशत था। दूसरी ओर, जापान और चीन को बहुत ज्यादा लाभ हुआ और धागों के आयात का 56 प्रतिशत इन्होंने दिया।

उत्पादन में होती नयी वृद्धि आयात को समाप्त करने की आवश्यकता से भी कहीं अधिक होती चली गयी। आंतरिक मांग निराशापूर्ण थी और मिलों के पास काफी भंडार इकट्ठा हो गया। वास्तव में, तीसरा दशक अधिक उत्पादन और गलाकाटू प्रतिस्पर्धा के लिए प्रसिद्ध हो गया था। बंबई और अहमदाबाद जैसे पुराने केन्द्रों में उपलब्ध परिस्थितियों की अपेक्षा अब अधिक अनुकूल परिस्थितियों के आ जाने से उद्योग के नये नये केंद्र खुलते जा रहे थे। नये-नये केन्द्रों में कोयंबतूर, कानपुर, कलकत्ता, शोलापुर आदि थे जहां श्रम सस्ता था और मंडियां भी आसपास थीं। परिणामस्वरूप, नये मिलों की स्थापना का कार्य अबाध गति से चलता रहा, यद्यपि पुरानी इकाइयां बढ़ते हुए नुकसानों की मार से बेकार हो गयी थी, अथवा दिवालिया होने पर विवश हो गयी थी। मिलों की मशीनें सस्ती थीं और पुरानी मशीनें बिक्री के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध थी। इस प्रकार अधिकांश नयी मिलों की स्थापना अपेक्षाकृत काफी कम कीमत पर हुई। इन परस्पर विरोधी परिस्थितियों में, पुराने केंद्र कुछ न कर सके, वरन् अपने पैरों के नीचे से खिसकती ज़मीन को निरीह होकर देखते रहे। उत्पादन अथवा मूल्य नियंत्रण के लिए वे कोई भी संयुक्त पग उठाने में एकमत नहीं हो सके। दोनों पाली में काम करने की व्यवस्था सभी केंद्रों पर सामान्य सी बात थी। तब संरक्षण एक पूर्ण रूप से वरदान नहीं था। इससे अप्रत्याशित मंदी के वातावरण में अकुशलता और अतिरिक्त क्षमता को प्रश्रय मिला।

इस प्रकार संरक्षण के कारण उद्योग संभल गया और मंदी से एक शक्तिशाली स्वदेशी आंदोलन का आविर्भाव हुआ जो ऐसी कठिन परिस्थितियों में आशा के विपरीत बहुत कम प्रताड़ित था। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में, इसके विस्तार का चरण समाप्त हो गया था। एकीकरण, टेक्निकल सुधार और उत्पादन के विकेंद्रीकरण के युग का सूत्रपात हो गया था। बंबई सूती वस्त्र के गढ़ में बदल गया। भारत के सूती वस्त्र उद्योग का मानचित्र अधिक व्यापक और विस्तृत दृश्य प्रस्तुत करता था, जो क्षेत्रीय रूप में उद्योग का अधिक संतुलित चित्र था। भारत का यह प्रमुख उद्योग अब प्रगति के नये कीर्तिमान स्थापित करने के लिए तत्पर था और इसका प्रमुख श्रेय समय के अनुकूल और अनुरूप मिले संरक्षण को है, जिसे आलोचकों ने भी स्वीकार किया है। ऐसे समय में यह एक सस्ता सौदा था जब देश का

हित ही खतरे में हो।

दूसरे विश्वयुद्ध के पूर्व के दशकों में शक्ति चालित करघों, हौजरी और रेयन बुनाई उद्योग की लघुस्तरीय लेकिन आशापूर्ण शुरुआत हो गयी। सन् 1939 में लगभग 6,000 शक्ति चालित करघे थे, 3,000 से भी अधिक करघे रेयन उद्योग के केंद्र बिंदु बन गये। सूती वस्त्र उद्योग के लिए भंडारों और रसायनों के निर्माण की भी शुरुआत की गयी।

जूट

युद्धकालीन समृद्धि

जब युद्ध छिड़ा तो जूट उद्योग अपनी समृद्धि के शिखर पर था। लेकिन युद्ध के कारण व्यापार में हुए व्यवधान से तथा जूट की भरपूर फसल के कारण, कीमतों पर दुष्प्रभाव पड़ा। निर्यात को काफी धक्का लगा। यह स्थिति अन्य उद्योगों की भांति अल्पकालीन थी, और बोरियों तथा पैकिंग सामग्री की बढ़ती हुई युद्धजनित आवश्यकताओं के प्रभाव से उत्पादन में वृद्धि फिर से हो गयी। परिवहन व्यवस्था पर पड़ते भार को कम करने की दृष्टि से मुक्त निर्यात को रोक दिया गया, और सन् 1916 में निर्यात शुल्क लगाया गया जिसे सन् 1917 में बढ़ा दिया गया। लेकिन जूट निर्मित वस्तुओं का निर्यात समान रूप से बढ़ता ही गया जिससे इस क्षेत्र में भारत का एकाधिकार मान्य हुआ। इसके बावजूद, कच्चे जूट की मांग में सन् 1914-15 में अचानक काफी गिरावट आ गयी, और उत्पादन के औसत में कमी के कारण तथा विदेश में जूट उद्योग में अव्यवस्था के कारण इस कमी में स्थिरता बनी रही।

जूट मिलों के लाभ में उद्योग के उतार चढ़ाव प्रतिबिंबित हुए जो कि निम्न तालिका से स्पष्ट है–

तालिका 6.3
जूट और जूट निर्मित वस्तुओं का निर्यात : सन् 1913-19 (करोड़ रुपये में)

वर्ष	*जूट का निर्यात*	*जूट निर्मित वस्तुओं का निर्यात*	*कुल*
1	*2*	*3*	*4*
1913-14	30.82	28.27	59.09
1914-15	12.91	25.82	38.73
1915-16	15.64	37.98	53.62
1916-17	16.29	41.67	57.96
1917-18	6.45	42.84	49.29
1918-19	12.72	52.65	65.37

तालिका 6.4
जूट मिलों के लाभ

(1)	(2)
(ऋणपत्रों के ब्याज के भुगतान से पूर्व)	
1913	2.46
1914	0.96
1915	4.21
1916	6.49
1917	12.29
1918	11.65

युद्धकालीन समृद्धि होती गयी जब तक कि यह सन् 1921-22 में अत्यधिक नहीं हो गयी जो बाद में एकदम नीचे आ गयी। फिर भी, दूसरे दशक में उद्योग की प्रगति अच्छी रही जब तक कि यह महामंदी का शिकार नहीं हुई। जूट निर्मित वस्तुओं की मांग बनी रही और कच्चे जूट के अधिकांश भाग को तैयार माल में परिवर्तित किया गया। युद्ध के दौरान उद्योग की क्षमता को बढ़ाया नहीं जा सका। युद्धोपरांत वर्षों में विकास बहुत तेजी से हुआ। सन् 1917 में, 39,000 से भी अधिक करघों वाली 76 मिलें थीं। इन 76 में से, 72 मिलें बंगाल में थीं और शेष में से तीन मद्रास में तथा एक उत्तर प्रदेश में। इनमें 17.50 करोड़ रुपये की पूंजी निवेशित थी। सन् 1919-20 के दौरान, 6.62 करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी के साथ 14 नई मिलें पंजीकृत हुईं और सन् 1920 में लगभग 16 मिलें निर्माणाधीन थीं। सन् 1910 और सन् 1920 के मध्य तैयार माल बनाने के लिए मिलों में जूट की खपत लगभग दुगुनी हो गयी थी। लाभ की राशि बहुत अधिक थी। सन् 1919 और सन् 1920 में क्रमशः 11.65 करोड़ और 12. 54 करोड़ रुपये हो गयी थी।

मंदी के थोड़े समय को छोड़कर जब लाभ की राशि सन् 1920 के अधिकतम 12.54 करोड़ रुपये से गिरकर सन् 1921 में 4.96 करोड़ रुपये और सन् 1922 में 3.58 करोड़ रुपये रह गयी, सन् 1922 के बाद फिर चहुमुंखी विकास हुआ। बंगाल में मिलों की संख्या सन् 1922 और 1929 के दौरान 72 से बढ़कर 89 हो गयी और करघों की संख्या 39,400 से बढ़कर 51,400 हो गयी। चल रहे तकुवों की संख्या 10 लाख से भी ऊपर हो गयी, और इनमें काम कर रहे श्रमिकों की संख्या एक दशक पूर्व की 2.62 लाख की तुलना में अब 3.30 लाख हो गयी। अन्य केंद्रों की कुल संख्या 1000 करघों, 20,000 तकुवों और 6000 श्रमिकों से अधिक नहीं हो पायी। भारतीय उद्योग का काम अपने विदेशी प्रतिद्वंद्वियों की तुलना में अच्छा था। कच्चे माल के लिए ये विदेशी उद्योग भारत पर ही निर्भर थे। स्काटलैंड में लगभग 100 मिलें, अमेरिका में 60, इटली में 40, जर्मनी में

28 और फ्रांस में 23 मिलें थीं। कनाडा, ब्राजील और जापान में भी कुछ मिलें थीं।

जूट तथा जूट निर्मित वस्तुओं का निर्यात, जो युद्ध के दौरान कम हो गया था, युद्ध के बाद फिर बढ़ गया और सन् 1930 तक विकसित होता ही रहा, सिवाय सन् 1921-22 के जब इसमें थोड़ी गिरावट आयी थी। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है–

तालिका 6.5
जूट और तैयार माल का निर्यात : 1919-37
(करोड़ रुपये में)

वर्ष	*जूट*	*तैयार माल*	*कुल*
1	*2*	*3*	*4*
1919-20	24.70	50.01	74 71
1921-22	14.05	30.00	44 05
1923-24	20.00	42.28	62.28
1925-26	37.95	58.84	96.79
1927-28	30.66	53.56	84.22
1930-31	12.88	31.89	44.77

मंदी का गंभीर शिकार

मंदी का सबसे अधिक दुष्प्रभाव जूट पर हुआ। आरंभिक झटका ही केवल भारी नहीं था वरन् इससे पुनर्जीवन प्राप्ति की प्रक्रिया भी दुखदायक और धीमी गति से थी। इसके कारण थे कि उद्योग मुख्यतः निर्यातोन्मुखी था। विश्व व्यापार में नरमी थी और सस्ते विकल्प विकसित किये जा रहे थे। उद्योग में मंदी के कारण आये झटके की गंभीरता इस बात से भी स्पष्ट हो जाती है कि भारत के निर्यात में सन् 1930-31 में आयी 90 करोड़ रुपये की गिरावट में 41 करोड़ रुपये की गिरावट अकेले जूट के निर्यात में थी।

हमारे मुख्य ग्राहकों में थे इंग्लैंड, अमेरिका, फ्रांस और जर्मनी। ये हमारे कच्चे जूट के निर्यात का मुख्य भाग खरीद लेते थे। अमेरिका ने हमारी बोरियां 60 प्रतिशत से भी अधिक खरीदीं। हमारे धागों और गुच्छियों का निर्यात लगभग सभी देशों को हुआ। कच्चे माल के निर्यात के लिए कुछ ही बाजारों पर हमारी इस निर्भरता ने हमारे निर्यात को, आयात करने वाले देशों की आर्थिक परिस्थितियों पर वाणिज्यिक नीतियों के संदर्भ में कमजोर बना दिया और इससे जूट निर्मित वस्तुओं के विकल्पों के विकास में सफलता मिली।

कच्चे जूट का निर्यात सन् 1929-30 में 8 लाख टन से घटकर सन् 1930-31 में 6 लाख टन रह गया। इसी प्रकार बोरियों का निर्यात भी 16,500 लाख से

घटकर 12,710 लाख तक आ गया। आंतरिक खपत में भी गिरावट आयी। लेकिन, रेशे और तैयार माल दोनों के ही उत्पादन में विस्तार हुआ। सन् 1929 की जुलाई से, 54 घंटे के सप्ताह के स्थान पर 60 घंटे का सप्ताह लागू किया गया जो लगभग एक वर्ष तक चला। इसका परिणाम था अत्यधिक उत्पादन और भंडारों का संग्रह। जूट की कीमतों में गिरावट आयी, जो सन् 1931 में लागत मूल्य से भी कम रखनी पड़ी, और अगले वर्ष के समाप्त होते होते, कीमत 50 प्रतिशत नीचे आयी, यद्यपि इस दौरान उत्पादन भी घट कर आधा हो गया था। तैयार माल की कीमतों में भी इसी अनुपात से कमी आयी थी।

बंगाल की अर्थव्यवस्था को, जो मुख्यतः जूट की खेती और इससे निर्मित वस्तुओं पर ही निर्भर थी, अभूतपूर्व कठिनाई का सामना करना पड़ा, मिलों की स्थिति इनकी तुलना में कुछ अच्छी थी क्योंकि वे उत्पादन को नियंत्रित करने के लिए किसी भी कदम को उठाने में कृषकों की भांति असहाय नहीं थे। फिर भी, विश्व मार्किट में मांग कम हो रही थी और मंदी के दबाव के कारण सस्ते विकल्प की खोज मे तेजी आयी। सरकार ने फसल प्रतिबंधन तथा मंडियों के शोध विकास के लिए प्रस्ताव रखे। सरकार ने सन् 1934 में जूट के निर्यात शुल्क से प्राप्त राजस्व का आधा भाग जूट उत्पादन प्रदेशों को दे दिया। सन् 1936 में उद्योग की समस्याओ के अध्ययन के लिए तथा समय समय पर सलाह देने के लिए एक सेंट्रल जूट कमेटी की स्थापना की गयी।

जूट मिल एसोसिएशन संयुक्त कार्यवाही के लिए प्रसिद्ध थी, लेकिन मंदी के प्रभाव और दबाव के कारण गैर सदस्य मिलों द्वारा ऐसोसिएशन की प्रतिबंधित नीतियों की अवज्ञा के मामलों में वृद्धि हुई। सरकार ने हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया। परिणामस्वरूप, सन 1936 में, ऐसोसिएशन ने उत्पादन को कम करने के अपने प्रयत्न छोड दिये, और इस कारण काम करने के घंटों में फिर से वृद्धि कर दी गयी। स्थिति इतनी अधिक विषम हो गयी कि सरकार को, काम करने के घंटों को सप्ताह में 45 की सीमा में बांधते हुए एक अध्यादेश (सितंबर 1938 में) लागू करना पडा। इसके फलस्वरूप काम करने के घंटों को सीमित करने का एक स्वैच्छिक समझौता हुआ जो पांच वर्ष तक वैध रहा। तब तक, युद्ध के बादल भी मंडराने लगे थे और उद्योग अच्छे दिनों के लिए आशावान था।

यदि बंबई का सूती वस्त्र उद्योग, युद्धकाल में उद्यमशीलता के अभाव तथा आलस के लिए दोषी था, तो जूट उद्योग पर, इसके एकाधिकार तथा सस्ते श्रम और कच्चे माल के लाभ को देखते हुए, यह दोषारोपण अधिक उचित था। उत्पादन की गुणवत्ता को सुधारने के लिए व्यवस्थित ढंग से कोई प्रयत्न नहीं किये गये थे। न ही, इनके द्वारा चलायी गयी छंटाई की प्रक्रिया के उद्देश्य को कोई समझ पा रहा था। अन्य देशों में भी जूट की खेती और उसके विकल्पो

के विकास के प्रयोग चल रहे थे। इन देशों ने जूट से शर्टिंग परदे, चादरें और कंबल जैसी अधिक परिष्कृत वस्तुओं का निर्माण किया। जूट की अच्छी और सुंदर किस्मों का मिश्रण रेशम और ऊन के साथ किया गया। जूट के पौधे के डंठल में कागज बनाने के कच्चे माल के रूप में अत्यधिक संभावनाएं थीं लेकिन इसकी तरफ किसी का ध्यान नहीं गया। ब्लीचिंग और डाइंग की प्रक्रियाओं का विकास सफलतापूर्वक किया जा रहा था लेकिन भारतीय उद्योग विज्ञान और टेक्नोलौजी द्वारा प्रदत्त अवसरों का लाभ उठाने के लिए अत्यधिक उत्सुक था।

लौह एवं इस्पात

दी टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी सन् 1914-39 की अवधि में काफी समय तक अकेली ही इस्पात निर्माण करती रही। जैसे ही इस कंपनी ने निर्माण की पूरी क्षमता प्राप्त की, युद्ध छिड़ गया और इस कारण कंपनी से अपेक्षाएं बढ़ गयीं। वित्तीय दृष्टि से कंपनी ठीक चल रही थी लेकिन इसने, अपने इंग्लैंड की सहयोगी कंपनियों के विपरीत, अपने लिए कोई एकाधिकार जैसी स्थिति नहीं बनायी क्योंकि यह अनुबंधित कीमतों पर सरकार को माल देने का लिए बाध्य थी। शेयरहोल्डरों को सन् 1913-14 में अपना पहला लाभांश प्राप्त हुआ, कंपनी की स्थापना के छह वर्ष बाद और सन् 1917-18 तक लाभांश की राशि बढ़कर 20 प्रतिशत हो गयी। टाटा कंपनी की कहानी युद्ध वर्षों के दौरान, इस्पात उत्पादन के सतत सप्लाई की कहानी है। यह सप्लाई युद्ध संचालन की दृष्टि से अत्यंत महन्वपूर्ण परिस्थितियों की कठिनाइयों के बावजूद, उत्तम किस्म की, तात्कालिक और उत्पादन में सर्वोत्तम स्तर की होती थी।

युद्ध के समय के दौरान, टाटा कंपनी ने सरकार को 1500 मील लंबी रेलवे लाइनें तथा 3 लाख टन अन्य किस्म की इस्पात सामग्री की पूर्ति की। कच्चे लोहे के उत्पादन में अत्यधिक लाभ के बावजूद, कंपनी ने इस्पात की कमी को पूरा करने की दृष्टि से इसे परिष्कृत इस्पात में परिवर्तित कर दिया। सुविधाओं में कमी के होते हुए भी, इसने सरकार की इस्पात के भंडारों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की जिम्मेदारी ली और 8000 टन इस्पात का निर्माण कर अपनी जिम्मेदारी को सफलतापूर्वक निबाहा। टाटा कंपनी का आशावादी दृष्टिकोण प्रारंभ से ही स्पष्ट था। सन् 1913 में, कंपनी उत्पादनों के लिए विदेशों में बाज़ार की संभावनाओं को देखने के लिए उच्च अधिकारियों की एक टीम विदेश भेजी गयी क्योंकि उस समय तक युद्ध के कोई आसार दिखायी नहीं दिये थे। इस टीम को निर्यात की काफी संभावनाएं लगीं। माल के भी लगातार आर्डर विशेष रूप से कच्चे लोहे के जापान से मिले। अमेरिका, इंग्लैंड और जापान में प्रचलित

मैंगनीज़ के लिये तैयार बाजार था। इस मैंगनीज का उत्पादन भारत में पहली बार सन् 1916 में हुआ था। लेकिन कंपनी ने अपना ध्यान युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति पर लगाया।

विस्तार का कार्यक्रम

इस्पात की बढ़ती हुई मांग ने क्षमता विस्तार की आवश्यकता को स्पष्ट रूप से सिद्ध कर दिया और टाटा कंपनी ने इस्पात पिंडों के उत्पादन की अपनी क्षमता को एक लाख टन से बढ़ाकर 5 लाख टन करने के उद्देश्य से तथाकथित विशाल विस्तार कार्यक्रम (ग्रेटर एक्सटेंशन प्रोग्राम जी. ई. पी.) को क्रियान्वित करना शुरू किया। यह आशा थी कि उच्च क्षमता से जस्तेदार चादरों, सलाखों और प्लेटों की बढ़ती मांग की पूर्ति करना संभव होगा। विस्तार का कार्यक्रम ऐसे समय में शुरू किया जा रहा था जबकि उपकरणों का लागत मूल्य बहुत अधिक था और युद्धोपरांत की कीमतों के बारे में कोई भविष्यवाणी नहीं की जा सकती थी। फिर भी टेक्नोलौजी मापदंड की अर्थव्यवस्था के प्रयोग के लिए बढती हुई क्षमता का निर्धारण करती थी। इस्पात की इस प्रतियोगी दुनिया में, आधुनिकता टेक्नोलौजी को अपनाना अत्यंत आवश्यक था। अन्यथा अलग अलग पड़ जाने का डर था। विशाल विस्तार कार्यक्रम अमेरिका में सफलतापूर्वक संचालित आधारों की अपेक्षा भारत में दोहरी प्रक्रिया के प्रयोग पर आधारित था।

इस कार्यक्रम में प्रतिवर्ष 9 लाख टन इस्पात पिंड उत्पादन की क्षमता वाले 40 इंच ब्लूमिंग मिल एक 1,50,000 टन प्रतिवर्ष रेलवे लाइन और इमारती मिल, 5 लाख टन प्रतिवर्ष चादरों की छड़ें और छड़ों की मिल, एक 100,000 टन प्रति वर्ष मर्चेंट मिल और 50,000 प्रति वर्ष चादर मिल की स्थापना का काम निहित था। इन नयी मिलों में पुरानी मिलों के लगे वाष्प चालकों के स्थान पर नये विद्युत चालकों को प्रयोग करना था। नये डिजाइनों और प्लांटों का आर्डर सन् 1917 से सन् 1920 के मध्य दे दिया गया था।

यह कार्यक्रम अबाध गति से नहीं चल सका। दूसरे दशक के प्रारंभ में आयी मंदी ने इस्पात के भंडार बना दिये और इससे कीमतों में गिरावट आती गयी। बाजार में मुकाबला कड़ा हो गया और परिणामस्वरूप उन्नत देशों ने भी इस्पात के भंडार खड़े कर दिये। यद्यपि सात वर्षीय विशाल विस्तार कार्यक्रम के अंतर्गत, ब्लूमिंग मिल सन् 1923 में शुरू हो गयी और कार्यक्रम भी सन् 1924-25 में पूरा हो गया, पूरी क्षमता का उत्पादन इसके शुरू होने के दस वर्ष बाद भी अर्थात् सन् 1927 तक भी नहीं हो सका। लागत शिल्प भी अनुमान से कहीं अधिक हो गया। मूल रूप में अनुमान था कि कार्यक्रम के क्रियान्वयन में दस करोड़

रुपये से कम की लागत आयेगी लेकिन वास्तविक लागत 18 करोड़ रुपये अथवा 80 प्रतिशत से भी अधिक आयी। इसका अर्थ था ब्याज, बट्टे खाते की रकम में वृद्धि तथा अधिक लागत पूंजी। पूरी क्षमता तक संयंत्र लगाने में जो देरी हुई उससे, इस दौरान उत्पादन में घाटा हुआ।

विस्तार कार्यक्रम ऐसे समय पर सफल हुआ जब कीमतों में कमी आ रही थी और विश्व के इस्पात उत्पादन को कोई बाजार नहीं मिल रहा था। टाटा कंपनी का विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन सन् 1922-23 में 1,15,000 टन से बढ़कर सन् 1927-28 में 4,29,000 टन हो गया। यह शैशव उद्योग, जिसमें महान संभावनाएँ थीं, अनेक कठिन झंझावातों में भी अपने पैर जमाने के लिए संघर्ष कर रहा था। संरक्षण प्रदान करने के लिए इससे अच्छा कोई 'और पात्र नहीं हो सकता था। अमेरिका को महान इस्पात उद्योग को भी, सन् 1870 में अपनायी गयी और बाद के दशकों में ध्यानपूर्वक चलायी गयी संरक्षण की राष्ट्रीय नीति के अंतर्गत संरक्षण दिया गया था। यह उचित ही था कि 'फिस्कल कमीशन' के सुझावों के आधार पर गठित टैरिफ बोर्ड के सामने संरक्षण प्रदान के लिए लाया जाने वाला प्रथम उद्योग इस्पात ही था। सरकार स्टील इंडस्ट्री (प्रोटेक्शन) एक्ट 1924 पास कर उद्योग के हितों की सुरक्षा के लिए आगे आयी। इस्पात की विभिन्न किस्मों पर लगे हुए शुल्कों और प्रदत्त संरक्षण में रेलवे लाइनों तथा जोड़ पट्टियों (फिश प्लेट) पर अनुदानों (सन् 1922 में 10 से 15 प्रतिशत का राजस्व शुल्क लिया जाता था) के साथ साथ, आयात पर औसतन 15 प्रतिशत शुल्क लगाया गया। इस दौरान. घटती हुई अंतर्राष्ट्रीय विनिमय दर संरक्षण के प्रभाव को आंशिक रूप में समाप्त कर रही थी। इसलिए कंपनी ने सरकार से और अधिक संरक्षण की मांग की और सरकार ने इस्पात पिंडों के उत्पादन पर 5 लाख रुपये का विशेष अनुदान दे दिया। स्थिति इतनी अधिक अस्थिर थी कि, टैरिफ बोर्ड द्वारा की गयी मुख्य जांच पड़तालों के अतिरिक्त भी, बार बार पूरक प्रश्न पूछे जाते थे। और सन् 1926 में दूसरी बड़ी जांच के बाद, अनुदान तथा सुरक्षा शुल्क की योजना को, जो सन् 1924-27 में लागू की गयी थी, अब 1 अप्रैल 1927 से केवल संरक्षणात्मक शुल्क के रूप में बदल दिया गया था। 15 प्रतिशत पर संरक्षणात्मक सीमा शुल्क (10 प्रतिशत राजस्व सीमा शुल्क) आगामी सात वर्षों के लिए निश्चित कर दिया गया था। तथापि, शीघ्र ही दुनिया भर के इस्पात की कीमतों में और कमी आयी। आंतरिक भाव में भी गिरावट आयी और सन् 1928 में हुई श्रमिकों की हड़ताल ने टाटा कंपनी की स्थिति नाजुक बना दी। इस प्रकार संरक्षण की अधिक आवश्यकता महसूस हुई।

कार्यक्षमता में वृद्धि

यह एक श्रेय की बात थी कि भावी मंदी का मुकाबला कंपनी ने सतत विस्तार और श्रेष्ठतम प्रबंध द्वारा किया। विशेष विस्तार कार्यक्रम के लिए आवश्यक 18 करोड़ रुपये में से, 4 करोड़ रुपये आंतरिक साधनों से एकत्र किये गये। इस्पात उत्पादन सन् 1934-35 में 6,60,000 टन तक पहुंच गया। इस्पात पिंड उत्पादन क्षमता में लगभग 50 प्रतिशत का विस्तार सन् 1924-34 के दौरान, 4 करोड़ रुपये की लागत से किये गये प्लांट में सुधारों के कारण हुआ था। वसूली (पुनर्लाभ) की शुरुआत सन् 1935 के बाद हुई और प्लांट की क्षमता दूसरे विश्वयुद्ध से पूर्व 8,00,000 लाख टन तक पहुंच गयी। यह सब कुछ सुधारों और संयोजनों के द्वारा तथा विशाल इस्पात पिंडों के प्रयोग से प्राप्त हुआ।

नीचे दी गयी तालिका में युद्ध के वर्षों में हुई कंपनी की प्रगति का विवरण दिया गया है।

तालिका 6.6
इस्पात निर्माण में कार्यक्षमता (औसत वार्षिक मूल्य महत्ता)

अवधि	*तैयार इस्पात का उत्पादन*	*कुल ब्लाक*	*दैनिक नियोजन*	*कुल लाभ (लाख रु. में)*	*प्रति व्यक्ति उत्पादन (टनों में)*	*कुल ब्लाक प्रति टन*	*कुल ब्लाक प्रति व्यक्ति (रुपये)*
(1)	*(2)*	*(3)*	*(4)*	*(5)*	*(6)*	*(7)*	*(8)*
1912-13 से 1917-18 तक	74.8	3.0	9,478	59	7.89	401	3,165
1918-19 से 1923-24 तक	125.0	14.1	22,665	73	5.52	1,128	6,221
1924-25 से 1934-35 तक	414.5	22.7	20,179	119	20.54	548	11,249
1935-36 से 1939-40 तक	701.4	30.2	19,309	358	36.32	431	15,640

सन् 1918-19 से सन् 1923-24 तक के वर्ष विकास योजना लागू करने के वर्ष थे। और परिणामतया उत्पादकता और लाभान्विति में एक अस्थायी गिरावट आ गयी। टाटा का उत्पादन मूल्य अधिक था और इसलिए वह कम कीमत के आयातों से प्रतिस्पर्द्धा करने में कठिनाई अनुभव कर रहा था। पूंजी मूल्य विशेषतया अधिक थे। अगले दशक में कार्य दक्षता में काफी प्रगति हुई, श्रम मूल्य में स्थायी गिरावट आयी। लेकिन कीमतें कम थीं और लाभ छोटा था।

सन् 1921-35 का अंतराल सामान्य शेयर धारकों को बिना लाभांश के बिताना पड़ा। अधिमानी लाभ भी बकाये में चलने लगे और जब स्थितियों में सुधार आया तब जाकर उसका भुगतान हुआ। यहां तक कि अवमूल्यन की राशि भी उपयुक्ता से नहीं दी गयी। सन् 1934 के बाद स्थितियों में सुधार आया, लेकिन तकनीकी परिवर्तनों की समता कायम रखने के लिए टैरिफ बोर्ड को संयंत्र में मूलभूत परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई। डुप्लेक्स संयंत्र के कार्य अपेक्षा के अनुकूल नहीं दिखते थे। बोर्ड ने खुले मुंह की आधुनिक भट्टियां लगाने का प्रस्ताव दिया।

प्रारंभ से ही, अधिमानी शेयरों (प्रीरेंस शेयरों) को कंपनी की पूंजीगत संरचना में महत्वपूर्ण स्थान दिया गया था। 2.32 करोड़ रुपये की शेयर पूंजी में से, जो पहले प्लांट को चलाने के लिए एकत्र की गयी थी, 75 लाख रुपये अथवा एक-तिहाई संचित 6 प्रतिशत अधिमानी शेयरों के रूप में तथा 7 लाख रुपये विलंबित शेयरों के रूप में थे। विलंबित शेयरों ने बहुत ऊंची दर पर सट्टे का रूप धारण कर लिया और ऐसी स्थिति पांचवें दशक तक बनी रही जब तक इनको समाप्त नहीं कर दिया गया। सामान्य विस्तार कार्यक्रम को वित्तीय सहायता योजना के अंतर्गत 8 करोड़ रुपये शेयरों की पूंजी से एकत्र किये गये, 6.8 करोड़ रुपये 7½ प्रतिशत दूसरी बार संचयी अधिमानी शेयरों से तथा शेष सामान्य और विलंबित शेयरों से एकत्र किये गये। इस प्रकार पूंजी ढांचा और भी अधिमानी पूंजी के पक्ष में हो गया था जो अब कुल शेयर पूंजी का तीन चौथाई थी। लगभग 7 करोड़ रुपये ऋणों के माध्यम से एकत्र किये गये। इस तरह से कंपनी के पूंजी ढांचे में अधिमानित पूंजी की अधिकता के कारण पूंजी का आधिक्य हो गया था।

जहां सुरक्षा के कारण इसे सांस लेने का समय मिल गया था, टाटा कंपनी ने यह महसूस किया कि संचालन कार्य क्षमता को बढ़ाने के लिए निरंतर चहुंमुखी प्रयत्न आवश्यक है जिससे कंपनी को संरक्षण के बंधनों से मुक्त किया जा सके। इस उद्देश्य को ध्यान में रखकर, प्लांट की बदली हुई उत्पादन आवश्यकताओं, व्यापार की आवश्यकताओं तथा आयात का मुकाबला करने की दृष्टि से, कंपनी अपनी विपणन व्यवस्था को ठीक करने के प्रयत्न में जुट गयी। टाटा वितरकों. (टाटा डीलर्स) की एक योजना चलायी गयी, नये स्टाक भंडार घर खोले गये और कंपनी ने सीधे बिक्री करने का काम भी अपने हाथों में लिया। यहां तक कि पहले युद्ध के समय में, कंपनी ने अपने उत्पादन की कुल खरीद को सुनिश्चित करने के उद्देश्य से काफी संख्या में गौण उद्योग स्थापित करने की योजना बनायी। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जमशेदपुर में किस तरह से औद्योगिक समूह की आधारशिला रखी गयी। इस्पात प्लांट के अतिरिक्त, टिनप्लेट कंपनी आफ इंडिया तथा आधी दर्जन के लगभग अन्य छोटे छोटे उद्योग इस समूह में थे।

सन् 1920 में ट्रेड यूनियन के संगठन में पहल कर, प्रबंधकों ने सौहार्दपूर्ण श्रम संबंधों का मार्ग दिखाया। और सन् 1937 में, श्रम संबंधों में नये अध्याय की शुरुआत हुई जब लाभ वितरण की योजना चलायी गयी। श्रमिकों के लिए आवासीय, चिकित्सा, शिक्षा संबंधी सुविधाओं की ओर ध्यान देने से, एक स्थायी और अपेक्षाकृत एक सन्तुष्ट श्रम शक्ति की उपलब्धि निश्चित हो गयी। सन् 1921 में ही आठ घंटे का कार्य दिवस बना दिया गया था। सन् 1911 में जमशेदपुर टेक्निकल इंस्टीट्यूट तथा बाद में सन् 1927 में अप्रेंटिसशिप स्कूल की स्थापना से भारतीयों की अथवा उद्योग के अन्य उच्च स्थानों के लिए दूसरे व्यक्तियों के प्रशिक्षण का काम शुरू हुआ। इंस्टीट्यूट ने अब तक इस्पात के इस फैलते हुए उद्योग के लिए 15,000 से भी अधिक टैक्नीशियनों को प्रशिक्षित किया है।

बिल्कुल प्रारंभ से ही, प्लांट की योजना एक संगठित इकाई के रूप में बनायी गयी थी। इस कारण, इसमें अपने लिए कच्चे माल, जैसे कच्चे लोहे, धातुकर्मीय कोयला, चूना पत्थर, तथा कोयला छल्लों, रेलवे लाइन, वर्कशाप, कर्मचारियों का प्रशिक्षण (उपरोक्त) और यहां तक कि अपने उत्पादन के लिए विपणन व्यवस्था आदि सभी सुविधाएं प्रदान की गयीं। वास्तव में संयंत्र में इस्पात निर्माण की सभी स्थितियों जैसे कोयले को कोक में बदलना, ढलवा लोहे के उत्पादन के लिए कच्चे लोहे को कोक के साथ पिघलाना, ढलवा लोहे को इस्पात पिंडों में परिवर्तित करना और अंत में रोलिंग मिलों में इस्पात को परिष्कृत करना आदि कार्यों को एक छत के नीचे ही बना दिया गया।

नये इस्पात संयंत्र

इसी समय में इस्पात निर्माण के लिए चलाया गया एक अन्य उद्यम मैसूर सरकार का भद्रावती में लगाया गया प्लांट। मैसूर आयरन और स्टील वर्क्स की पहली भट्ठी सन् 1923 मे चालू की गयी। इस्पात निर्माण का एक और प्लांट सन् 1936 में लगाया गया और इसकी क्षमता भी कम ही थी। इस प्रकार टाटा ही इन सब वर्षों में वास्तविक अकेले इस्पात निर्माता बने रहे। अन्य सभी चलाये गये उद्यम ढलवा लोहे के उत्पादन के लिए थे। दी इंडियन आयरन एंड स्टील कंपनी प्रतिदिन 600 टन ढलवां लोहे के उत्पादन के साथ, बर्नपुर में सन् 1918 में शुरू की गयी और सन् 1922 में इसने उत्पादन शुरू कर दिया। बंगाल आयरन वर्क्स के पुराने उद्योग ने स्वेच्छा से दिवाला निकाल दिया और यह सन् 1936 में इंडियन आयरन एंड स्टील कंपनी के साथ मिल गयी। तीसरे दशक की समाप्ति के आसपास एक महत्वपूर्ण घटना थी, स्टील कारपोरेशन की स्थापना, जिसने दूसरे विश्वयुद्ध के छिड़ने के पूर्व तक भी अच्छे स्तर पर इस्पात उत्पादन का काम

शुरू नहीं किया। युद्धोपरांत की उन्नति की धारा में तीन और नये उद्यम लगे लेकिन आने वाले संकटों को झेल न सकने के कारण चल नहीं सके। ये उद्यम थे, यूनाइटेड स्टील कारपोरेशन ऑफ एशिया, ईस्टर्न आयरन कंपनी और कीर्त्यानंद आयरन एंड स्टील वर्क्स। पहला उद्यम मैसर्स बर्ड एंड कंपनी के तत्वावधान में था, और 3 लाख टन ढलवा लोहे और 2 लाख इस्पात की मौलिक क्षमता के उद्देश्य से बनाया गया था और जिसका विस्तार बाद में क्रमशः सात लाख टन और 4.5 लाख टन होना था। मैसर्स बर्न एंड कम्पनी की इंडियन आयरन और स्टील कंपनी के साथ साथ, इन नये उद्यमों की अनुमानित क्षमता 15 लाख टन ढलवां लोहे की तथा दस लाख टन तैयार इस्पात की होनी थी।

संरक्षण की लागत

इस चर्चा को समाप्त करने से पहले, लोहे और इस्पात उद्योग को प्रदत्त संरक्षण के लागत मूल्य का संक्षिप्त विवेचन करना समीचीन होगा। टाटा की ओर से यह दावा किया गया है कि उन्होंने प्राप्त संरक्षण के बदले में देश को उससे भी अधिक दिया है। उनकी ओर से दिये गये आंकड़े इस प्रकार हैं–

तालिका 6.7
इस्पात पर प्राप्त संरक्षण तथा आयात शुल्कों से प्राप्त अतिरिक्त आय : 1924-37
(करोड़ रुपये में)

संरक्षण	*अनुदान*	*कुल*	*आयात शुल्कों से आय*
1	*2*	*3*	*4*
8.52	2.09	10.61	11.27

संभवतयाः संरक्षण की सफलता की सबसे अच्छी कसौटी, एक सुगठित इस्पात उद्योग की स्थापना के लिए रास्ता दिखाने में इसकी कुशलता होनी चाहिए। संरक्षण की सफलता को आंकड़ों में मापा नहीं जा सकता। ध्यान देने योग्य बात यह है कि टाटा ने अपने उद्योग से काम लेने में कोई ढिलाई नहीं की और वे किसी भी तरह जल्दी से जल्दी संरक्षण के बंधन से मुक्त होना चाहते थे। कंपनी को अपने सामाजिक दायित्वों का भी ध्यान था और अभावों के उस दौर में भी जबकि वह अपने एकाधिकार की स्थिति का अथवा गिरावट और मंदी का लाभ अपने पक्ष में उठा सकते थे, उन्होंने अपने सामाजिक दायित्वों को पूरी निष्ठा और ईमानदारी से निबाहा। टाटा का राष्ट्र के प्रति योगदान का मापदंड आयात के विकल्पों को ढूंढने में देखा जा सकता है जो इन्होंने हमारी लोहे और इस्पात की आवश्यकताओं के संबंध में प्रदान किये। सन् 1914 में लोहे और इस्पात माल की कुल आंतरिक उपलब्धि में टाटा का हिस्सा 10 प्रतिशत से भी कम

था। टैरिफ बोर्ड (सन् 1934) का अनुमान था कि टाटा ने भारतीय बाजार में अपना हिस्सा सन् 1927 में 30 प्रतिशत से बढ़ाकर सन् 1934 में 72 प्रतिशत कर दिया। सन् 1939 में फिर उन्होंने इसे और बढ़ाकर 75 प्रतिशत तक कर दिया इसकी भी चर्चा करना आवश्यक है कि सन् 1934 से पहले लोहे और इस्पात के उत्पादन पर कोई किसी प्रकार का कर नहीं था और बाद में भी कर की दर तुलनात्मक रूप से बहुत कम थी।

पूरे तौर से देखा जाये तो उत्पादन मूल्य को कम करने में टाटा के प्रयत्न काफी सफल रहे।

इस्पात का उत्पादन दो अवस्थाओं में होता है–प्रथम ढलवा लोहे का उत्पादन, दूसरे, इसको परिष्कृत इस्पात में बदलना। इसमें कोई संदेह नहीं कि पहली अवस्था में भारत स्पष्टतः लाभप्रद स्थिति में था। यह भी सच है कि टाटा का ढलवां लोहे का उत्पादन मूल्य सन् 1916-17 और सन् 1921-22 में 18.54 रुपये प्रति टन से बढ़कर 34.47 रुपये प्रति टन हो गया इसका कारण था कोयले की कीमतों और मजदूरी में वृद्धि। इसके बाद सन् 1926 में यह उत्पादन मूल्य गिरकर 25 रुपये प्रति टन तक आ गया। इस स्तर पर भी, इनका उत्पादन मूल्य अमेरिका और इंग्लैंड के लागत मूल्य के आधे से भी कम था। इस्पात का उत्पादन मूल्य जो सन् 1916 से पूर्व काफी कम था, सन् 1925 तक बढ़ता चला गया, जबकि आयातित इस्पात इस दौरान सस्ता ही बना रहा। सस्ते ढलवां लोहे का महत्व धीरे धीरे कम होता जा रहा था। टैरिफ बोर्ड ने, अपनी प्रथम जांच में पाया कि इस्पात की आयातित औसत कीमत (शुल्क से पूर्व) 140 रुपये प्रति टन थी जबकि टाटा की वसूली औसत कीमत 180 रुपये प्रति टन जो थोड़े बहुत मुनाफे के साथ लागत मूल्य को वसूल करने लायक था, यदि वे ऐसा चाहते। टाटा की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति इसलिए, इस बात पर निर्भर करती थी कि वे अपनी पूंजी को पूरी तरह लगाने में, अपनी क्षमता का पूरा उपयोग करने में, गैर आवश्यक श्रमिकों की छंटनी करने में, और नव विकसित टैक्नोलौजिकल परिवर्तनों को अपनाने में, कहां तक सफल थे। उन्होंने इन दिशाओं में काफी प्रगति की और इस प्रकार लागत मूल्य काफी कम हो गया जैसा कि निम्न तालिका से स्पष्ट है। तालिका टैरिफ बोर्ड के निष्कर्षों के आधार पर वेरा एंस्टे ने बनायी।

(1)	1916-17 (2)	1921-22 (3)	पूर्ण उत्पादन के बाद (4)	1923-24 (5)	1926 (6)	1933-34 (अनुमान) (7)
तैयार इस्पात का औसत लागत मूल्य	77.24	120.41	130 से 100 तक	126.5	98.0	78.8
ऊपर के खर्चे	32.17	38.24	30.70	–	–	प्राप्त नहीं
कुल लागत मूल्य	109.41	158.65	160.70 से 130.70 तक	–	–	प्राप्त नहीं
उत्पादक का लाभ	–	20.96	26.67	–	–	प्राप्त नहीं
लागत मूल्य को निकालने और थोड़ा मुनाफा देने के लिये आवश्यक कीमत	–	179.61	187.37 से 157.37 तक	–	–	117.8

इस प्रकार लागत मूल्य में अच्छी खासी गिरावट आ रही थी, और, यद्यपि कुल लागत मूल्य संबंधी सूचना पूरी तरह से उपलब्ध नहीं थी, जिससे कुछ निश्चित निष्कर्ष निकाले जा सकें। 117.8 रुपये की अनुमानित 'वांछनीय' कीमत, टैरिफ बोर्ड द्वारा सोची गयी कीमत, 157.187 रुपये से काफी कम थी।

बाद के वर्षों के लागत मूल्य के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन यह दावा किया गया है कि सन् 1939 तक, टाटा स्टील वर्क्स ने, अपनी टेक्नोलौजी के प्रयोग से, इस्पात निर्माण में आत्मनिर्भरता और आत्म विश्वास प्राप्त कर लिया था और यह विश्वभर में सबसे कम मूल्य पर इस्पात उत्पादक कंपनी थी।

जहां तक एक सुगठित इस्पात उद्योग के लिए अन्य आवश्यक घटकों का प्रश्न है–वे हैं कच्चे माल की पर्याप्त उपलब्धि और उत्पादन की खपत के लिए बाजार का होना। हमने पहले भी देखा है कि ये घटक इस देश में विकासमान लोहे और इस्पात उद्योग के जीवित रखने के लिए पहले से ही मौजूद थे।

छोटे छोटे शिशु उद्योग

इस समय के मुख्य 'शिशु उद्योगों' में चीनी, कागज और दियासलाई की चर्चा की जा सकती है। सीमेंट और कांच उद्योग संरक्षण की सीमा रेखा में नहीं आते थे परंतु इन्होंने दोनों युद्धों के बीच के वर्षों में काफी प्रगति की। इन शिशु उद्योगों की प्रगति की विवेचना हम संक्षेप में करेंगे।

राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के दो बड़े भागों, कृषि और उद्योग, की समयावधि में एक दशक से कम के समय में ही, चीनी उद्योग एक बड़े उद्योग के रूप में उभरा और इसने दूसरे विशालतम उद्योग सूती वस्त्र उद्योग के बाद दूसरे स्थान पर होने का दावा किया। इसके विकास ने भारत की चीनी के आयात में मुख्यतः निर्भरता की स्थिति को एक निर्यात आधिक्य की स्थिति में बदल दिया। इस उद्योग की वास्तविक प्रगति सन् 1932 में शुरू हुई कही जा सकती है, जब सरकार ने संरक्षण शुल्क लगाकर संरक्षण को विस्तृत किया और इससे चीनी का आयात बिल्कुल बंद हो गया। टैरिफ बोर्ड ने 15 वर्ष की अवधि के लिए संरक्षण की सिफारिश की थी लेकिन सरकार ने प्रारंभ में इसे केवल सात वर्ष के लिए स्वीकृत किया था। लेकिन सरकार ने केवल सात वर्षों की स्वीकृति दी। उद्योग और गन्ना उत्पादकों ने संरक्षण की सुविधा के बहुत अच्छे परिणाम दिखाये। सन् 1929-30 में चीनी का आयात 9.4 लाख टन रहा और घरेलू उत्पादन एक लाख टन से कुछ कम हो रहा था। सन् 1931-32 में, 31 फैक्ट्रियां थीं जिनमें 1.58 लाख टन चीनी का उत्पादन होता था। आगामी चार वर्षों में, फैक्ट्रियों की संख्या बढ़कर 140 हो गयी और उत्पादन 10 लाख टन से अधिक हो गया जिससे आयात की आवश्यकता ही समाप्त हो गयी।

टैरिफ बोर्ड ने सन् 1947 में एक संक्षिप्त जांच की और संरक्षण की सुविधा को और दो वर्षों तक बढ़ाने की सिफारिश की। सन् 1950 में संरक्षण को अंततः समाप्त कर दिया गया।

तीसरे दशक के अप्रत्याशित विकास के बाद, उद्योग की गतिशीलता समाप्त होती लगी। बाद में अन्य किसी भी उद्योग में होने वाले उतार चढ़ाव इस उद्योग में भी नजर आने लगे थे जिनमें अनेक प्रकार के हित निहित थे। उत्पादन जब दस लाख टन तक पहुंच गया इसके बाद इसमें काफी बदलाव आये। अब इस उद्योग ने अपनी विभिन्न कमजोरियों से उत्पन्न अनेक कठिनाइयों का मुकाबला किया क्योंकि उद्योग को उचित दिशा में प्रगति करने के लिए इन कठिनाइयों को पार करना जरूरी था। उद्योग की इन समस्याओं की चर्चा विस्तार से अलग अध्याय में की गयी है।

भारत में आधुनिक सीमेंट उद्योग का जन्म प्रथम विश्वयुद्ध के साथ ही हुआ है, जबकि पहली फैक्ट्री पोरबंदर में स्थापित हुई। इसके बाद दो और इकाइयां लगीं जिससे स्वदेशी क्षमता 85,000 टन तक बढ़ गयी, जो उस समय की सामूहिक स्थानीय मांग की पूर्ति के लिए पर्याप्त थी। बढ़ती हुई युद्ध की मांग ने उद्योग को प्रोत्साहन दिया और सन् 1919-23 में सात और फैक्ट्रियां स्थापित हो गयीं। इस प्रकार सन् 1924 में कुल क्षमता वार्षिक मांग 3.9 लाख टन से भी कहीं अधिक 5.8 लाख टन तक पहुंच गयी। इसके अतिरिक्त, युद्ध के बाद आयात फिर से शुरू हो गया। इस प्रकार माल की अधिकता से कीमतों में गिरावट आयी

और निर्माताओं को हानि हुई। संरक्षण की मांग की गयी परंतु मिला नहीं।

उद्योग में आये संकट और सरकार द्वारा सहायता की अस्वीकृति ने निर्माताओं में आत्म अनुशासन की आवश्यकता का अहसास करवाया। एक क्रम में इंडियन सीमेंट मैन्युफैक्चरर्स ऐसोसियेशन, कंक्रीट ऐसोसियेशन ऑफ इंडिया, और सीमेंट मार्केटिंग कंपनी आफ इंडिया लि. की स्थापना इसकी तुरंत आवश्यकता का प्रमाण थी जिससे उद्योग ने अपनी समस्याओं का समाधान स्वयं ही ढूंढना शुरू कर दिया। फिर भी, इस दौरान मंदी आ गयी और स्थिति में सुधार सन् 1936 तक नहीं हुआ। इस वर्ष में उत्पादकों के चार प्रमुख समूह, जो विद्यमान 11 फैक्ट्रियों में से 10 के स्वामी थे, आपस में विलीन होकर एक नयी, जो अब काफी प्रसिद्ध है, एसोसिएटेड सीमेंट कंपनी लि. (ए सी सी) बनाने पर सहमत हो गये। सन् 1937 में पांच फैक्ट्रियों के साथ डालमिया सिमेंट ग्रुप विलीन हो गया। सन् 1939 में ए. सी. सी. के पास 12, डालमिया के पास 5, और अन्य 4 फैक्ट्रियां थीं।

उद्योग का विस्तार युद्ध वर्षों में चलता रहा और सन् 1947 तक कुल स्थापित क्षमता 25 लाख टन से अधिक हो गयी थी। देश के विभाजन से उद्योग को 5 लाख टन की क्षमता की हानि हुई लेकिन आने वाले वर्षों में नयी नयी फैक्ट्रियों की स्थापना होती रही और सन् 1950 के अंत तक, भारत की कुल क्षमता 31 लाख टन थी। सीमेंट की मांग, फिर भी, तेजी से बढ़ती जा रही थी और अधिक क्षमता की स्थापना की आवश्यकता महसूस हो रही थी।

प्रथम विश्वयुद्ध ने प्रोत्साहन दिया और कांच उद्योग फिर से शुरू हुआ जो अभी तक जर्मनी, आस्ट्रिया और जापान के मुकाबले के कारण पीड़ित था। लेकिन युद्ध समाप्ति के साथ ही विदेशी माल ने भी पैर फिर से जमाये। सरकार ने चूड़ियों, मनकों और कृत्रिम मोतियों पर 30 प्रतिशत आयात शुल्क और शीशे तथा कांच के सामान पर 15 प्रतिशत आयात शुल्क लगा दिया। शीशे तथा कांच के सामान पर शुल्क बाद में 20 प्रतिशत और सन् 1931 में 25 प्रतिशत तक बढ़ा दिया। फिर भी, विदेशी प्रतियोगिता ने विशेषकर जापान ने, उद्योग पर अपना दबाव लगातार बनाये रखा।

इस उद्योग को संरक्षण प्रदान करने के बारे में टैरिफ बोर्ड ने सन् 1931 में काफी छानबीन की और निष्कर्ष निकाला कि यह संरक्षण प्राप्त करने की सभी शर्तों को पूरा करता है। इस पर भी, सरकार इस दृष्टिकोण से सहमत नहीं थी क्योंकि उनके अनुसार सोडा राख, जिसकी आवश्यकता उद्योग को होती है, स्थानीय रूप से उपलब्ध नहीं था। यह कहना कठिन है कि उद्योग को क्यों दंड भुगतना पड़ा क्योंकि कुछ अन्य उद्योगों ने जिन पर यह कुछ वस्तुओं की पूर्ति के लिये निर्भर था, अपना माल तैयार नहीं किया था, जबकि इस उद्योग ने अपनी सभी आवश्यकताओं, जैसे कच्चा माल, ईंधन, श्रम और विपणन आदि का प्रबंध कर लिया था। सरकार ने, तथापि, उद्योग द्वारा उपयोग में लाये जाने वाले सोडा

राख के आयात पर छूट दे दी थी।

दूसरे विश्वयुद्ध से एक बार फिर उद्योग को प्रोत्साहन मिला। आयात रुक गया और मांग बढ़ गयी। उद्योग ने अवसर का लाभ उठाकर अपने उपकरणों को आधुनिकतम बना लिया और अपने उत्पादन को विकेंद्रित कर लिया। लेकिन युद्ध समाप्ति के साथ उद्योग की समस्याएं फिर से उभर आयीं। उद्योग ने फिर से संरक्षण की मांग की, और टैरिफ बोर्ड ने जांच कर सन् 1950 में अपनी रिपोर्ट दी। तदनुसार, सरकार ने शीट ग्लास (कांच की परतों पर) लगाये गये यथामूल्य 45 प्रतिशत के राजस्व शुल्क को आगामी दो वर्षों के लिए संरक्षण शुल्क में बदल दिया। उसके बाद, संरक्षण को एक और वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया।

फैक्ट्रियों की संख्या सन् 1918 में 20 से बढ़कर सन् 1938-39 में 101 और सन् 1950 में 131 तक पहुंच गयी। इसके अतिरिक्त लगभग 100 इकाइयां कुटीर उद्योग क्षेत्र में भी थी। यह उद्योग मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बंगाल में ही केंद्रित था।

कागज एक दूसरा उद्योग था जिसका विकास संरक्षण के कारण हुआ। इसे पहली बार संरक्षण सन् 1925 में मिला और समय समय पर नवीनीकरण के बाद, सन् 1947 में यह समाप्त कर दिया गया। यद्यपि इस उद्योग का विस्तार इतना अभूतपूर्व नहीं था, जितना चीनी उद्योग का, तथापि संरक्षण का मिलना न्यायसंगत था। सन् 1925 की महत्वपूर्ण प्रगति थी, आयातित लकड़ी की लुगदी के स्थान पर बांस को कच्चे माल के रूप में प्रयोग करना।

भारत में दूसरे दशक से पूर्व कोई दियासलाई उद्योग नहीं था। सरकार ने सन् 1922 में दियासलाइयों के आयात पर काफी राजस्व शुल्क लगा दिया और इस भारी शुल्क से प्रेरित होकर, एक संरक्षित दियासलाई उद्योग का आविर्भाव हुआ। सरकार ने सन् 1926 में टैरिफ बोर्ड से इस उद्योग की समस्याओं की जांच करने के लिए कहा, बोर्ड ने राजस्व शुल्क को उसी राशि के संरक्षण शुल्क में परिवर्तित करने की सिफारिश की और यह विश्वास व्यक्त किया कि उद्योग शीघ्र ही बिना किसी संरक्षण के चल निकलेगा। उद्योग ने अच्छी खासी प्रगति कर दिखाई और प्राप्त संरक्षण का औचित्य सिद्ध कर दिया। आयात सन् 1927 में युद्ध पूर्व के औसत 146 लाख टन कुल की तुलना में घटकर 47 लाख टन कुल रह गया और फिर सन् 1931-32 में एक लाख टन कुल रहा।

इस उद्योग की मुख्य समस्या थी—आयातित लकड़ी पर निर्भरता। क्योंकि उचित प्रकार का भारतीय माल उपलब्ध नहीं था। संरक्षण ने एक विचित्र स्थिति उत्पन्न कर दी कि सीमा शुल्क की आड़ में विदेशी निर्माताओं की चांदी हो गयी और उनमें अधिकांश उत्पादक स्कैंडिनेवियन संगठन से संबंधित थे। इस उद्योग के विकास का एक और पक्ष था। जिसकी चर्चा आवश्यक है, और वह था उद्योग में विकेंद्रित क्षेत्र का उभरना, क्योंकि वह उद्योग आसानी से, बड़े पैमाने पर मशीनों द्वारा और लघुस्तरीय श्रम द्वारा दोनों ही प्रकार से विस्तृत हुआ।

अध्याय 7

युद्ध तथा विभाजन के दबाव और तनाव

औद्योगिक विकास की नयी दिशाएं

दूसरे विश्वयुद्ध द्वारा उत्पन्न समस्याएं और स्थितियां अपने रूप-आकार में उनसे भिन्न थीं, जो एक पीढ़ी पहले विश्व अग्निकांड द्वारा बनी थी। इस बार आयात पर पूर्ण प्रतिबंध था ओर इस देश का यूरोप से बिल्कुल ही संबंध विच्छेद हो गया था। भारत न केवल प्रथम विश्वयुद्ध की भांति पूर्व में एक ब्रिटिश शस्त्र भंडार ही बना रहा वरन् एक सक्रिय युद्ध क्षेत्र बन गया। युद्ध में जापान के प्रवेश ने युद्ध को भारत के द्वार पर ही ला खड़ा किया। इस प्रकार, जहां भारतीय उद्योगों ने सन् 1914-18 के दौरान एक संरक्षित बाजार और युद्ध समृद्धि का आनंद उठाया दूसरे विश्वयुद्ध ने उनको निकटस्थ युद्धस्थिति का थोड़ा जायका भी दिया जिससे उनमें भय का वातावरण बना। इसके बावजूद भी यह डर बहुत कम समय के लिए था और आरंभिक आघात से पुनर्व्यवस्थित होने और युद्ध द्वारा प्रदत्त अवसरों का लाभ उठाने में उद्योग ने शीघ्रता दिखायी। जर्मनी और जापान, दोनों ही देशों का आरंभिक प्रहार इस युद्ध में काफी तीक्ष्ण था, और युद्ध के आरंभिक समय में फ्रांस की पराजय तथा गोलाबारी से हुई ब्रिटिश अर्थव्यवस्था की तबाही ने भारतीय अर्थव्यवस्था के सामरिक महत्व को और बढ़ा दिया।

भारतीय औद्योगिक ढांचे में युद्ध वर्षों के दौरान अच्छी खासी प्रगति हुई थी लेकिन वह मुख्य रूप से कुछ उपभोक्ता संबंधी वस्तुओं जैसे वस्त्र, चीनी, कागज, सीमेंट, दियासलाई, आदि के उत्पादन की दिशा में ही थी। अकेला मौलिक, विकसित उद्योग था लोहे और इस्पात का। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में मौलिक और मुख्य वस्तुओं के उद्योगों के आधारभूत तत्वों का अभाव था, और उपभोक्ता

वस्तुओं के संबंधों में आत्म निर्भरता की बात खोखली थी जबकि न केवल मशीनों और उपकरणों की सप्लाई वरन् कास्टिक सोडा, ब्लीचिंग पाउडर, सोडाक्षार, सोडियम कार्बोनेट जैसी वस्तुओं की पूर्ति भी काट दी गयी थी।

एक अनुकूलित सहज क्रिया के रूप में सबसे पहले कदम अति आवश्यक और प्रत्यक्षतः अनुभव की गयी युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति में वृद्धि करने की दिशा में थे। 4 करोड़ रुपये ही की लागत से सन् 1941 में युद्ध सामग्री और विस्फोटक पदार्थों के निर्माण का एक कार्यक्रम शुरू किया गया। आयुध कारखानों ने व्यापारिक और रेलवे वर्कशापों की सहायता से प्रेरित होकर, लगभग 700 प्रकार के अस्त्र शस्त्रों का निर्माण शुरू कर दिया। पचपन फर्मों को खाद और मशीनों के उपकरणों, ड्रिल मशीनों, भट्ठियों और शक्ति चालित धौंकनियों को बनाने का लाइसेंस दिया गया। अनेक नयी वस्तुओं, जैसे उच्च शक्ति की तोपों, ध्वंसकारी किश्तियों, तारपीडो तथा डीगासिंग (Degaussing) तारों का निर्माण शुरू किया गया।

इसके साथ ही, जनता के उपभोग और औद्योगिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए उत्पादन की अनेक नयी इकाइयां शुरू की गयीं। भारी कैमिकल उद्योग की आधारशिला सन् 1941 में रखी गयी जब सल्फ्यूरिक एसिड, सिंथेटिक अमोनिया, कास्टिक सोडा, क्लोरीन और ब्लीचिंग पाउडर का उत्पादन शुरू किया गया। एक निजी उद्यम हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट कंपनी ने अपना पहला वायुयान सन् 1941 में बनाया। जैसाकि आगे के भाग में देखेंगे, टाटा आयरन और स्टील कंपनी ने सफलतापूर्वक अस्त्रयुक्त कारों का निर्माण किया। ये मिश्रधातु और उपकरणों के इस्पात के निर्माण में भी सफल रहे, युद्ध के लिए जिनकी अत्यधिक आवश्यकता थी। सन् 1937 में महाद्वीप के बर्मा से अलग हो जाने से, भारत को अलौह धातुओं, जैसे तांबा, पारा, जस्ता, टिन और टंगस्टेन आदि को पैदा करने वाली खानों की हानि हुई। लेकिन सौभाग्य से भारत के पास तांबा तथा बॉक्साइट के कुछ थोड़े भंडार थे, जिससे अलौह धातु के उद्योगों की शुरुआत में सहायता मिल सकती थी। युद्ध से प्रेरित होकर, धातु निर्माण के उद्योगों, जैसे तांबा, तांबे की चादरें, तारों और केबिलों को शुरू किया गया। अनेक प्रकार के इंजीनियरिंग उद्योग अस्तित्व में आ गये अथवा युद्ध पूर्व के वर्षों की क्षमता में वृद्धि कर दी गयी। इनमें मुख्य थे मशीनों के उपकरण सूती वस्त्र उद्योग के संबंध में बनायी गयी मशीनरी, चाय और तेल उत्पादन के उद्योग, विद्युत उपकरण, वनस्पति तेल उत्पादन, अल्कोहल शक्ति, सिंथेटिक रेसिन और प्लास्टिक उद्योग। फिर भी अन्य कुछ ऐसे उद्योगों को जिन्होंने युद्ध से पहले कुछ थोड़ी बहुत शुरुआत की थी, अब युद्ध के कारण उत्पन्न कठिनाइयों के कारण धक्का सहन करना पड़ा। इनमें डीजल चालित इंजन, पंप, सिलाई की मशीनें और बिजली के पंखे थे।

युद्धोपरांत की स्थिति के बारे में, यहां तक कि उद्योग समूहों के बारे में भी, कुछ सामान्यीकरण नहीं किया जा सकता क्योंकि युद्ध की समाप्ति और देश के विभाजन के प्रति प्रत्येक उद्योग की प्रतिक्रिया अलग अलग थी और इन सभी उद्योगों पर अलग अलग ढंग से इसका प्रभाव हुआ। यह इस अध्याय में प्रत्येक उद्योग के बारे में दी गयी जानकारी से स्पष्ट है।

पूरे तौर पर औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि समान रूप से हुई और, सभी तथ्यों को देखते हुए, यह वृद्धि युद्ध के वर्षों में पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से हुई। युद्धोपरांत के वर्षों में, मांग में गिरावट के कारण या दूसरी बहुत सी अड़चनों के कारण, उत्पादन में, विशेष रूप से विभाजन से प्रभावित वैयक्तिक उद्योगों के उत्पादन में बहुत अधिक उतार चढ़ाव आये। औद्योगिक उत्पादन के अंतरिम सामान्य सूचकांक (1937=100) सन् 1941 में 117.8 तक पहुंच गया और अगले वर्ष 111.2 तक गिरकर सन् 1942 में 120.0 तक आ गया। तथा अधिकृत सामान्य सूचकांक (1946=100) सन् 1949 में 106.3 तक चढ़ा और सन् 1950 में 105.2 तक कुछ नीचे खिसका लेकिन सन् 1951 में प्रभावोत्पादक ढंग से 117.4 तक पहुंच गया। इन सब के बावजूद, युद्ध के दिनों में भी, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक से मिली जानकारी के अनुसार, प्रत्येक उद्योग का उत्पादन एक दूसरे से काफी भिन्न रहा। यह निम्न तालिका से स्पष्ट है–

तालिका 7.1
औद्योगिक विकास : 1939-45

(1937 = 100)

वर्ष	*सामान्य*	*सूतीवस्त्र उद्योग*	*जूट*	*इस्पात*	*कैमिकल*	*चीनी*	*सीमेंट*	*कागज*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*	*7*	*8*	*9*
1939	105.4	104.3	98.3	108.0	84.4	88.7	124.8	121.0
1945	120.0	120.0	84.4	142.9	134.1	85.5	196.6	196.5

इन वर्षों में इस्पात, कैमिकल, सीमेंट और कागज के उत्पादन में बहुत अच्छी वृद्धि हुई, जूट में गिरावट आयी और चीनी का उत्पादन अनियमित रहा और सामान्यतः गिरता ही रहा।

युद्ध समाप्ति के तुरंत बाद के वर्षों में, 'अपेक्षाकृत पुराने' उद्योगों को सामान्य रूप से धक्का लगा। सन् 1946 में, मशीनों के अधिक उपयोग, श्रम संकटों तथा परिवहन और उत्पादन की अड़चनों के कारण, और सन् 1947 में विभाजन के कारण औद्योगिक उत्पादन में गिरावट आयी। सन् 1948 में, श्रम के मोर्चे पर तीन वर्षीय समझौते के कारण, सरकार द्वारा टैक्स छूट तथा इंडस्ट्रियल फाइनेंस

कार्पोरेशन की स्थापना के द्वारा सरकार की सक्रिय सहायता के कारण, स्थिति में सुधार होना शुरू हुआ। सरकार के इंडस्ट्रियल पालिसी रिजोल्यूशन तथा विदेशी पूंजी संबंधी वक्तव्य ने कुछ मौलिक मुद्दों पर सरकार की स्थिति को स्पष्ट करने में सहायता दी। श्रम संबंधों में सुधार होता रहा और परिवहन संबंधी अड़चनें भी समाप्त कर दी गयीं। सूती वस्त्र, जूट, इस्पात और चीनी उद्योग फिर भी हानि उठाते रहे।

बागान उद्योगों में, चाय उद्योग ने, अंतर्राष्ट्रीय चाय संविदा के अंतर्गत अच्छी प्रगति की। इस एग्रीमेंट के अंतर्गत अपने सदस्य उद्योगों का समय-समय पर प्रति एकड़ उत्पादन तथा निर्यात का कोटा निश्चित किया जाता था। परिणामस्वरूप, प्रति एकड़ उत्पादन तथा निर्यात की गयी मात्रा में बहुत कम परिवर्तन किये गये। उत्पादन में फिर भी, सन् 1938 में 4500 लाख पौंड से सन् 1950 में 6130 लाख पौंड तक तथा सन् 1955 में 6650 लाख पौंड तक की बहुत अधिक वृद्धि हुई। उद्योग के मुनाफे में भी युद्ध के दौरान 50 प्रतिशत की तथा सन् 1947 तक दुगुनी से अधिक की वृद्धि हुई। इसमें उतार चढ़ाव भी आते रहे परंतु विभाजन के बाद के वर्षों में युद्ध पूर्व के स्तर से यह कुछ अधिक ही रहा। रुपये के अवमूल्यन और कोरिया युद्ध के कारण आयी तेजी से उद्योग को कोई विशेष लाभ नहीं हुआ, लेकिन पूरे तौर पर निर्यात से बहुमूल्य विदेशी मुद्रा की प्राप्ति मे वृद्धि हुई। सन् 1950 के 80 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1959 में यह 131 करोड़ रुपये तक हो गयी। भारत में रबड़ का उत्पादन सन् 1940 के 12,000 मैट्रिक टन से बढ़कर सन् 1954 में 21,000 मैट्रिक टन तक हो गया। नये उद्योगों ने जो युद्ध के साथ साथ पैदा हो गये थे अच्छी प्रगति की थी परंतु उनका कुल उत्पादन में योगदान महत्वपूर्ण नहीं था। इसलिए, उन्होंने औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक पर कुछ स्पष्ट प्रभाव नहीं दिखाया।

इन नए उद्योगों के विकास की झलक पंजीकृत कंपनियों की संख्या और उनकी जमा पूंजी में मिली।

तालिका 7.2
कंपनियों का पंजीकरण : 1939-51

वर्ष *1*	*कंपनियों की संख्या* *2*	*जमा पूंजी (करोड़ रुपयों में)* *3*
1939	11,114	290
1945	14,859	389
1950-51	28,532	775

बढ़ती हुई युद्ध की मांगों और मुद्रा स्फीति ने, युद्ध की आरंभिक अवस्थाओं

में नयी कंपनियों की बाढ़ ही ला दी। उद्यमों में सट्टाबाजी पर रोक लगाने के उद्देश्य से, पूंजी निर्गम पर नियंत्रण मई 1943 में शुरू कर दिया गया। केवल आगामी छह महीनों में नयी कंपनियों को शुरू करने के लिए या विद्यमान उद्योगों के विस्तार के लिए 25 करोड़ रुपये के नये पूंजी निर्गम के आवेदन पत्र प्राप्त हुए। युद्ध वर्षों के दौरान उद्योग में होने वाले नये विनियोग के आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं। जहां तक 1946-51 के वर्षों का संबंध है, एक अनुभव के अनुसार, इस अवधि के दौरान नये उद्योगों में हुआ कुल विनियोग 290 करोड़ रुपये का था। यह उस 125 करोड़ रुपये से अलग था जो वर्तमान उद्योगों में लगी मशीनों को बदलने के लिए नयी मशीनों के आयात के लिए था। अकेले कैमिकल के क्षेत्र में, फर्मास्युटिकल सहित, 60 करोड़ रुपये की राशि के पूंजी निर्गम का अधिकार दिया गया।

भारतीय अर्थव्यवस्था पर हुए युद्ध और विभाजन के प्रभाव को कुछ पंक्तियों में संक्षिप्त करके नहीं किया जा सकता। फिर भी इन दो घटनाओं की औद्योगिक संरचना पर हुए परिणामों की मोटी मोटी बातों का उल्लेख किया जा सकता है। युद्ध का अर्थ था उपकरणों पर अत्यधिक दबाव जिसका परिणाम था अत्यधिक घिसाई। युद्ध की आवश्यकताओं के कारण, मरम्मत का काम स्थगित कर दिया गया और रखरखाव की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। औद्योगिक विकास का कारण मुद्रा स्फीति और अभाव की स्थिति थी, न कि उद्योग की दीर्घकालीन महत्ता का विचार। कच्चे माल, राजस्व, कार्यकुशलता, बाजार की स्थिति, मानक स्तर आदि की लगातार उपलब्धि का विचार बिल्कुल नहीं किया गया। इसलिए जो भी विकास हुआ वह असंतुलित ही होना था। ऊंची लागत से एक ओर नये उद्योग की शुरुआत हुई जिससे शांति के समय में इसका कार्य संचालन कठिन हो गया। युद्ध समय के सहज मुनाफों का परिणाम हुआ सट्टेबाजी, वित्तीय कुप्रबंध तथा उपभोक्ताओं और शेयरहोल्डरों के कंधों पर सामान्य राजस्व संबंधी अविवेकपूर्ण निर्णय।

अपने पिछले अनुभवों के आधार पर, औद्योगिक समूह युद्धोपरांत की मंदी से उबरने के लिए प्रयत्नशील था। लेकिन मंदी के विश्वव्यापी घटना होने के कारण इन प्रयत्नों में सफलता नहीं मिली। इसके साथ ही, भारतीय अर्थव्यवस्था की कुछ अपनी विशेषताएं थीं जिनसे उद्योग को कुछ हानि हुई। ये अधिकांशतः युद्धोपरांत के पुनर्निर्माण कार्यक्रमों में देरी, तथा देश में अव्यवस्थित आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों के रूप में थी। दुर्भाग्यवश शीघ्र ही देश के विभाजन ने सब कुछ अस्त व्यस्त कर दिया। तालिका 7.3 देश की औद्योगिक अर्थव्यवस्था पर विभाजन के प्रभाव को दर्शाती है।

तालिका 7.3
विभाजन के परिणाम

	भारत	*पाकिस्तान*
	(शेयर प्रतिशत के रूप में)	
(1)	*(2)*	*(3)*
क्षेत्र	77	23
जनसंख्या	82	18
औद्योगिक संस्थान	91	9
एक लाख और अधिक श्रमिक नियुक्त करने वाली कंपनियां (संख्या)	6	–
खनिज उत्पादन	97	3
जूट उत्पादन	19	81
सूती कपड़ा मिलें (संख्या)	380	14
सूती कपड़ा उत्पादन	60	40
रेलवे प्रति मील	83	17

पाकिस्तान को विरासत में कोई इस्पात, जूट और कागज निर्माण का उद्योग नहीं मिला, न सूती वस्त्र, दियासलाई, सीमेंट, कांच और कैमिकल उद्योगों का ही अधिक भाग। लेकिन लगभग सभी जूट उत्पादक क्षेत्र, जिप्सम और पहाड़ी फास्फेट के भंडार तथा लंबे रेशे वाली कपास उत्पादन के क्षेत्र पाकिस्तान के हिस्से में आये। भारत को, बाजारों तथा पाकिस्तान चले गये उन कुशल कारीगरों की दृष्टि से काफी नुकसान हुआ। फिर भी, पूरे तौर पर देखा जाये तो भारत के पास अधिकांश उद्योग रह गये और जूट उद्योग के सिवाय किसी और उद्योग पर विभाजन का इतना अधिक दुष्प्रभाव नहीं हुआ।

आधारभूत संरचना

रेलवे विकास की एक शताब्दी

जैसे जैसे रेलवे मंदी के संकट से उबर रहा था और अपना स्थान बनाने के लिए प्रयत्नशील था, युद्ध शुरू हो गया, जिससे रखरखाव और बदलने का बाकी काम पिछड़ गया। युद्ध रेलवे के लिए अप्रत्याशित समृद्धि लाया। लेकिन इससे रखरखाव और बदलाव की समस्या का कोई समाधान नहीं हुआ। वास्तव में रखरखाव और बदलाव की समस्या बढ़ती ही गयी क्योंकि युद्ध के दिनों में इस दिशा में कोई भी प्रगति संभव नहीं थी। जैसे जैसे युद्ध खिंचता गया मशीनों और उपकरणों पर दबाव बढ़ता गया। यहां तक कि मध्य पूर्व क्षेत्र में प्रयोग के लिए इंजनों,

डिब्बों, रेलवे लाइनों आदि को भेजने के कारण यहां पर विद्यमान सुविधाओं को भी एक करना पड़ा। रेलवे वर्कशापों को युद्ध की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए तैयार किया गया। परिणामस्वरूप युद्ध समाप्ति के समय तक रेलवे व्यवस्था विघटन के अंतिम बिंदु तक पहुंच गयी थी।

शांति स्थापना से रेलवे में कोई सुधार नहीं हुआ। विभाजन ने व्यवस्था को पूरी तरह से अस्त व्यस्त और तितर बितर कर दिया था जिससे दबाव और बोझ बढ़ता गया। भारत और पाकिस्तान के मध्य रेलवे लाइनों और संपत्ति के विभाजन ने कुछ समय के लिए स्थिति को और अधिक उलझा दिया।

निम्न तालिका से यह देखा जा सकता है कि आवागमन के लिए खोली गयी रेलवे लाइनों की संख्या युद्ध के दौरान उतनी ही रही। वास्तव में, कुछ लाइनों के तोड़ने के कारण इस संख्या में कमी ही आयी। विभाजन के कारण देश को लगभग 6500 मील लंबी रेलवे लाइनों से हाथ धोना पड़ा।

तालिका 7.4

रेलवे लाइनों की प्रगति 1939-52 (करोड़ रुपयों में)

वर्ष	*मील लंबाई*	*निवेशित पूंजी*	*कुल प्राप्त आय*	*संचालन व्यय*	*शुद्ध आय*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*
1939-40	41,156	825.59	111.50	72.20	39.36
1945-46	40,518	872.68	243.59	169.35	74.24
1947-48	33,985	742.20	183.69	163.94	19.75
1951-52	34,119	861.55	294.14	227.59	66.55

युद्ध समय की समृद्धि, कुल आय और शुद्ध आय के आंकड़ों से स्पष्ट है। शुद्ध आय जहां सन् 1939-40 और 1945-46 के दौरान दुगुनी से भी अधिक हो गयी और कुल आय लगभग दुगुनी ही रही। विभाजन की अस्त व्यस्तता से आय में कमी आयी लेकिन खर्चे ज्यों के त्यों रहे। लेकिन अगले ही वर्ष (सन् 1948-49) कुल आय 50 करोड़ रुपये से भी ऊपर पहुंच गयी जिसका अर्थ था कि रेलवे संचालन में अपनी सामान्य स्थिति में आ गया।

बढ़ती हुई आय, उपलब्ध रेलवे सुविधाओं के अति गंभीर प्रयोग का संकेत थी। सन् 1941-42 से 1951-52 के दशक के दौरान, ढोये गये यात्रियों की संख्या 62.30 करोड़ से 123.20 करोड़ अर्थात् लगभग दुगुनी हो गयी। उससे होने वाली आमदनी 39-68 करोड़ रुपये से बढ़कर 111.42 करोड़ तक पहुंच गयी। माल ढुलाई में अधिक विस्तार नहीं हुआ क्योंकि यह 9.67 करोड़ टन से केवल 9.80 करोड़ टन तक ही पहुंचा। लेकिन माल ढुलाई की आमदनी में अच्छा खासा लाभ हुआ, क्योंकि यह सन् 1941-42 में 89.63 करोड़ रुपये से एक दशक के बाद

ही बढ़कर 153.95 करोड़ रुपये हो गया।

इस प्रकार जहां लाइनों की मील संख्या में कोई वृद्धि नहीं हुई, यातायात में अधिक वृद्धि का अर्थ था यात्री गाड़ियों में अस्वाभाविक रूप से अधिक भीड़ भाड़, परिवहन में गंभीर प्रकार के अवरोध, माल लाने ले जाने में अत्यधिक विलंब और अनेक कठिनाइयां। देश के विभाजन ने इन समस्याओं को और बढ़ावा दिया। बंगाल, असम रेलवे, और उत्तरी पश्चिमी रेलवे भारत और पाकिस्तान में विभाजित हो गयी थी और इस विभाजन के दौरान ही, दोनों देशों की सीमाओं के आर पार से शरणार्थियों के अभूतपूर्व पारगमन का भार भी रेलवे पर ही आ गया। असम रेलवे को, शेष रेल जाल से अलग कर दिया गया और नये रेलपथ के निर्माण का काम अति आवश्यक हो गया। विभाजन के सीधे प्रभाव में नहीं रहने वाली लाइनें भी पाकिस्तान में चली गयीं तथा शेष लाइनों को यातायात के अधिक भार को वहन करना पड़ा। पाकिस्तान को दी गयी लाइनों के बदले में नयी लाइनों और वर्कशाप तथा गार्ड सुविधाओं की आवश्यकता और अधिक अनुभव की गयी। बदली हुई परिस्थितियों और गंतव्यों तथा यातायात की अधिकता के कारण रेलवे संगठन में पुनर्व्यवस्था तथा रेलवे लाइनों के पुनर्वर्गीकरण की आवश्यकता थी। युद्धोपरांत के पुनर्निर्माण कार्यक्रमों को लागू करने से, आर्थिक गतिविधियों में तेजी आयी, जिससे माल का परिवहन और यात्रियों का आवागमन अधिक गति से होना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त, रेलवे को सेना, अनाज, नमक, और अन्य खाद्यान्न पदार्थों आदि के परिवहन जैसे किसी भी आकस्मिक स्थिति से निपटने के लिए सदैव तैयार रहना था।

विभाजन के बाद के वर्षों में, भारतीय रेलवे ने स्वयं को विभाजन के कारण हुई गाड़ियों की कमी को पूरा करने, बिजली की कमी से निपटने और संपर्क लाइनों के निर्माण के काम में लगा दिया। रेलवे के पास इंजनों की संख्या बहुत कम थी जब कि युद्ध के दौरान अतिरिक्त कल पुर्जों के न मिलने के कारण, चल रहे इंजनों का रखरखाव भी ठीक नहीं था। लगभग 30 प्रतिशत सन् 1949 में ही अपनी आयु सीमा को लांघ चुके थे। इसका परिणाम था रखरखाव और मरम्मत में अधिक खर्च, इंजनों में बिगाड़ और सामान्य संचालन की कार्यकुशलता में कमी। स्थिति को फिर से यथास्थान लाने के लिए लगभग 1,000 इंजन विदेशों से निर्यात करने के आदेश दिये गये।

गाड़ियों का निर्माण

लेकिन सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना, जो देश में इंजन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए थी, वह सन् 1950 में चित्तरंजन लोकोमोटिव वर्क्स को शुरू करना

था। इससे पहले देश में इंजनों का निर्माण रेलवे वर्कशापों में किया जाता था, लेकिन विशाल स्तर पर उत्पादन किया जाने वाला यह पहला प्रयत्न था। जनता की इंजन फैक्ट्री की मांग लगभग प्रथम विश्वयुद्ध से चली आ रही थी, जब इंजनों के आयात में कठिनाई अनुभव की गयी। यह मांग बाद के वर्षों में भी समय समय पर उठती रही लेकिन अधिकारियों की ओर से इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया। अंततः सन् 1939 में, भारत में इंजन निर्माण की संभावनाओं पर रिपोर्ट करने के लिए एक कमेटी भी बनायी गयी। युद्ध के हस्तक्षेप ने सरकार को तुरंत निर्णय लेने के लिए प्रेरित करने की अपेक्षा, इस प्रस्ताव को स्थगित करने का बहाना प्रदान किया। यह केवल स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद ही संभव हो सका कि योजना को फिर से देखा गया और उसका परिणाम था चित्तरंजन वर्क्स।

चित्तरंजन फैक्ट्री का निर्माण 14 करोड़ रुपये की लागत से हुआ जिसका आधा भाग कॉलोनी निर्माण तथा श्रमिकों की सुविधाओं पर खर्च किया गया। आधुनिकतम मशीनों, यंत्रों और उपकरणों से सुसज्जित इस फैक्ट्री की क्षमता प्रतिवर्ष 120 इंजनों और 50 अतिरिक्त बायलरों का उत्पादन था।

एक और इकाई, जिसने इन्हीं दिनों इंजन निर्माण का कार्य शुरू किया, टाटा इंजीनियरिंग एंड लोकोमोटिव कंपनी (टेलको) थी जिसकी फैक्ट्री टाटानगर में थी। इसका लागत मूल्य अनुमानतः 7 करोड़ रुपये था और क्षमता 50 इंजनों और 50 बायलरों की थी।

रेलवे ने सन् 1948-49 से 1955-56 के दौरान 56 करोड़ रुपये के मूल्य के लगभग 1400 इंजनों का आयात किया जबकि दोनों स्वदेशी फैक्ट्रियों ने शत प्रतिशत स्वदेश निर्मित अवयवों से अपनी पूरी क्षमता का उत्पादन कार्य करने की दिशा में प्रगति की। भारत में निर्मित इंजनों का डिजाइन भी, स्थानीय परिस्थितियों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए, विशेष रूप से तैयार की गयी थी। इसलिए स्वदेशी उत्पादनों में उत्तरोत्तर वृद्धि से न केवल आत्म-निर्भरता की आशा थी वरन् अधिक कार्यकुशलता की भी आशा थी। इसके साथ ही इंजीनियरों के विभिन्न वर्गों में छंटनी भी कार्यक्षमता को बढ़ाने की दृष्टि से की गयी। इससे पहले, प्रयोग में आने वाले विभिन्न प्रकार के इंजनों की संख्या सन् 1925 में 500 से घटकर सन् 1952 में 377 रह गयी थी। अंततः रेलवे प्रशासन ने इस संख्या को घटाकर केवल 50 तक लाने का लक्ष्य किया।

माल वाहक और यात्री डिब्बों के निर्माण का उद्योग भारत में काफी पुराना था और इनका उत्पादन सामान्य समय में रेलवे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पर्याप्त था यद्यपि पहियों, धुरियों, ढांचों और विद्युत उपकरणों का आयात ही करना पड़ता था। युद्धोपरांत के वर्षों में, उत्पादन पर इस्पात की कमी का असर पड़ा जबकि इनको बदलने की मांग अप्रत्याशित रूप से अत्यधिक थी।

रेलवे वर्कशापों के अतिरिक्त 6000 माल वाहक डिब्बों की क्षमता की चार फर्में थीं। जबकि सन् 1948-49 से 1951-52 के दौरान औसत वार्षिक उत्पादन केवल 2000 डिब्बों का था। आगामी पांच वर्षों में इसमें सुधार होता गया जब तक कि यह संख्या 14,000 से अधिक नहीं हो गयी। लेकिन रेलवे की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए यह पर्याप्त नहीं थी। सन् 1950-51 तक आयात भी नगण्य था, लेकिन 1951-52 में यह 2,459 तक बढ़ा और 1955-56 तक यह औसत 4,000 प्रति वर्ष हो गया।

यात्री डिब्वों के संबंध में स्थिति इतनी खराब नहीं थी। पहले के समय में रेलवे वर्कशॉप में अत्यधिक उत्पादन हुआ। सार्वजनिक क्षेत्र का हिंदुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड तथा कुछ निजी फर्मों ने बाद के वर्षों में काम शुरू किया। इन सबने मिलकर सन् 1951-56 के दौरान 4,384 यात्री डिब्बों का उत्पादन किया जिससे केवल 497 डिब्बों के आयात की ही आवश्यकता हुई।

सन् 1950 तक, रेलवे ने अपने काम में महसूस की जाने वाली गंभीर अड़चनों से निपटने में सफलता प्राप्त कर ली थी। ये न केवल बढ़ते हुए यातायात को संभाल सके वरन् अब उन्होंने कच्चे माल तथा तैयार सामान जैसे लोहा और इस्पात, सूती कपड़ा और सीमेंट को सबसे पहले लाने ले जाने के लिए भी आवश्यक परिवहन सुविधाएं प्रदान कीं। विशेष प्राथमिकताओं जैसे खाद्य सामग्री और कोयले की तो बात ही क्या, इनके लाने ले जाने पर विशेष ध्यान रखा गया। इस उद्देश्य के लिए काफी संख्या में विशेष गाड़ियां चलायी गयीं, जबकि यात्रियों के लिए विशेष एक्सप्रेस गाड़ियां, जो केवल तृतीय श्रेणी के यात्रियों के लिए थीं और जो जनता एक्सप्रेस गाड़ियों के नाम से लोकप्रिय हुईं, विशेष मार्गों पर चलायी गयीं। गाड़ियों की उपयोगिता और समयबद्धता में काफी सुधार हुआ।

असम रेल लिंक प्रोजेक्ट भौगोलिक और जलवायु संबंधी भारी कठिनाइयों के होते हुए भी, दो वर्षों (सन् 1948-49) के अंदर ही अंदर पूरा हो गया। कश्मीर के भारत में विलय होने के परिणामस्वरूप बढ़ते हुए यातायात को देखते हुए पठानकोट तक के लिए एक वैकल्पिक मार्ग बनाने के उद्देश्य से मुकेरियन पठानकोट लाइन को (सन् 1949-52) पूरा किया गया। तीसरा प्रोजेक्ट कंडला-डीसा लाइन का था जो सन् 1950-52 में पूरा किया गया। कराची के पाकिस्तान में चले जाने से, पश्चिम तट पर एक बंदरगाह की आवश्यकता अनुभव की गयी और इसकी पूर्ति कांडला को एक विकल्प के रूप में विकसित करके की गयी।

निर्माण, बदलाव और सुधार की इन विभिन्न योजनाओं पर रेलवे को काफी धनराशि लगानी पड़ी। आमदनी की अपेक्षा खर्चों में अधिक तेजी से वृद्धि हुई। जबकि सरकार की वित्तीय स्थिति पहले से अत्यधिक चिंताजनक थी, रेलवे के आय के साधन और भी असंतोषजनक थे। परिप्रेक्ष्य में देखने पर लगता था कि

सन् 1924 के रेलवे कन्वेंशन ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति नहीं की थी और उनमें संशोधन की आवश्यकता थी। कन्वेंशन ने रेलवे को एक व्यापारिक उद्यम मानकर इसको वित्तीय प्रशासन में काफी स्वतंत्रता और गतिशीलता देने का प्रावधान रखा जिससे कि रेलवे अपने भावी विस्तार की योजनाएं बना सके। लेकिन वास्तव में, रेलवे वित्त व्यवस्था अत्यधिक अनिश्चितता की शिकार थी, यहां तक कि तीसरे दशक में अवक्षयण कोष भी समाप्त हो गया था। इसलिए सन् 1949 में रेलवे राजस्व को पुनर्व्यवस्थित करने की दृष्टि से एक संसदीय कमेटी की स्थापना की गयी। कमेटी द्वारा अनुशंसित संशोधित कन्वेंशन 1 अप्रैल 1950 से लागू हुई।

रेलवे कन्वेंशन में संशोधन

नये समझौते के अंतर्गत, सामान्य करदाता को रेलवे के एक मात्र शेयरहोल्डर की भूमिका दी गयी जिसको सरकार द्वारा ऋण पूंजी के अनुसार 4 प्रतिशत लाभांश के मिलने की गारंटी दी गयी थी। अवक्षयण कोष में न्यूनतम 15 करोड़ रुपये का योगदान निर्धारित किया गया था जबकि वास्तविक राशि रेलवे के लाभ पर आधारित की गयी। पूंजी और आमदनी के बीच खर्चे के निर्धारण के लिए संशोधित नियमों के द्वारा पूंजी बहुलता को समाप्त करने का प्रयत्न किया गया। प्राचीन नियमों के अनुसार पूंजी बहुलता होना अनिवार्य था। सुधार और वृद्धि सहित बदलाव की पूरी लागत को अवक्षयण कोष से वसूल किया जाना था। यात्री सुविधाओं, श्रमिक कल्याण तथा उन प्रोजेक्टों के लिए जिनसे यद्यपि शुरू में कोई आमदनी नहीं थी लेकिन बाद में जो राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए हितकारी थे, एक विकास कोष की स्थापना की गयी। यह समझौता पांच वर्षो तक के लिए चलना था और इसके अंतर्गत युद्धोपरांत के रेलवे की विकास योजनाओं के लिए पर्याप्त संसाधनों का आश्वासन दिया गया। इसके अनुसार ऋण खाता और ब्लाक एकाउंट (अलग खाता) को अलग अलग कर दिया गया। पहले में कुल जमा पूंजी थी तो दूसरे में रेलवे की संपत्ति दिखायी गयी चाहे वह आय से एकत्र की गयी हो अथवा ऋणों से।

रेलवे की पुनर्स्थापना तथा अर्थव्यवस्था में सुधार के साथ साथ लागू किये गये संशोधित समझौते का इस उपक्रम की वित्तीय स्थिति पर बहुत अधिक अनुकूल प्रभाव पड़ा।

जैसाकि हमने पहले देखा, भारतीय रेलवे प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ही अपने विस्तार के शिखर पर पहुंच गयी थी। युद्ध वर्षों के दौरान लगभग 6500 मील लंबी नयी लाइनों का निर्माण हुआ, लेकिन 19वीं सदी की उत्तेजनापूर्ण गतिविधियों को देखते हुए यह विकास अथवा सन् 1900 से सन् 1914 के दौरान 12,000

से भी अधिक मील लंबी लाइनों का निर्माण उतना महत्वपूर्ण नहीं था। इस प्रकार सन् 1939 तक दृढ़ीकरण का एक नया चरण पूरा हो चुका था और युद्ध तथा देश विभाजन ने इसे और अधिक जरूरी बना दिया था। इसके अतिरिक्त, प्रारंभ से ही, रेलवे का निर्माण बिना किसी नियोजित रूपरेखा अथवा निश्चित प्रतिमान के हुआ जिसका परिणाम था, क्रियान्वयन में विविधता, काम करने की कुशलता और क्षमता स्तर में अंतर तथा जनसाधारण के लिए सेवा स्तर में असमानता। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद रेलवे पूरी तरह से सरकारी उपक्रम बन गया। लेकिन इसके बावजूद सन् 1948 में 42 प्रकार की रेलवे व्यवस्थाएं थीं जो प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय वर्ग की रेलवे में वर्गीकृत थी।

रेलवे के विवेकपूर्ण पुनः सामूहीकरण के लिए सुझाव, सिफारिश और दबाव, वर्तमान शताब्दी के बदलने के समय से शुरू होकर समय समय पर आते रहे। एकवर्थ कमेटी और उसके बाद इंचाप कमेटी ने इस मांग का ज़ोरदार समर्थन किया लेकिन ठोस रूप में कुछ कार्य नहीं हुआ। स्वतंत्र भारत में ही अंततः रेलवे की पुनर्सामूहीकरण के प्रभाव पर काम हुआ। सन् 1950 में रेलवे बोर्ड द्वारा प्रस्तावित योजना के अनुसार, आगामी दो वर्षों में, छह क्षेत्रीय पद्धतियों–उत्तर, उत्तर पूर्वी, पूर्वी, दक्षिणी, मध्य और पश्चिमी रेलवे की स्थापना हुई।

इस प्रकार, प्रथम पंचवर्षीय योजना के उद्‌घाटन से पूर्व, रेलवे ने अपनी संगठनात्मक स्थिति को सरल और पुनर्स्थापित करना शुरू किया, लेकिन इसका प्रभाव अभी स्पष्ट नहीं था। पुनर्स्थापना का पिछला काफी काम बाकी था, जिसके निपटने पर ही, नियोजित आर्थिक विकास के युग में, रेलवे की अपनी जिम्मेदारियों को प्रभावपूर्ण ढंग से निबाहने की तैयारी निर्भर करती थी। यह अनुमान लगाया गया कि मार्च 1956 तक 2,092 इंजनों, 8,535 सवारी डिब्बों तथा 47,533 वैगनों को बदलना जरूरी था। लगभग 2,000 मील से भी अधिक की रेल लाइनों के नवीनीकरण की आवश्यकता होगी।

सड़क मार्ग

चौथे दशक की प्रमुख घटनाओं में एक थी नागपुर योजना (सन् 1943) का प्रतिपादन जिसने बाद के दो दशकों में सड़क विकास नीति को एक आकार देकर उसका दिग्दर्शन किया। पहली बार यह अनुभव किया गया कि पूरे देश की दीर्घकालीन आवश्यकताओं के साथ साथ इस समस्या के प्रति एक संगठित और समेकित रुख अपनाया जाये और सुव्यवस्थित रूप में इसका समाधान खोजा जाये। नागपुर योजना का उद्देश्य था प्रत्येक गांव के 'एक सुविकसित कृषि क्षेत्र' में पांच मील के अंदर अंदर एक मुख्य सड़क और दो मील के अंदर अंदर एक छोटी

सड़क बनाना। कृषि रहित और कम विकसित क्षेत्रों के बारे में, योजना का उद्देश्य था कि कोई भी गांव सड़क से पांच मील से अधिक और मुख्य सड़क से बीस मील से अधिक दूर नहीं होना चाहिए। यह गणना की गयी कि यदि सड़कों का विकास इन उद्देश्यों के अनुसार किया गया तो दस वर्षों में समतल सड़कों की लंबाई 88,000 मील से बढ़कर 1,23,000 मील तक हो जानी चाहिए और गैर समतल सड़कों की लंबाई 1,32,000 मील से बढ़कर 2,08,000 मील। नागपुर योजना में होने वाले काम का खर्च 372 करोड़ रुपये आंका गया।

नागपुर योजना को, निर्माण सामग्री, प्रशिक्षित कारीगरों और धन की कमी के कारण निश्चित समय पर लागू नहीं किया जा सका। योजना के बाद के दशक (सन् 1943-53) में, अनुमानित व्यय का केवल दस प्रतिशत ही खर्च किया गया। सन् 1951 में, देश के पास 97,567 मील लंबी समतल तथा 1,50,945 मील लंबी गैरसमतल सड़कें थीं। यह भी ध्यान देने की बात है विभाजन पूर्व की कुछ सड़कें भारत से पाकिस्तान में चली गयी थीं। नागपुर योजना में भारत के विभाजन पूर्व के लिए निश्चित किये गये इन दस वर्षीय लक्ष्यों को 1956 तक पूरा किया जा सका जब सड़कों की कुल लंबाई 1,13,725 (समतल) तथा 1,95,931 (गैर समतल) हो गयी। फिर भी, सड़कों का विकास, वाहनों की संख्या को देखते हुए परिवहन आवश्यकताओं की तुलना में, धीमा ही लगा।

तालिका 7 5
सड़क परिवहन : 1938-51

(31 मार्च के दिन)

	1938	*1946*	*1951*
1	2	*3*	*4*
सड़कें (मील लंबी)	2,84,291	2,06,618	2,48,512
बसें (संख्या)	23,645	23,645[1]	34,411
ट्रक (संख्या)	12,397	40,107	81,888
कारें (संख्या)	91,841[2]	1,05,000	1,45,290

सन् 1950 के पूर्व के वर्षों के यात्री तथा माल परिवहन के कोई आंकड़े अथवा अनुमान उपलब्ध नहीं हैं। इसलिए सड़क परिवहन के विकास की दिशा को खोज पाना कठिन है, सिवाय इस बात के कि चलते वाहनों के आधार पर कुछ निष्कर्ष निकाले जायें। वाहनों में भी, बैलगाड़ियों की संख्या काफी अधिक

1. मोटे तौर पर युद्ध पूर्व का स्तर जो इस अन्तराल में कुछ गिरावट के बाद प्राप्त किया गया।
2. सन् 1940 के लिए।

थी और इनके द्वारा ले जाया गया परिवहन भी अच्छा खासा होना चाहिये। लेकिन इसके आंकड़े भी बहुत कम और अविश्वसनीय हैं। पूर्व के वर्षों की सड़कों की लंबाई के आंकड़े भी प्रामाणिक नहीं है। विस्तार भी समान नहीं था और पहले के समय की संख्या बाद के वर्षों की तुलना में काफी अधिक थी और इसका कोई औचित्य नहीं दिया गया था। इसलिए उपलब्ध आंकड़ों को केवल काम चलाऊ मानना चाहिए।

युद्ध पूर्व के वर्षों से ही, भारत में कारों और ट्रकों को पुरजे जोड़कर बनाने का काम जनरल मोटर्स लि. और फोर्ड मोटर्स लिमिटेड द्वारा किया जाता था। युद्ध से पहले कारों और ट्रकों को जोड़ने की क्षमता 30,000 प्रतिवर्ष से भी कम थी। सन् 1946-50 के वर्षों में यह दुगनी से भी अधिक हो गयी थी। लेकिन सन् 1950 में उत्पादन की स्थिति केवल 6,588 कारें और 8,016 ट्रकें थीं। टैरिफ कमीशन की सिफारिशों के अनुसार, पांचवें दशक में देश में मोटर वाहनों के अधिकाधिक निर्माण के लिए पग उठाये गये। युद्ध से पूर्व भारत ने औसत रूप में 22,000 वाहन (12,000 कारें और 10,000 ट्रक) प्रति वर्ष आयात किये और ब्रिटेन ही इनका सबसे बड़ा सप्लायर था। आयात 1950-51 में घटकर 13,000-14,000 तक आ गया और आगामी कुछ वर्षों तक उत्तरोत्तर गिरता ही रहा। देश में प्रयोग में आ रहे वाहनों की संख्या सन् 1940 में 1,28,750 से बढ़कर सन् 1950 में 1,78,299 और सन् 1953 में 3,33,329 हो गयी। इनमें से लगभग आधी निजी कारें थीं।

मोटर परिवहन के सहायक उद्योगों के विकास की गति धीमी थी। पांचवें दशक के आरंभ में सिलेंडर लाइनरों, पिस्टन छल्लों, पिस्टनों और स्पार्किंग प्लगों के निर्माण के लिए एक इकाई प्रारंभ हुई। लेकिन इसका उत्पादन सीमित था। जहां तक रबड़ उपकरणों का प्रश्न है, भाग्यवश भारत के पास अपनी आवश्यकतानुसार रबड़ थी। वास्तव में मोटरों और रबड़ उद्योग की पारस्परिक-निर्भरता इतनी थी कि रबड़ उद्योग के उत्पादन के 80 प्रतिशत से भी अधिक की खपत मोटर उद्योग में हो जाती थी। टायरों और ट्यूबों के उत्पादन में 1947 से 1951 के दौरान काफी वृद्धि हुई लेकिन इसके बाद मोटर उद्योग के सामने आयी अनेक कठिनाइयों के कारण इसमें गिरावट भी आयी।

जहाजरानी और जलपोत-निर्माण

आधुनिक भारतीय जहाजरानी का इतिहास सन् 1919 के वर्ष में खोजा जा सकता है जब 'सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कंपनी' ने अपना काम शुरू किया। युद्ध से पूर्व भारतीय जहाजरानी का कुल टन भार 1,25,000 जी.आर.टी. था लेकिन युद्ध

द्वारा किये गये विध्वंस के कारण, युद्ध की समाप्ति पर वह घटकर 1,00,000 तक आ गया। सन् 1947 की शिपिंग पॉलिसी कमेटी ने सिफारिश की थी कि आगामी पांच से सात वर्षों में 20 लाख टन भार का लक्ष्य प्राप्त करना चाहिए जिससे कि 100 लाख टन से भी अधिक प्रति वर्ष की मात्रा का माल वाहन और लगभग 30 लाख यात्रियों को लाया ले जाया जा सके। तथापि, सन् 1950 के अंत तक यह स्तर केवल 417,257 टन तक ही पहुंचा, इस समय भारतीय तटों पर कुल 217,202 टन पंजीकृत भार के 73 जहाज थे और विदेशी व्यापार में कुल 173,505 की जी.आर.टी. क्षमता वाले भारतीय स्वामित्व के 24 जहाज थे। इनमें आधे से अधिक जहाज 20 वर्ष से भी ज्यादा पुराने थे।

युद्ध से पूर्व तटीय व्यापार में भारत का हिस्सा केवल 33 प्रतिशत था। सन् 1948 में यह 53 प्रतिशत तक बढ़ा और सन् 1949 में 75 प्रतिशत हो गया। तटीय व्यापार सन् 1950 में, लंबे समय से चली आ रही मांग के उत्तर में भारतीय जहाजों के लिए आरक्षित था। सन् 1952 के अंत तक, लगभग सारा व्यापार (96 प्रतिशत) भारतीय जहाजों से ही होता था।

भारत का विदेशी व्यापार, फिर भी, विदेशी जहाजों से ही होता था। यह हमारी मूल्यवान विदेशी मुद्रा के लिए काफी भारी पड़ता था। फिर भी, विकसित होती तटीय और अंतर्देशीय जल परिवहन सेवाएं रेलवे के भार को काफी सीमा तक कम कर सकती थीं। सरकार ने सन् 1947 में इस सुझाव को स्वीकार कर लिया था कि भारत का लक्ष्य पांच से सात वर्षों के अंदर अंदर अपने जहाजों से शत प्रतिशत तटीय व्यापार, पड़ोसी देशों के साथ का 75 प्रतिशत व्यापार और दूरस्थ देशों के साथ का 50 प्रतिशत व्यापार करने का होना चाहिए। इस लक्ष्य प्राप्ति के लिए, यह आवश्यक था कि भारतीय व्यापारिक जहाजी बेड़ों के विस्तार के लिए तथा पुराने जहाजों को बदलकर नये जहाज लाने के लिए कठोर कदम उठाये जायें। मुख्य रूप से दूसरे उद्देश्य की पूर्ति के लिए, सरकार ने विशाखापटनम में जलपोत निर्माण के लिए धन की व्यवस्था की। जहां तक बेड़े के विस्तार का प्रश्न है, देश के पास आवश्यक टन भार के जहाजों के निर्माण के लिए पर्याप्त क्षमता नहीं थी, विशेषकर विदेश जहाजसेवा के लिए, और आवश्यकता पूर्ति का एकमात्र तरीका था विदेशों से जहाजों की खरीदारी।

विशाखापटनम जलपोत निर्माण बंदरगाह

यद्यपि बंबई में जलपोतों के निर्माण, मरम्मत तथा पुनर्व्यवस्था का कार्य डेढ़ सौ वर्षों से होता रहा और युद्ध के दौरान बांबे नैवल डौकयार्ड ने महत्वपूर्ण कार्य किया, भारत के जलपोत निर्माण उद्योग ने अपने कार्य का श्रीगणेश सन् 1941

में किया जब सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कंपनी ने विशाखापटनम में डौकयार्ड बनाने का काम अपने हाथ में लिया। जैसाकि अन्य निर्माण कार्यों में हुआ है, सिंधिया का प्रोजेक्ट इसलिए चल निकला क्योंकि भारत की तरफ युद्ध सामग्री लेकर आते हुए जहाजों को जब शत्रु की पनडुब्बियों ने मार गिराया तो सरकार इनके स्थान पर स्वदेशी जहाजों के निर्माण के लिए विवश हो गयी। शत्रु की बमबारी ने विशाखापटनम में कोई प्रगति नहीं होने दी, और कुछ समय के लिए, अधिकांश उपकरणों को बंबई स्थानांतरित करना पड़ा। सन् 1943 में काम फिर से शुरू किया गया, लेकिन गति धीमी थी, और गोदी (यार्ड) सन् 1947 तक भी तैयार नहीं हुआ था। भारत में निर्मित पहला स्टीमर सन् 1948 में शुरू हुआ। सन् 1950 तक यार्ड ने 8,000 टन की क्षमता के तीन जहाजों का निर्माण कर लिया था। यह एक प्रकार से खर्चीला था और, यद्यपि निर्माण क्षमता को 8 जहाजों तक बढ़ाया जा सकता था, कंपनी के पास अपने विस्तार के लिए पर्याप्त धन नहीं था। यार्ड को बचाने का केवल एक ही रास्ता था कि सरकार इसे अपने अधिकार में ले लें। लेकिन सिंधिया कंपनी को दी जाने वाली मुआवजा राशि पर उलझनें खड़ी हो गयीं। इस दौरान, सरकार ने कंपनी को जीवनदान देने के उद्देश्य से, इनको जलपोत निर्माण के आदेश देने शुरू कर दिये। सन् 1951 में, सरकार ने सन् 1947-49 के दौरान बने जहाजों के लिए वित्तीय अनुदान देने का निश्चय किया। फिर भी इस सब सरकारी सहायता का उद्देश्य, यार्ड को नया जीवन देने की अपेक्षा, इसे केवल जीवित रखने का था। अंततः सन् 1952 में, होनहार को स्वीकार किया गया और विशाखापटनम शिपयार्ड के अधिकरण के लिए एक सरकारी कंपनी, हिंदुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड बनायी गयी।

ऐसा प्रतीत होता है कि देश में सर्वप्रथम और प्रमुख जलपोत निर्माण का उद्यम विपरीत परिस्थितियों में शुरू किया गया जबकि देश की विकसित होती निर्माण क्षमता की कंपनी को अत्यधिक आवश्यकता थी। विशाखापटनम एक आदर्श स्थान था। लेकिन सहायक उद्योगों के अभाव में शिपयार्ड को अपने उपयोग की हर वस्तु का निर्माण स्वयं ही करना पड़ता था। सीमित मांग को देखते हुए, टाटा कंपनी को, जो इस्पात चादरें सप्लाई करती थी, शिपयार्ड की आवश्यकता के आकार की चादरों के निर्माण के लिए एक नया चादर कारखाना लगाना लाभप्रद नहीं लगा। न तो मशीन उपकरण उद्योग का पर्याप्त विकास हुआ था और न ही मोटर निर्माण उद्योगों का। ढलाई क्षमता को भी बढ़ाने की आवश्यकता थी और आवश्यक आकार की चादरों की उत्पादन मिलों का आधुनिकीकरण भी होना चाहिये था। युद्धकाल की ऊंची कीमतों पर उपकरण खरीदे गये और कारीगरों को विशेष रूप से प्रशिक्षित किया गया।

इस प्रकार जलपोत निर्माण एक नये उद्योग की स्थापना के नियोजन में आने

वाली कठिनाइयों का एक अच्छा उदाहरण था विशेषकर वहां, जहां कि सहायक उद्योगों का विकास न हुआ हो।

सरकारी अधिकरण ने, इसलिए यार्ड की आर्थिक स्थिति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं किया। अनुदान योजना को फिर से शुरू किया गया क्योंकि भारत में बनाये जा रहे जहाजों का लागत मूल्य विदेशों में निर्मित जहाजों से अधिक ही आ रहा था। इसे कम करने के लिए यार्ड की क्षमता में विस्तार करना आवश्यक था, और इस क्षमता के उपयोग को बनाये रखने के लिए यार्ड को अधिक से अधिक आर्डर देने की आवश्यकता थी, ड्राइडौकिंग सुविधाओं को जुटाना भी आवश्यक था, और इन सबके लिए काफी मात्रा में धन की आवश्यकता थी। यार्ड की संचालन कार्यकुशलता में बहुत कुछ होना बाकी था। माल सप्लाई की तिथि में कोई नियमितता नहीं बरती गयी। जहाजों के आकार में बार बार किये गये परिवर्तनों के कारण सप्लाई में और देर हुई और लागत मूल्य भी अधिक आया। 4,000 मील लंबी तटीय लाइन तथा सीमित बेड़े वाले देश के लिए, 50,000 टन प्रति वर्ष की क्षमता का शिपयार्ड, 20 लाख टन के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए पर्याप्त नहीं था। वास्तव में, यह बदलाव की आवश्यकता को भी पूरा नहीं कर सकता था। यार्ड को अपने पैर जमाने के लिए संघर्ष करना भी निराशाजनक लग रहा था। जहाजरानी उद्योग को, अन्यों के विपरीत, पूरी विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा था, अनुदानों के द्वारा इसे पूरी तरह संरक्षण नहीं दिया जा सकता था। इसलिए, सरकार के पास और कोई विकल्प नहीं था सिवाय इसके कि इस उद्योग को प्रतिस्पर्धात्मक बनाने की दृष्टि से इसकी क्षमता में तीव्रता से विस्तार करे। यद्यपि जहाजरानी एक 'मिश्रित' उद्योग था, जलपोत निर्माण पर सरकार का स्वामित्व हो गया था।

पांचवें दशक के मध्य तक, भारतीय जहाजरानी और जलपोत निर्माण उद्योगों का विकास सीमित रहा। इनको और अधिक गति से बढ़ाने की आवश्यकता थी। इनका टन भार 5 लाख जी.आर.टी. था जो पूरे विश्व के टन भार का आधे प्रतिशत से कुछ ही अधिक था। ये देश के पूरे तटीय व्यापार को लाने ले जाने के लिए पर्याप्त मात्र थे। लेकिन आसपास के व्यापार का 40 प्रतिशत और विदेशी व्यापार का 5 प्रतिशत ला और ले जा सकते थे। इन दोनों उद्योगों को, व्यापार और उद्योग की बढ़ती आवश्यकताओं की पूर्ति योग्य बनाने के लिए अभी काफी काम करना बाकी था। भारत का तेल के आयात का औसत 30 लाख टन था लेकिन देश के पास अपना एक भी टैंकर नहीं था।

यदि व्यापारिक जहाजरानी को सेना का चौथा अंग समझा जाये, जैसा कि युद्ध के दिनों में होना चाहिये, तब नौसेना और इसकी समन्वित विकास की आवश्यकता थी। लेकिन इस प्रकार की आवश्यकताओं के बारे में जानकारी बहुत कम थी।

अंतर्देशीय जल परिवहन व्यवस्था एक प्रकार से उपेक्षित ही रही जब तक युद्धोपरांत के वर्षों में इसमें रुचि फिर से जागृत नहीं हुई जब परिवहन की बढ़ती आवश्यकताओं के कारण सभी उपलब्ध सुविधाओं के प्रयोग और विकास पर जोर दिया गया। आंतरिक भारत में नदियों और नहरों से भी, जिनमें 8,400 मील लंबा आंतरिक जलमार्ग है और इसके पांचवें हिस्से में स्टीमरों द्वारा आना जाना हो सकता है, उचित रूप में जल परिवहन का विकास नहीं हो पाया, सिवाय पश्चिमी बंगाल, असम और उड़ीसा के उत्तर पूर्वी प्रदेशों में तथा दक्षिण में केरल, मद्रास और आंध्र प्रदेश में। पहले कभी न तो जलमार्गों के रखरखाव अथवा उनमें सुधार के लिये सतत प्रयत्न किये गये, न ही विभिन्न परिवहन व्यवस्थाओं के समन्वित विकास के प्रयास किये गये। जल संभवतयाः कुछ विशेष प्रकार के सामान के परिवहन का सबसे सस्ता साधन है। जल मार्ग में आये गाद की सफाई का खर्च अपेक्षाकृत काफी कम होता है। फिर भी, जल परिवहन द्वारा प्रदत्त लाभों के उपयोग के लिए व्यवस्थित प्रयास नहीं किये गये जब तक आर्थिक नियोजन का युग प्रारंभ नहीं हुआ।

बंदरगाह और पत्तन सुविधायें जहाजरानी और जल परिवहन की मूलभूत आवश्यकताएं होती है। बंदरगाह और निकासी सुविधाओं की कमी एक दूसरी गंभीर अड़चनें थीं जिनसे जहाजरानी उद्योग को काफी हानि उठानी पड़ी। परिणामस्वरूप, कुछ मुख्य बंदरगाहों पर इस प्रकार की कठिनाइयां, भीड़-भाड़ तथा विलंब होते थे जिनसे छुटकारा पाया जा सकता था। सन् 1950-51 में पांच बड़े बंदरगाहों, बंबई, कलकत्ता, मद्रास, विशाखापटनम और कोचीन (कांडला अभी विकसित हो रहा था) में से बंबई और कलकत्ता के दो प्रमुख बन्दरगाहों पर ही बड़े बंदरगाहों द्वारा संचालित यातायात का तीन चौथाई यातायात संचालित हुआ। कराची बंदरगाह के चले जाने से बंबई बंदरगाह पर अधिक बोझ आ गया और विकल्प के रूप में कांडला बंदरगाह का तेजी से विकास होना अत्यधिक आवश्यक था। बड़े बंदरगाह अपनी क्षमता के अनुसार पूरा काम कर रहे थे और व्यापार के मौसमी बोझ के आधिक्य को संभालने के लिए उनके पास अतिरिक्त साधन नहीं थे। बंदरगाहों के उपकरणों का प्रयोग युद्ध के दौरान बहुत अधिक हो गया था और ये अब पुराने हो गये थे। बंबई में दो तेल शोधकों की स्थापना से अतिरिक्त बंदरगाह सुविधाओं की आवश्यकता हुई। युद्ध के बाद विशाल स्तर पर अनाज की ढुलाई को प्राथमिकता देनी थी। इसलिए बंदरगाहों की सामान्य यातायात की क्षमता और घटती चली गयी।

बढ़ती हुई तटीय और आंतरिक जल परिवहन को देखते हुए तथा बड़े बंदरगाहों के भार को कम करने के उद्देश्य से मध्य दर्जे के तथा छोटे बंदरगाहों की एक शृंखला को विकसित करने की आवश्यकता थी।

नागरिक उड्डयन का प्रारंभ

भारत वायु परिवहन के पहले के प्रारंभकर्ताओं में एक था। लेकिन, सामान्यतः पूरे विश्व में, परिवहन के इस साधन का विस्तार युद्धोपरांत की घटना है। सन् 1948 में इंडियन एयरलाइंस के यात्री उड़ान की संख्या लगभग 1780 लाख थी जो पूरे विश्व यातायात का 1.35 प्रतिशत था। इस वर्ष में वायु परिवहन द्वारा ले जाये गये माल की उड़ान 2625 लाख मील लंबी थी। विश्व की वायु सेवाओं में भारत का हिस्सा कुल का केवल 1.2 प्रतिशत था।

सरकार ने वायु परिवहन के लिए युद्धोपरांत की विकास योजनाए बनायीं, लेकिन यह विकास की बजाये नियंत्रण और नियमन की योजना अधिक थी। इस योजना ने बस इतना ही किया कि नागरिक उड्डयन को कुछ विशेषकर चार निजी कंपनियों के हाथों का सरकार का इरादा प्रकट कर दिया, और विकास की बात निजी कंपनियों को सरकारी वित्तीय सहायता देने तक केवल सीमित रह गयी। युद्ध काल की महंगाई के कारण और युद्ध से बचे कुछ विशेष प्रकार के वायुयानों के सस्ते दामों पर मिलने के कारण, कुकुरमुत्तों की तरह कंपनियों की बाढ़ सी आ गयी। सन् 1949 के अन्त तक, लगभग 9 कंपनियों को आंतरिक वायु सेवाओं को चलाने का लाइसेंस दे दिया गया था। एयर ट्रांसपोर्ट इन्क्वायरी कमेटी ने अपनी जांच में पाया कि इनमें से अधिकांश की वित्तीय स्थिति अच्छी नहीं थी। इसके अतिरिक्त, डकोटा के स्थान पर आधुनिक वायुयान लाने के प्रस्ताव से, इतने अधिक ऑपरेटरों का रखना सस्ता नहीं समझा गया। इसलिए, आंतरिक उड्डयन को चलाने के लिए केवल एक वैधानिक कार्पोरेशन बनाने का प्रस्ताव आया, जैसा कि सभी अंतर्राष्ट्रीय वायुमार्गों के लिए केवल एक 'एयर इंडिया' थी। सन् 1953 में प्रस्ताव लागू हो गया जब नागरिक उड्डयन का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया और दो निगमों की स्थापना हो गयी।

इससे पहले कि विस्तार योजनाओं पर विचार किया जा सके। उद्योग की सबसे प्रमुख और तुरंत की समस्या थी, घिसे पिटे और पुराने वायुयानों और उपकरणों का नवीनीकरण। पहली पंचवर्षीय योजना के समय, नागरिक उड्डयन विभाग के अंतर्गत 72 हवाई अड्डे थे। इनमें से बहुतों के पास पर्याप्त सुविधाओं, जैसे उचित हवाई पट्टियां, टैक्सी रास्ते, हैंगर्स, टर्मिनल भवन और स्थायी भूतल प्रकाश व्यवस्था आदि, का अभाव था। नये बनते हवाई अड्डों को संचार साधनों और अन्य हवाई अड्डा उपकरणों को देने की आवश्यकता थी। उपलब्ध प्रशिक्षित कार्मिकों की संख्या भी कम थी, इसलिए प्रशिक्षण की विस्तृत योजनाएं चलानी आवश्यक थीं।

कोयला, तेल तथा विद्युत

कोयला

भारत के उद्योगों और परिवहन के लिए कोयला एक मुख्य शक्ति संसाधन रहा है। वास्तव में बर्मा में उत्पादित तेल की हानि के परिणामस्वरूप एक समय कोयले पर निर्भरता अपेक्षाकृत बढ़ गयी। अधिक उत्पादन के एक चरण के बाद जिसके कारण मूल्यों में गिरावट आयी, तथा मंदी के दौरान खर्चीली खदानों के बंद हो जाने के कारण, सन् 1937 के बाद इस उद्योग में फिर एक नया जीवन आया। उत्पादन में वृद्धि और कीमतें भी बढ़ीं। लेकिन सन् 1942 के बाद, मांग के बढ़ते ही कोयले की अत्यधिक कमी हो गयी, लेकिन उत्पादन में मशीनों के अभाव, परिवहन कठिनाइयों, और श्रम समस्याओं के कारण रुकावट आयी। लेकिन सन् 1946 के बाद उत्पादन में उत्तरोत्तर सुधार हुआ।

कोयले के उत्पादन में वृद्धि सन् 1938 के 280 लाख टन से सन् 1942 में 290 लाख टन हो गयी। लेकिन सन् 1946 में यह गिरावट 260 लाख टन रह गयी। युद्धोपरांत के वर्षों में उत्पादन में वृद्धि तेजी से हुई। सन् 1948 में यह 290 लाख टन के युद्ध समय की सीमा तक पहुंच गयी और तेजी से बढ़ती गयी, सन् 1950 में 320 लाख टन, सन् 1951 में 340 लाख टन और सन् 1955 में 380 लाख टन तक पहुंची (इन वर्षों में जबकि आयात नगण्य ही था, निर्यात जो दूसरे दशक के प्रारंभ में काफी अधिक था, मंदी के दिनों में घट गया। सन् 1937 के बाद यद्यपि निर्यात में सुधार हुआ, और युद्ध वर्षो के सिवाय, युद्धोपरांत के प्रारंभिक वर्षो में यह अच्छा खासा रहा। इस प्रकार, सन् 1938-39 के 13 लाख टन से और सन 1939-40 के 20 लाख टन से भी अधिक से घटकर, सन् 1943-44 में यह केवल एक लाख 60 हजार टन रह गया। लेकिन सन् 1948-49 में एक बार फिर, निर्यात युद्ध-पूर्व के स्तर 13 लाख टन तक पहुंच गया। अगले वर्ष बढ़कर यह 23 लाख टन हो गया। सन् 1950-51 का वर्ष निर्यात के लिए खराब था जब यह गिरकर केवल 9 लाख 90 हजार टन रह गया। लेकिन कोरिया युद्ध के कारण सन् 1951-52 में यह 28 लाख टन तक पहुंचा। अगले वर्ष निर्यात पहले वर्ष के स्तर (27 लाख) तक बना रहा लेकिन सन् 1953-54 में 19 लाख टन तक घट गया। पूरे तौर पर, युद्धोपरांत के वर्षों में निर्यात स्थिति उत्साहजनक थी और विश्वभर में कोयला की कमी के कारण, भारतीय निर्यात ने न केवल खोये हुए बाजार पर पुनः कब्जा किया वरन् अनेक नये स्थानों पर अपने पैर जमाये। लेकिन निर्यात की संभावनाएं अनिश्चित थीं विशेषकर जब स्वदेशी मांग बढ़ती जा रही थी और विदेशी प्रतिस्पर्धा में भी वृद्धि हो रही थी।

उद्योग के सामने वही पुरानी समस्याएं बनी रहीं जिनमें से कुछ तो युद्ध और विभाजन के कारण गहन होती गयीं। ये सब छोटी और अत्यधिक खर्चीली इकाइयों की अधिकता, परिवहन संबंधी कठिनाइयों, अनियमित मौसमी परिवर्तनशील श्रम आपूर्ति और अच्छे कोयले की खोज, विकास और संरक्षण से संबंधित समस्याएं थीं। 10,000 टन प्रति माह अथवा इससे कम मात्रा में कोयला उत्पादन करने वाली खानों की संख्या सन् 1942 में 337 से बढ़कर सन् 1947 में 478 हो गयी अथवा खानों की कुल संख्या के 46 प्रतिशत से बढ़कर 53 प्रतिशत हो गयी। छोटी खानों को मिलाने के कोई प्रयत्न नहीं किये गये। बड़ी खानों की संख्या में साथ साथ वृद्धि हो रही थी और नयी नयी खानों का मशीनीकरण हो रहा था। कोयला कटाई की मशीनों की संख्या सन् 1947 में 306 से बढ़कर दिसंबर 1954 में 457 हो गयी। सन् 1951-52 से 195सन् 3-54 तक तीन वर्षों के समय में, कोयला खान मशीनों का आयात औसत 38 लाख रुपये का था। सन् 1954 के उत्पादन के पांचवें हिस्से से (21.6 प्रतिशत) अधिक की कटाई मशीनों से हुई थी।

एक अत्यंत आवश्यक और सर्वाधिक प्राथमिकता का प्रश्न इसको सुरक्षित रखने का था जिसके बारे में फिर भी, कुछ नहीं हो रहा था। देश में कोयले का उपयोग न केवल खर्चीला था वरन् वास्तव में अपव्यय था कोकिंग कोयले के भंडारों के अनुमान अटकलबाजियों से भरे थे, लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि भंडार अपर्याप्त थे। ये भंडार कब तक चलेंगे यह इस पर निर्भर करता था कि भंडारण, धुलाई और मिश्रण द्वारा इनको सुरक्षित रखने के लिए क्या क्या कदम उठाये गये थे। रेलवे द्वारा कोयले के स्थान पर तेल और बिजली का उपयोग एक क्रमिक प्रक्रिया थी। रेलवे और उद्योगों में निम्न स्तर के कोयले के प्रयोग के लिये इंजनों और मशीनों में परिवर्तन करना आवश्यक था जो न तो इतना सरल था और न ही इतना व्यावहारिक, जब तक कि नये प्रकार के इंजनों और मशीनों की शुरुआत ही न कर दी जाये। इस संबंध में शुरुआत की गयी जब कोकिंग रहित कोयले के प्रयोग के लिए विशेष रूप से निर्मित वाई.पी. इंजन भारतीय रेलवे को दिये गये।

कोयले के प्रयोग के नियमन की भी शुरुआत की गयी जब स्टेच्यू बुक में माइंस एंड मिनरल्स रेगुलेशन एक्ट सन् 1948 जोड़ा गया। दूसरा कदम था कोयले के संरक्षण और कोयला खानों में सुरक्षा व्यवस्था प्रदान करने की दृष्टि से सन् 1952 में कोल बोर्ड की स्थापना, जिसका अध्यक्ष कोल कमिश्नर को बनाया गया। बोर्ड ने फौरन ही कोकिंग कोयला उत्पादक खानों के खोलने पर प्रतिबंध लगाया और धातुकर्मी कोयले के अधातुकर्मी प्रयोग पर रोक लगायी। बोर्ड के इस कार्य का उद्देश्य था कोकिंग कोयले के उत्पादन को धीरे धीरे कम करना।

कोयले की धुलाई और मिश्रण के भी प्रस्ताव थे। कुछ मामलों में राख तत्व का 30 प्रतिशत तक आ जाना इस बात का प्रमाण था कि "तीन में से एक वैगन रद्दी माल ढो रही थी।" परिवहन में की जाने वाली बचतें स्पष्ट हो सकती थीं यदि ढुलाई से पहले कोयले की धुलाई हो जाये। लेकिन इस दिशा में भी प्रगति की रफ्तार धीमी थी। धुलाई प्लांट केवल दो ही थे जो टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी ने सन् 1952 में स्थापित किये थे। सन् 1953 में स्थापित एक कमेटी ने धोये गये कोयले के लाभों को महत्वहीन बताया चाहे इससे राख तत्व 5 प्रतिशत ही कम हो जाये।

सन् 1948 में स्थापित 'इंडियन ब्यूरो ऑफ माइंस' को खानों में वैज्ञानिकों की नियुक्ति और वैज्ञानिक तरीकों को अपनाने के अधिकार दिये गये। सन् 1926 में स्थापित 'इंडियन स्कूल ऑफ माइंस एंड एप्लाइड ज्योलॉजी' उच्चस्तरीय तकनीकी शिक्षा प्रदान करने वाली एकमात्र संस्था थी। इसलिए उच्चस्तरीय अनुसंधानकर्ताओं का प्राप्त होना सीमित रूप में था। कोयले के तत्वों और पिघलाने पर इसके परिवर्तनकारी कारकों के बारे में ज्ञान बहुत कम था। नये भंडारों की खोज के बारे में प्रगति भी संतोषजनक नहीं थी।

कोल इंडस्ट्री वर्किंग पार्टी ने उद्योग की इस प्रकार की तथा अन्य समस्याओं से निपटने के लिए सुझाव दिए और सरकार ने उन्हें क्रियान्वित करने के लिये स्वीकार भी कर लिया। लेकिन पहले इकट्ठी हुई समस्याएं किसी भी प्रकार से उद्योग का साया नहीं छोड़ रही थी। इस दिशा में अभी बहुत कुछ करना था और तेजी से करना था, लेकिन लगता था कि शुरुआत की रफ्तार बहुत धीमी थी।

विद्युत

विद्युत उत्पादन उद्योग को उचित ही औद्योगिक क्रांति का अग्रगामी कहा जा सकता है। लेनिन ने साम्यवाद की समानता विद्युतीकरण से जुड़ी सोवियत शक्ति के साथ की है। विद्युत के बहुत से उपयोग हैं और निश्चित रूप में शक्ति साधनों के रूप में कोयले ही की तरह उपयोगी होते हुए भी, कोयले की अपेक्षा अधिक लाभप्रद स्थिति में है। कोई आश्चर्य नहीं कि विद्युत विकास को आर्थिक प्रगति का एक महत्वपूर्ण सूचक माना गया। लेकिन भारत में, इस उद्योग का विस्तार उतनी तीव्रता से नहीं हुआ। यद्यपि दूसरे दशक के बाद अनेक नये उद्योग लगते चले गये और पुराने उद्योगों का विस्तार तेजी से हुआ। कोयला सस्ता भी था और सरलता से उपलब्ध था। विद्युत शक्ति उत्पादन का अर्थ था जलीय विद्युत संसाधनों का उपयोग, अच्छा खासा पूंजी निवेश, किसी न किसी रूप में शक्ति

उत्पादन, वितरण और प्रेषण का खर्च।

देश में दूसरे दशक तक विद्युत उत्पादन इतना कम था कि बाद में होने वाली प्रगति काफी अच्छी लगी। लेकिन पूरे तौर पर, संपूर्ण विकास पांचवे दशक के प्रारंभ तक कुछ कम ही रहा। उदाहरण के तौर पर, सन् 1900 में विद्युत उत्पादन क्षमता 1130 किलोवाट से अधिक नहीं हो पायी थी। सन् 1925 तक यह 3,72,152 किलोवाट हो गयी। अगले दस वर्षों में, यह लगभग तिगुनी हो गयी और सन् 1950 के अंत तक यह पांच गुनी अर्थात् 17,12,515 किलोवाट तक पहुंच गयी। इस पर भी, इसकी खपत का औसत 14 किलोवाट प्रति व्यक्ति रही जबकि इसकी तुलना में यह इंग्लैंड में 1100 कि.वा., अमेरिका में 2,200 कि.वा. से भी अधिक और कनाडा में लगभग 400 कि.वा. प्रति घंटा थी। यहां पर यह खपत बिजली के न केवल अपर्याप्त विकास का सूचक थी वरन् औद्योगिक पिछड़ेपन का भी संकेत थी। माना जाता था कि भारत के पास जल शक्ति के अत्यधिक संसाधन हैं। लेकिन युद्ध से पूर्व, केवल 1.4 प्रतिशत संसाधनों का उपयोग हो सका था। आगामी दस वर्षों में भी स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आया। सन् 1953 में 350 लाख किलोवाट की कुल अनुमानित जलीय विद्युत शक्ति के 1.5 प्रतिशत का उपयोग किया गया था। तेल और कोयले के सीमित संसाधनों को देखते हुए जलीय शक्ति के प्रबलतम उपयोग की आवश्यकता अत्यधिक हो गयी।

शुरू के वर्षों से ही, अधिकारियों ने सार्वजनिक विद्युत प्रदाय उद्योग के काफी बड़े भाग पर अपना अधिकार कर लिया था। इस उद्योग की सार्वजनिक उपयोगिता की महत्ता को देखते हुए ऐसा होना सहज ही था। सन् 1948 में, इसमें निवेशित कुल पूंजी अनुमानतः 118 करोड़ रुपये थी, जिनमें राज्य अधिकृत उपक्रमों में 56.2 करोड़ रुपये की राशि थी और शेष 62.4 करोड़ रुपये की राशि निजी कंपनियों में थी बिजली उत्पादन में सरकारी कंपनियों का शेयर 40 प्रतिशत था। बाद के कुछ वर्षों में, विकास की गति तेज रही क्योंकि पहले, युद्धोपरांत के पुनर्निर्माण कार्यक्रम और बाद में क्रियान्वयन के लिए प्रथम बहुउद्देशीय योजना और विद्युत परियोजनाएं हाथ में ली गयीं। लगाये गये संस्थाओं की विद्युत उत्पादन की क्षमता में वृद्धि की गयी और निजी क्षेत्र के शेयर में तीव्रता से वृद्धि हुई।

कोयले ने विद्युत शक्ति के संसाधन के रूप में, अपनी प्रमुखता बनाये रखी—वास्तव में, इसकी महत्ता भी बढ़ती गयी; यद्यपि अन्य दो संसाधनों जैसे जल और तेल से भी उत्पादन बढ़ता गया।

तालिका 7.6
विद्युत-संस्थापित क्षमता (किलोवाट)
(एक जनवरी के दिन)

संसाधन	*1951*	*1954*	*1951 से 1954 तक हुई प्रतिशत वृद्धि*
1	*2*	*3*	*4*
भाप	10,04,434	13,93,717	39
जलीय	5,59,285	7,31,179	28
डीजल	148,796	170,250	14
कुल	17,12,515	22,75,146	34

यह स्पष्ट है कि कोयले और तेल पर निर्भरता, जो कि शक्ति के खर्चीले संसाधन हैं, न केवल अत्यधिक थी वरन् और अधिक बढ़ती जा रही थी। जलीय विद्युत शक्ति, जो सस्ती थी और अधिक अस्थायी थी, का विकास बहुत अपर्याप्त था।

बिजली की खपत का ढंग बदल रहा था, और विद्युत उपभोक्ता के रूप में उद्योग की महत्ता बढ़ रही थी। कुल उत्पादित शक्ति का दो तिहाई भाग उद्योग में ही खप जाता था और वस्त्र उद्योग, सूत तथा जूट सबसे बड़े खरीदार थे। कृषि उद्योग को अभी एक महत्वपूर्ण उपभोक्ता के रूप में उभरना था। क्षेत्रों के अनुसार, ग्रामीण क्षेत्रों में अभी बिजली नहीं थी, और सन् 1950 में विद्युतीकृत गांवों की संख्या कुल 5,59,062 में से केवल 2,792 थी अथवा मात्र आधा प्रतिशत थी। बंबई और कलकत्ता कुल उत्पादित की आधी शक्ति की खपत के लिए उत्तरदायी थे। इस प्रकार शक्ति का विकास अपर्याप्त था और अत्यधिक असंतुलित। यहां पर यह देखना उचित होगा कि स्वतंत्र भारत की सरकार ने इन कमियों को पूरा करने अथवा ठीक करने के लिए क्या क्या पग उठाये अथवा योजनायें बनायीं।

नियोजन का अभाव

युद्ध के पहले से चली आ रही कानून व्यवस्था अपने आशय में उत्साहवर्धक होने की अपेक्षा मूल रूप से नकारात्मक और प्रतिबंधात्मक थी। यहां तक कि युद्ध के समाप्त होने से पहले ही सरकार ने लगातार इस बात को महसूस किया कि विद्युत कानून का उद्देश्य अधिक उत्पादन, कुशल उत्पादन और पिछड़े क्षेत्रों में इसका विस्तार और वितरण होना चाहिए। इलैक्ट्रिक (सप्लाई) एक्ट सन् 1948

का प्रतिपादन इन्हीं उद्देश्यों को लेकर किया गया। यू.के. इलैक्ट्रिसिटी सप्लाई एक्ट, 1946 पर आधारित, यह अधिनियम उपयोगिता नियमों में प्रचलित आधुनिक प्रवृत्तियों के अनुकूल था। इसमें एक सैंट्रल इलैक्ट्रिसिटी बोर्ड का प्रावधान था। सी.ई.ए. का कार्य एक समान राष्ट्रीय शक्ति नीति का निर्माण और बिजली की नियोजन एजेंसियों की गतिविधियों का समन्वय करना था। प्रादेशिक बोर्डों का उत्तरदायित्व था, अपने अपने क्षेत्रों में बिजली का विकास, निजी और सरकारी बिजली उत्पादन में समन्वय, उपभोक्ता को उचित मूल्य पर सप्लाई तथा निवेशक को पर्याप्त लाभांश देने के उद्देश्य से कुशलतम वितरण। सन् 1948 में एक सेंट्रल इलैक्ट्रिसिटी कमीशन की स्थापना की गयी जिसे बाद में सेंट्रल वाटर एण्ड पॉवर कमीशन का नाम दिया गया। विद्युत उत्पादन, प्रेषण और उपयोग की सभी योजनाओं में समन्वय करने के अतिरिक्त, इस कमीशन ने विद्युत विकास से संबंधित विषयों में केंद्रीय और राज्य सरकारों को सलाह और सहायता देने के उद्देश्य से अन्वेषण, अनुसंधान और सर्वेक्षण के अनेक कार्य संगठित किये। अनेक राज्यों में राज्य बोर्डों की स्थापना में काफी देर लग गयी क्योंकि कुछ राज्य इसे फिजूल और व्यर्थ मानते थे जबकि अन्यों ने इसके लिए धन की कमी अथवा प्रशिक्षित कार्मिकों के अभाव का तर्क दिया। इस प्रकार इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में तेजी से काम करने की आवश्यकता पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

सन् 1948 के अधिनियम ने बिजली के उपक्रमों को कोई मजबूत वित्तीय आधार प्रदान नहीं किया क्योंकि इसने लाभांश की दर को पांच प्रतिशत तक प्रतिबंधित कर दिया। एक विरोधाभास यह था कि बिजली उत्पादन को जो औद्योगिक विकास के लिए इतना अधिक महत्वपूर्ण और आधारभूत कार्य था, एक उद्योग के रूप में मान्यता नहीं दी गयी थी क्योंकि इसे वे रियायतें नहीं दी गयी थीं जो समय समय पर अन्य उद्योगों को दी जाती थीं। यदि बिजली को गांवों जैसे अलाभकारी क्षेत्रों तक पहुंचाना था, तो इसके लिए अनुदानों और विशेष प्रोत्साहनों की योजनाओं की स्पष्ट रूप से आवश्यकता थी। अतएव इस और विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए था, यदि सुदृढ़ शक्ति उत्पादन के लिए उचित संस्थागत वैधानिक और व्यापारिक संरचना का विकास करना था।

पेट्रोलियम

दूसरे विश्वयुद्ध से पूर्व, भारत की पेट्रोलियम वस्तुओं की कुल आवश्यकता का लगभग एक-तिहाई बर्मा से आता था, लगभग आठवां हिस्सा भारतीय साधनों से प्राप्त होता था और शेष आयात से पूरा किया जाता था। भारत में (बर्मा को छोड़कर) पेट्रोलियम का औसत उत्पादन, सन् 1929 से 1938 के वर्षों में

660 लाख गैलन था जिसका 85 प्रतिशत असम के तेल कुंजों से आता था और शेष अटक तेल कुंजों से, जो अब पाकिस्तान में है। भारत से बर्मा के अलग होने का अर्थ था एक वर्ष में दस लाख टन पेट्रोलियम का नुकसान, और भारत में शेष लगभग 3,00,000 लाख टन कच्चे तेल का उत्पादन। युद्ध के दौरान, भारत का भाग ब्रिटिश सरकार द्वारा निश्चित किया गया था। ब्रिटिश सरकार ने थोड़ी बहुत स्वदेशी सप्लाई को आयात से पूरा करने के प्रयत्न किये, चाहे यह आयात कहीं से भी उपलब्ध हो।

युद्ध के बाद के दशक में कच्चे तेल का स्वदेशी उत्पादन ज्यों का त्यों, लगभग 650 लाख गैलन, ही रहा। मांग यद्यपि इस बीच बढ़ती जा रही थी और इस प्रकार आयात पर देश की निर्भरता और अधिक हो गयी थी। पांचवे दशक के आरंभ में आयात का औसत 75 करोड़ रुपये से अधिक ही था। इस समय देश में एक ही तेल शोधक कारखाना था–डिगबोई में "असम आयल कंपनी" जिसका उत्पादन 1,80,000 गैलन प्रतिदिन था। यह देश की आवश्यकताओं की पांच प्रतिशत तक की ही पूर्ति कर सकता था।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद से, विश्व की निर्भरता शक्ति संसाधन के रूप में कोयले पर से कम होती गयी और परिणामस्वरूप, तेल, जल और गैस की महत्ता–विशेषकर तेल की–तेजी से बढ़ती गयी। सन् 1920 के बाद लगभग तीन दशकों के अंदर अंदर तेल और प्राकृतिक गैस द्वारा प्रदत्त कुल शक्ति 15 प्रतिशत से बढ़कर 50 प्रतिशत हो गयी। भारत में इस दिशा में प्रगति बहुत अधिक चमत्कारिक नहीं थी फिर भी यह सुस्पष्ट थी। पेट्रोलियम वस्तुओं की खपत इस देश में युद्ध पूर्व के वर्षों के 20 लाख टन से बढ़कर सन् 1945 में युद्ध समय की सीमा 50 लाख टन तक हो गयी। आगामी दस वर्षों में स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन में कोई वृद्धि नहीं हुई, लेकिन प्रत्येक वर्ष खपत बढ़ती गयी और इस प्रकार बढ़ती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति आयात से होती रही। सड़क यातायात वाहनों का उत्तरोत्तर डीजलीकरण, कृषि में ट्रैक्टरों और डीजल इंजनों का अधिकाधिक प्रयोग, बदलते जीवन स्तर और शहरीकरण के दौर में मिट्टी के तेल की बढ़ती हुई मांग आदि, पेट्रोलियम वस्तुओं की उत्तरोत्तर मांग के उत्तरदायी कारण थे।

कोयले के स्थान पर तेल की विश्व व्यापी पसंद का कारण था, कोयले की अपेक्षा तेल के लाभ। ये थे गुणात्मक समरूपता, भंडारण और रखरखाव की सुविधा, अपव्यय का कम नुकसान तथा तापमान नियंत्रण में अपेक्षाकृत आसानी। परिणामस्वरूप, पेट्रोलियम वस्तुओं की विश्वव्यापी खपत में अत्यधिक वृद्धि हो गयी थी। विश्वभर में उत्पादन सन् 1940 के 2930 लाख मीटर टन से बढ़कर सन् 1955 में 6310 लाख मीटर टन हो गया। इसके विपरीत, भारतीय उत्पादन

दशकों तक स्थिर रहा। पेट्रोलियम वस्तुओं की अधिक औद्योगिक संभावनाओं को देखते हुए यह निराशाजनक वास्तविकता थी। ऊर्जा के साधन के रूप में तेल का प्रयोग तो इसके अनेक प्रयोगों में एक था। तेल से बनी तथा उनसे भी बनी वस्तुओं की आश्चर्यजनक शृंखला बनाई जा सकी और तेल के उचित उपयोग पर ही नये बहुमुखी पेट्रोकेमिकल उपयोग को आधारित किया जा सका।

लेकिन, दुर्भाग्यवश, भारत में तेल उत्पादन सीमित था और भंडारों का पता नहीं लगाया जा सका था। फिर भी, प्रगति की संभावना आयातित कच्चे तेल के शोधन पर अधिक थी और प्रथम पंचवर्षीय योजना में तेल संबंधी मुख्य कार्यक्रम, देश में तेल शोधक क्षमता का विस्तार करना था। इसके लिए तीन विदेशी तेल कंपनियों, यथा स्टैंडर्ड वैक्यूम, एंग्लो सेक्सन और बर्मा आयल, तथा काल्टैक्स (इंडिया) के साथ तेल शोधन कारखानों के निर्माण के लिए अनुबंध पर हस्ताक्षर हो गये थे जिससे भारत की तेल शोधन क्षमता 43 लाख टन तक हो गयी थी। 4,25,000 टन की क्षमता की केवल डिगबोई तेल शोधक इकाई ही स्वदेशी कच्चे तेल पर आधारित थी।

इस प्रकार तेल के नये भंडारों की खोज और उनके प्रयोग की आवश्यकता और महत्ता स्पष्ट रूप से बहुत अधिक थी। लेकिन खोज के काम में प्रगति असंतोषजनक थी, क्योंकि, एक ओर तो, शुरू के वर्षों में इसके महत्व को ठीक ढंग से आंका नहीं गया और दूसरी ओर, इस 'स्वर्णिम द्रव्य' की तलाश करना एक प्रकार का 'चमत्कारपूर्ण दांव' लगाना था। तेल के एक अन्वेषक कुएं की खुदाई की लागत 30 लाख रुपये आती थी और इनमें पचास में से एक की सफलता कुछ ऐसी ही थी, जैसे जंगल में एक वनबिलाव को पकड़ लिया हो। इसलिए तकनीकी कार्मिकों और अन्वेषण के उपकरणों से युक्त एक संगठन की स्थापना के लिए उठाये गये कदम कुछ धीमे और ढुलमुल थे। इसका एकमात्र अपवाद थी असम आयल कंपनी द्वारा जगायी गयी प्रबल संभावनाएं। असम आयल कंपनी के प्रयत्नों के कारण असम के नहरकटिया क्षेत्र में तेल भंडार मिले। तेल अन्वेषण के नये प्रयत्नों के प्रतिरूप सन् 1954 में भारत सरकार और स्टैंडर्ड वैक्यूम आयल कंपनी के बीच, पश्चिमी बंगाल में अन्वेषण और उत्पादन के लिए संयुक्त रूप से कार्य करने के विचार से एक समझौता हुआ। अगले वर्ष, सरकार ने प्रारंभ में स्थापित तेल शोधक संगठन पर सलाह मशविरा लेने के लिए रूसी विशेषज्ञों के एक दल को आमंत्रित किया। यह नैचुरल रिसोर्सेज एंड साइंटिफिक रिसर्च (प्राकृतिक संसाधन और वैज्ञानिक खोज) मंत्रालय का आयल और गैस डिवीजन था। इसे बाद में स्वायत्ततापूर्ण आयल एंड नैचुरल गैस कमीशन के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। जैसा कि बाद में सिद्ध होगा, रूसियों के साथ सहयोग का परिणाम अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध हुआ और इसने

देश के तेल उद्योग में एक प्रकार से क्रांति ही ला दी।

तेल उत्पादन के कार्यक्रम का एक और आयाम था कोयले से सिंथेटिक तेल के निर्माण का प्रस्ताव। इसकी संभावनाओं को अमेरिका, जर्मनी और जापान में सफलतापूर्वक सिद्ध किया जा चुका था। भारत में सिंथेटिक आयल प्लांट का प्रस्ताव काफी वर्षों से विचाराधीन था। भारत में छोटे ग्रेड के कोयले के काफी भंडार थे और प्राकृतिक तेल का अच्छा खासा अभाव था। फिर भी, सिंथेटिक तेल की ऊंची लागत ही इसका सबसे बड़ा अवरोधक था। सन् 1954 में एक विशेषज्ञ कमेटी ने 55 करोड़ रुपये की लागत से 3,00,000 टन तेल उत्पादन के लिए एक संयंत्र लगाने की सिफारिश की। लेकिन देखने में आया कि प्रौद्योगिकी दिन प्रतिदिन विकसित हो रही थी और नये नये संघटकों को भी ध्यान में रखना जरूरी था।

इस प्रकार हमारा पेट्रोलियम उद्योग अभी अपने शैशवकाल में ही था और इसे एक सुगठित उद्यम के रूप में विकसित होने के लिए खोज का एक प्रबल और महत्वाकांक्षी कार्यक्रम चलाना आवश्यक था। यदि तेल उत्पादन की संभावनाएं अधिक उज्ज्वल नहीं मानी गयीं, तब यह अपने आप में एक जबर्दस्त कारण था कि हम अपने खोज के प्रयत्नों को अधिक सक्रिय बनायें।

नये उद्योग : आकर्षक विदेशज विकास

दूसरे विश्वयुद्ध के अवसर पर और उसके दौरान अनेक नये हल्के मैकेनिकल और इलैक्ट्रिकल उद्योगों की स्थापना हुई। इनमें चर्चा योग्य मशीनी उपकरणों, साइकिलों और सिलाई मशीनों के उद्योग, विद्युत मोटरों और ट्रांसफार्मरों, शुष्क बैट्री सेलों, बिजली के तारों और केबिलों, बिजली बल्बों और पंखों, तथा रेडियो मुख्य इलैक्ट्रिकल इंजीनियरिंग आदि के उद्योग थे।

अलग अलग रूप से देखने पर ये मैकेनिकल और इलैक्ट्रिकल उद्योग छोटे छोटे थे और यहां तक कि समग्र रूप में औद्योगिक संरचना में इनका कोई योगदान नहीं था। फिर भी यह एक विदेशी सहायता पर आधारित विकास था और निश्चित रूप से इसने उत्पादन के ढंग और जन साधारण के दैनिक जीवन में काफी विविधता और आकर्षण पैदा किया। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह था कि दैनिक जीवन स्तर को सुधारने और अर्थव्यवस्था के आधुनिकीकरण में विकास की इन उद्योगों में काफी संभावनाएं थीं। इसपर भी, युद्ध और विभाजन की अस्त-व्यस्तता की स्थिति में जैसे जैसे इनका विकास हुआ, इनके संगठन और संचालन में गंभीर दोष आ गये जिसने शांतिकाल की प्रतिस्पर्धा की स्थिति में इनको अत्यधिक सुदृढ़ बना दिया। युद्ध समय की आवश्यकताओं से संबंधित उत्पादन

को बदलकर शांतिकाल की घरेलू मांग से संबंधित उत्पादन करने में अनेक कठिनाइयां आयीं।

उद्योगों में छोटी आर्थिक रूप से अक्षम ऐसी इकाइयों की अधिकता हो गयी थी जो शांतिकाल की प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिए, आधुनिक उपकरणों, कुशल श्रम अथवा सक्षम प्रबंधन का सफलतापूर्वक मुश्किल से ही कर सकती थी। कहीं किसी प्रकार की दक्षता तो थी नहीं। मानकीकरण का भी अभाव ही था। रुकी हुई मांग के निकलते ही निर्माताओं को कुछ समय के लिए अच्छे बाजार का आनंद आ गया। लेकिन सामान्य स्थिति के लौटते ही, उत्पादित वस्तु की गुणात्मकता को और अधिक नकारा नहीं जा सका।

उद्योगों के सामने ऐसी अनेक समस्याएं थीं जिनका तुरंत निदान आवश्यक था। इनमें मुख्य थीं कच्चे माल जैसे ढलवां लोहा, इस्पात, तांबा, सीसा, जस्ता जैसी अमिश्रित धातुओं और आवश्यक उपकरणों का अभाव जिसके लिए उनको आयात पर निर्भर रहना पड़ता था। परीक्षण सुविधाएं तो बहुत कम थीं और अनुसंधान कार्य लगभग शून्य था। न उद्योग को और न ही सरकार को इस बात की खबर थी कि जापान और जर्मनी जैसे देश इस क्षेत्र में कितनी अधिक प्रगति कर रहे थे। उद्योग में वैविध्य लाने की विस्तृत संभावनाओं का व्यवस्थित रूप में अध्ययन अथवा उपयोग नहीं किया जा रहा था।

अधिकांश मामलों में समय समय पर वित्तीय संरक्षण दिया गया और आयातों पर प्रतिबंध लगाया गया। कच्चे माल और अन्य अवयवों के आयात को सामान्य तौर पर सुलभ कर दिया गया था। लेकिन सरकार के बारे में यह नहीं कहा जा सकता था कि इसने उद्योग के भावी विकास के लिए कोई निश्चित नीति बनाई थी। जब तक कि योजना आयोग के सामने यह समस्या नहीं आयी। छोटी और बड़ी इकाइयों के क्षेत्रों में पहले से ही एक विभाजन रेखा की आवश्यकता को देख लिया जाना चाहिए था और धीरे धीरे इस आवश्यकता की पूर्ति होनी चाहिए थी। इससे पूर्व ही अंतर्राष्ट्रीय संबंधों वाली बड़ी बड़ी फर्मों ने उन क्षेत्रों में भी उत्पादन प्रारंभ कर दिया था जो लघुस्तर के उद्यमों के लिए ही उचित एवं आदर्श थे जैसे रेडियो सैटों का निर्माण। छोटी इकाइयों को वित्त, कच्चे माल और बाजार जैसी सुविधाओं की सहायता संगठित रूप में मिलनी चाहिए थी। युद्धोपरांत के समय में गिरती हुई मांग के संदर्भ में उत्पादन क्षमता अधिक मालूम होती थी, लेकिन विस्तृत देशी बाजार और क्रियान्वयन की व्यापक संभावनाओं को देखते हुए, आवश्यकता थी अविवेकपूर्ण ढंग से इकाइयों को बंद करने की अपेक्षा अधिक संयत और उद्देश्यपूर्ण तरीके से विस्तार की। कुछ वस्तुएं जैसे बिजली के पंखे, सिलाई मशीनें और लालटेनें, पहले से हर विदेशी बाज़ारों में पहुंच गयी थीं और इनको उचित पोषण और विस्तार की आवश्यकता थी। मिश्रित

तथा अमिश्रित धातुओं और अन्य महत्वपूर्ण अवयवों के उत्पादन को बढ़ाना अत्यधिक आवश्यक था। सरकारी नीति में संरक्षण से विकास की ओर परिवर्तन की दिशा बहुत ही धीमी थी।

अन्य 'नये' उद्योग

अन्य उद्योगों में, जिनको युद्ध के दौरान तथा युद्धोपरांत के समय में विकसित होने के कारण 'नये' कहा जा सकता है, मुख्य थे डीज़ल इंजन, अमिश्रित धातुएं, कैमिकल और दवाएं तथा फार्मेस्युटिकल।

डीज़ल इंजन निश्चित रूप से आधुनिक उद्योग, कृषि तथा परिवहन के लिए वरदान सिद्ध हुआ है। यह भाप इंजन की अपेक्षा अधिक सस्ता और सक्षम है और इसने भाप इंजन को समाप्त कर दिया है। महाद्वीपीय विस्तार वाले देश में और विशेषकर भारत जैसे कृषिप्रधान अर्थव्यवस्था वाले देश में इसकी महत्ता और उपयोगिता को अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं कहा जा सकता। युद्ध से पहले, कपूर इंजीनियरिंग कंपनी और किर्लोस्कर ब्रदर्स, दो ही निर्माण इकाइयां थीं। किर्लोस्कर ब्रदर्स ने अवयवों की प्राप्ति में होने वाली कठिनाइयों के कारण युद्ध के दिनों में उत्पादन बंद कर दिया, सन् 1946 में इन्होंने अपना काम फिर से शुरू किया। युद्धोपरांत विकास की गति तीव्र थी, उत्पादन दस गुना बढ़ गया था–सन् 1946 के लगभग 480 इंजन निर्माण से सन् 1950 में 4,800 तथा सन् 1954 में 8,652 हो गया था। क्षमता भी सन् 1952 और सन् 1954 के दौरान उस समय बढ़कर दुगुनी से ज्यादा हो गयी थी जबकि निर्मित इंजनों की संख्या 6,324 से बढ़कर 14,700 हुई। लेकिन, अधिकांश उत्पादन 35 बी.पी.एच. की सीमा तक ही रहा, यद्यपि उद्योग के उपकरण 300 बी.पी.एच. के उत्पादन की क्षमता के भी थे। जहां उद्योग की आवश्यकता का कच्चा माल जैसे ढलवां लोहा देश में ही उपलब्ध था, क्रैंक शाफ्ट, फ्यूल आयल पम्प, पिस्टन छल्ले, बेयरिंग और बुश जैसे अवयवों का आयात करना पड़ता था।

युद्ध के बाद की इन्हीं स्थितियों से संबंधित एक और घटना थी शक्ति चालित पंपों के निर्माण की शुरुआत। इनका निर्माण सन् 1949 के 14,333 पंपों से बढ़कर सन् 1951 में 47,989 तक हो गया।

देश में कृषि ट्रैक्टरों के निर्माण का कोई साधन नहीं था और इनका आयात औसत प्रति वर्ष 4 से 5 करोड़ रुपये प्रति वर्ष था।

आधुनिक उद्योगों की व्यापक शृंखला के लिए अमिश्रित धातुएं उतनी ही महत्वपूर्ण हैं जितनी कि पूरी अर्थव्यवस्था के लिए लोहा और इस्पात। प्रमुख अमिश्रित धातुएं जैसे अल्मुनियम, तांबा, जस्ता, सीसा, टीन और सुरमा–अनेक

प्रकार की ऐसी मिश्रित धातुओं के काम में आती हैं जिनके बिना आधुनिकतम उत्कृष्ट उद्योग असंभव है। कभी हेय दृष्टि से देखी जाने वाली धातु अल्मुनियम, जो केवल निर्धनों के लिए बर्तन बनाने के काम आती थी, अब स्वचालित वाहनों और वायुयान संबंधी उद्योगों तथा बिजली के उत्पादन और प्रेषण में प्रयोग के लिए भी अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई। भाग्यवश, भारत में, जहां अमिश्रित धातु तथा कच्ची धातु के भंडारों की अत्यधिक कमी है, बाक्साइट भंडारों का बाहुल्य है। इसके भंडार अनुमानतः 2,500 लाख टन है जबकि कच्ची धातु के भंडार अनुमानतः 250 से 280 लाख टन है। ये सब बिहार, महाराष्ट्र, मैसूर, मध्य प्रदेश और तमिलनाडु में स्थित हैं। अल्मुनियम का देश में सर्वप्रथम उत्पादन सन् 1943 में त्रावणकोर कोचीन में आयातित अलुमिना से किया गया था। अगले वर्ष स्वदेशी बाक्साइट का प्रयोग किया गया। इंडियन अल्मुमिनियम कंपनी अलवे ने जिसको इस उद्योग के चलाने का श्रेय प्राप्त है, अपना बाक्साइट का भाग बिहार की खानों से प्राप्त किया। एक दूसरा संयंत्र 'अल्मुनियम कारपोरेशन आफ इंडिया' युद्ध के बाद अस्तित्व में आया। इसकी खान भी बिहार में थी जबकि कारखाना आसनसोल के पास जेकेनगर में था। अलवे कारखाने की क्षमता 2,500 टन सिल्लियां प्रति वर्ष थी जबकि दूसरे कारखाने की क्षमता 1,500 टन सिल्ली प्रति वर्ष थी। चादरें बनाने की क्षमता 2,500 टन प्रति वर्ष थी। उत्पादन सन् 1940 तक मुख्यतः आयातित अलुमिना पर आधारित था, इसके बाद स्थानीय बाक्साइट का प्रयोग होता था।

उत्पादन सन् 1950-54 के दौरान 3,500 से 3,700 टन तक स्थिर रहा क्योंकि उत्पादन क्षमता 4,000 टन से नीचे ही आंकी गयी। घरेलू उत्पादन, आवश्यकता के 30 प्रतिशत तक ही सीमित रहा, शेष 70 प्रतिशत आयात पर निर्भर था। इसके अतिरिक्त, कुछ कच्चा माल जैसे क्रायोलाइट और अल्मुनियम फ्लोराइड का भी आयात करना पड़ता था। कोयला, कोक, चूना, सोडा क्षार, और कास्टिक सोडा भी देश में ही उपलब्ध था, लेकिन सोडा क्षार और कास्टिक सोडा की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नहीं थी। अल्मुनियम बहुत अधिक विद्युत पर आधारित उद्योग है और सस्ती तथा अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध बिजली पर ही इसका उत्पादन निर्भर करता है। यही कारण है कि अलवे का कारखाना यहां पर लगाया गया। लेकिन इसके बाक्साइट के भंडार काफी दूर बिहार में थे जिसके कारण परिष्कृत बाक्साइट की ढुलाई काफी दूर से करनी पड़ती थी। (इसका परिष्करण कारखाना बिहार में मुड़ी नामक स्थान पर था) दूसरी ओर, जेकेनगर कारखाने को तापीय शक्ति की ऊंची कीमतों का नुकसान उठाना पड़ता था। मूलरूप से, दोनों ही कारखानों का आकार अनार्थिक था जिससे उद्योग की आधारशिला कमज़ोर और भविष्य अनिश्चित बन गया था। सन् 1949 के बाद

उद्योग को संरक्षण तथा अनुदान योजना के अंतर्गत जीवित रखा गया, लेकिन उद्योग की मौलिक समस्याओं की तरफ ध्यान देकर सरकार संभवतयाः और अधिक अच्छा काम कर सकती थी।

इंडियन कॉपर कारपोरेशन ने सन् 1928 में तांबे का उत्पादन शुरू किया। दो साल बाद पीतल की चादरों के उत्पादन के लिए एक गर्म रोलिंग मिल लगाया गया, बाद में सन् 1950 में एक ठंडा रोलिंग मिल लगाया गया। युद्धोपरांत के समय में अपने किस्म का यह एक ही कारखाना था जब इसकी उत्पादन क्षमता 7,200 टन की थी। उसी समय, आयात का औसत 30,000 टन था। उद्योग की वास्तविक समस्या थी तांबे की सिल्लियों के नये भंडारों का पता लगाना, क्योंकि ज्ञात भंडार केवल 34 लाख टन ही आंके गये थे।

जहां टिन और निकिल सिल्लियों की कहीं कोई खान नहीं थी, सीसे और जस्ते की खानें बहुत कम थीं। फिर भी, जैसा हमने पहले बताया, मैंगनीज़ में हमने काफी प्रगति कर ली थी और रूस तथा गोल्डा कोस्टा के बाद हम तीसरे सबसे बड़े उत्पादक थे। मैंगनीज सिल्लियों का उत्पादन, जो कि मुख्यतः निर्यात के लिए किया गया था, सन् 1937 में दस लाख टन तक पहुंचकर, युद्ध के दिनों में घट गया। सन् 1950 के बाद युद्ध पूर्व का स्तर बढ़ गया था और सन् 1952 में उत्पादन लगभग 15 लाख टन था।

यह अत्यधिक महत्वपूर्ण और आवश्यक था कि ठीक प्रकार से ज्ञात खनिज भंडारों का अनुमान लगाने तथा नये भंडारों का पता लगाने का काम विस्तृत एवं व्यापक स्तर पर शुरू किया जाये। जहां सुगठित तांबा उद्योग की संभावनाएं काफी अच्छी थीं, सीसे और जस्ते की संभावनाएँ बहुत ही अनिश्चित थीं। ज्योलोजिकल सर्वे ऑफ इंडिया (भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण विभाग) पर गुरुतर उत्तरदायित्व था। भारत में ही नहीं वरन् पूरे विश्व में, अमिश्रित धातु सिल्लियों के सीमित संसाधनों को देखते हुए तथा उनकी सुरक्षा और विकास की सामरिक महत्ता को ध्यान में रखते हुए, उनके एकत्रीकरण तथा विवेकपूर्ण उपयोग पर गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता थी। बचे-खुचे रद्दी माल को अधिकाधिक मात्रा में पुनः प्रयोग, आवश्यकतानुसार सिल्लियों का लाभकारी उपयोग तथा अधिक दुर्लभ धातुओं के विकल्पों की खोज पर भी विचार करना था। जहां नये भंडारों की खोज समयोचित थी, मनुष्य का बुद्धि चातुर्य, इस ईश्वरीय देन का अत्यधिक दीर्घकालीन लाभ उठा सकता था।

रासायनिक उद्योग

साधारणतया रासायनिक उद्योग को 'भारी' तथा 'हल्के' विभाजन रेखा से जाना

जाता है लेकिन यह विभाजन कुछ स्वेच्छा से बनाया गया है। 'भारी' रासायनिक उपभोक्ता वस्तुओं के लिए अधिक मात्रा में कच्चे माल और उसकी प्रक्रिया सामग्री होते हैं। जबकि 'हल्के' रासायनिक सीधे उपभोग के लिए होते हैं।

रासायनिक उद्योगों में गंधक का प्रमुख स्थान है। वह इसके सीधे प्रयोग के कारण नहीं वरन् इससे उत्पादित वस्तुओं की व्यापक उपयोगिता के कारण है। यह अनेक प्रकार के उद्योगों के काम में आती है जैसे–सूती वस्त्र, उर्वरकों, शराब बनाने, चर्म, पैट्रोल शोधक, चीनी, रंग रोगन, धातुओं, आदि के उद्योगों में भारत के पास कोई जाने पहचाने गंधक भंडार नहीं थे और युद्ध के दौरान और बाद में विदेशों से इसकी पूर्ति नियंत्रित थी। इसलिए गंधक की पूर्ति, उससे उत्पन्न उत्पाद जैसे गंधक का तेजाब के उत्पादन के लिए मुख्य नियंत्रक थी। गंधक का आयात सन् 1950 में 55,326 टन तथा सन् 1953 में 73,941 टन था।

गंधकीय तेजाब के उद्योग की शुरुआत युद्ध पूर्व हो गयी थी, लेकिन इसका विकास मुख्य रूप से युद्ध समय में ही हुआ। गंधकीय तेज़ाब का उत्पादन 1937-38 के 26,755 टन से बढ़कर सन् 1944-45 में 59,000 टन हो गया और इस प्रकार बढ़ता हुआ सन् 1950 में 102,480 टन तक हो गया।

जहां तक गंधक के अन्य उत्पादों का प्रश्न है, देश में लोहे, तांबे, सोडियम, सल्फेट आदि की आवश्यकता सीमित थी और युद्धोपरांत हुआ उत्पादन सामान्य रूप से पर्याप्त था।

सोडा क्षार एक दूसरा महत्वपूर्ण रसायन है जिसका प्रयोग अधिकांश मात्रा में कांच, साबुन, सिरैमिक, कागज, रबड़, वस्त्र उद्योग आदि में होता है। कोयला, कोक, चूना पत्थर, अमोनिया आदि उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चा माल देश में ही उपलब्ध था। युद्ध से पूर्व, अधिक पूंजी निवेश का सोडा क्षार विकसित नहीं किया गया था। उत्पादन सन् 1941 में 11,614 टन था। यह सन् (1950-51) में बढ़कर 45,000 टन हो गया और प्रस्थापन क्षमता 54,000 टन थी। स्थापित कारखाने की क्षमता 90,000 टन थी। सन् 1945-46 में आयात 78,000 टन का हुआ। बाद के वर्षो में यह अनियमित हो गया, सन् 1948-49 में 1,63,000 टन के शिखर पर पहुंचकर अगले ही वर्ष गिरकर 12,000 टन तक आ गया। लेकिन सन् 1951-53 के दौरान, इसका औसत 80,000 टन रहा जिससे मालूम हुआ कि घरेलू उत्पादन अपर्याप्त था।

रेयन, साबुन, सूती वस्त्र, कागज, रबड़, रंगाई पदार्थो तथा अन्य बहुत से उत्पादों के निर्माण के लिए कास्टिक सोडा अत्यावश्यक है। युद्ध से पहले किसी महत्वपूर्ण रसायन का कोई उत्पादन नहीं होता था। युद्ध के दौरान, संयंत्र और मशीनों के प्राप्त करने में कठिनाइयों के कारण उद्योग अधिक प्रगति नहीं कर

सका। युद्ध के बाद उत्पादन में वृद्धि नहीं हुई। स्थापित कारखानों की क्षमता सन् 1946 के 12,000 टन से बढ़कर सन् 1950 में 18,000 टन हो गयी और सन् 1955-56 में 33,000 टन (कागज मिलों में लगी क्षमता को छोड़कर) हो गयी थी। उत्पादन सन् 1950-51 के 11,375 टन से बढ़कर सन् 1955-56 में 36,000 टन हो गया। फिर भी, लगभग आवश्यकता की आधी पूर्ति आयातों से की गयी।

इस उद्योग के सामने एक समस्या थी कि बची हुई क्लोरीन का निपटारा कैसे करें क्योंकि क्लोरिन उपयोग करने वाले उद्योगों जैसे डी.डी.टी. और बी.एच.सी. का विकास तब तक नहीं हुआ था। सार्वजनिक क्षेत्र की हिंदुस्तान इंसेक्टीसाइड्स ही अकेला डी.डी.टी. का कारखाना था जिसकी वार्षिक क्षमता 700 टन थी।

रासायनिक उद्योग के विस्तार में आने वाले मुख्य अवरोधकों में गंधक की कमी तथा देश में रासायनिक मशीनों के उद्योग का अभाव था। मूल उद्योग भी चूंकि अपनी शैशवावस्था में था, मशीनों के लिए बाजार सीमित था और निजी उद्यमियों से यह आशा नहीं की जा सकती थी कि वे इस क्षेत्र में आगे आयें। फिर भी, उद्योग की बढ़ती हुई आवश्यकताओं को देखते हुए सरकार की तरफ से मिले हर तरह के प्रोत्साहन की सरकार के सक्रिय योगदान नहीं रहने के बावजूद प्रशंसा की गयी।

उर्वरक उद्योग

यह आश्चर्यजनक ही नहीं वरन् एक सचाई है कि भारत जैसे कृषि प्रधान अर्थव्यवस्था वाले देश में हाल के वर्षों तक कोई भी उर्वरक उद्योग नहीं था। कृषि में कार्बनिक रसायनों का प्रयोग होता था लेकिन पांचवें दशक के प्रारंभ तक कृत्रिम रासायनिक उर्वरकों का उत्पादन नगण्य ही था। अमोनियम सल्फेट और सुपरफास्फेट के उत्पादन में केवल कुछ शुरुआत की गयी थी। युद्ध से पूर्व तक सभी आवश्यकताओं की पूर्ति आयात से की जाती थी। यद्यपि युद्ध के बाद उत्पादन शुरू हो गया था, "ग्रो मोर फूड कंपेन" (अधिक अन्न उपजाओ आंदोलन) के दौर में मांग लगभग दुगनी हो गयी और उसी अनुपात में आयात में भी वृद्धि हुई। आयात मुख्यतः अमोनियम सल्फेट का था। सन् 1953-55 में आयात का औसत 1,33,000 टन प्रतिवर्ष का था।

अमोनियम सल्फेट का उत्पादन पहली बार मैसूर में सन् 1938 में शुरू हुआ। इस संयंत्र की क्षमता प्रतिवर्ष केवल 6,600 टन तक ही थी। इसके बाद सन् 1949 में 50,000 टन की क्षमता के 'फर्टिलाइजर्स एंड कैमिकल्स ट्रावनकोर

लिमिटेड' की स्थापना की गयी। इसको वहीं पर उपलब्ध लकड़ी से अमोनिया बनाने की प्रक्रिया को विकसित करने का श्रेय प्राप्त था। सन् 1951 का वर्ष न केवल उर्वरक उद्योग के इतिहास में, वरन् सार्वजनिक क्षेत्र में उद्योगों के लिए स्मरणीय था क्योंकि सन् 1951 में ही सिंदरी की विशालकाय सरकारी फैक्ट्री 1000 टन प्रतिदिन की क्षमता के साथ शुरू हुई। अपने संचालन के पहले वर्ष में ही इसने क्षमता का दो तिहाई भाग पूरा कर दिया और सन् 1954 में 2,75,000 टन के उत्पादन स्तर तक पहुंच गयी। उत्पादन में सन् 1950 के 47,304 टन से सन् 1954 के 3,40,222 टन की सीधी वृद्धि सिंदरी के कारण ही थी। फिर भी नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों की मांग का अनुमान 5,00,000 टन के लगभग आंका गया।

उर्वरकों का अभाव काफी वर्षों से अनुभव किया जा रहा था और यह 1943 में था कि 'फूड ग्रेंस पालिसी कमेटी' खाद्यान्न नीति समिति ने 3,50,000 टन की वार्षिक क्षमता के एक उर्वरक संयंत्र लगाने की सिफारिश की थी। लेकिन अधिकारियों को इस प्रकार की योजना के महत्व को समझने में समय लगा। सन् 1946 में निर्माण कार्य शुरू हुआ, लेकिन अनेक कठिनाइयों, जैसे भूमि अधिग्रहण में कानूनी झगड़े तथा निर्माण सामग्री के मिलने में देरी, ने रुकावटें लगायीं। फैक्ट्री सन् 1950 में तैयार हो सकी। यद्यपि देर से ही सही, उर्वरक उद्योग की आधारशिला सही और सच्चे अर्थों में रखी गयी और इससे भी अधिक, सिंदरी ऊंचाइयों का प्रतीक बन गया जिन तक शायद ही कोई निजी क्षेत्र पहुंच सकता था, इसने प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि को दी गयी प्राथमिकता को भी रेखांकित किया।

इस समय दूसरे नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों जैसे अमोनियम नाइट्रेट तथा यूरिया का कोई उत्पादन नहीं हो रहा था। फास्फेटयुक्त उर्वरकों में, सुपरफास्फेट का उत्पादन भारत मे बहुत समय तक हड्डियों को क्षार से संसाधित कर दिया जाता था। लेकिन यह एक अनार्थिक प्रक्रिया है, विशेषकर, जबकि हड्डियों के लिए डालर बाज़ार उपलब्ध था। इसके स्थान पर चट्टानी फास्फेट प्रयोग करने का अर्थ था इन खनिजों का आयात, क्योंकि स्थानीय चट्टानीय फास्फेट का अभी उपयोग करना बाकी था। युद्ध से पहले औसतन वार्षिक उत्पादन 10,000 टन की खपत की तुलना में केवल 2,000 टन था। सन् 1946 में उत्पादन कुछ बढ़कर 4,500 टन तक हो गया, लेकिन यह बढ़कर सन् 1948 में 21,360 टन, सन् 1950 में 54,428 टन तथा सन् 1954 में 1,04,688 टन तक हो गया।

उद्योग के भावी विकास को निश्चित करने के लिए, यह अत्यधिक आवश्यक था कि गंधक की पूर्ति की मात्रा को बढ़ाने के लिए कदम उठाये जायें। इसके लिए, देश में उपलब्ध जिप्सम और पाइराइट भंडारों के प्रयोग के लिए प्रारंभ

से ही प्रयत्न करने आवश्यक थे। स्वदेशी चट्टानी फास्फेट का अभी खोज और प्रयोग करना बाकी था। उद्योग के विकास की इस प्रारम्भिक अवस्था में भी, इसके संकेत थे कि फास्फेट के मूल्य पर नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों के प्रयोग पर अधिक ज़ोर दिया जा रहा था। यह न तो कृषि के लिए वांछनीय था, और न ही उद्योग के संतुलित विकास के हित में था।

उद्योगों की परिपक्वता का दौर

जो उद्योग, युद्ध के वर्षों में, सीमेंट तथा कांच उद्योगों की भांति, चाहे किसी भी प्रकार के सीमा शुल्क के बंधनों में अथवा मुक्त रह कर, विकसित हुए थे, अब इस समय में, यदि अपने जीवनकाल की दृष्टि से नहीं, तो अपनी शक्ति और परिपक्वता की दृष्टि से, पूर्ण वयस्क समझे जा सकते थे। हम यहां पर केवल चीनी, सीमेंट तथा कागज उद्योगों द्वारा चौथे तथा पांचवे दशक के प्रारंभ में की गयी प्रगति की संक्षिप्त चर्चा करेंगे।

चीनी

दो प्रमुख और पुराने भारतीय वस्त्र उद्योगों, सूती वस्त्र और जूट की तरह चीनी भी कृषि तथा उद्योग के बीच एक महत्वपूर्ण सेतु बन गया था। इस उद्योग को संरक्षण, जो सबसे पहले सन् 1932 में दिया गया था, समय समय पर बढ़ाया जाता रहा जब तक कि अंततः यह सन् 1950 में समाप्त नहीं कर दिया गया। लेकिन संरक्षण शुल्क को उसी राशि के राजस्व शुल्क में बदल दिया गया। उद्योग ने देश को चीनी में वास्तविक रूप से आत्मनिर्भर बनाकर मिलने वाली सहायता और प्रोत्साहन का औचित्य सिद्ध कर दिया। चीनी को वास्तविक रूप में एक महत्वपूर्ण शक्तिवर्धक आहार माना गया–'वास्तविक रूप में' 'इसलिए क्योंकि बाद के वर्षों में इस उद्योग को काफी उतार चढ़ाव सहने पड़े जिनके कारण समय समय पर इसके आयात की आवश्यकता महसूस हुई। पांचवें दशक तक, भारत छठे सबसे बड़े चीनी उत्पादक तथा दूसरे सबसे बड़े गन्ना उत्पादक के रूप में उभर आया था। यदि कच्ची खंडसारी को भी उत्पादित चीनी में शामिल कर लिया जाये तो भारत उत्पादकों की सूची में सर्वोपरि माना जा सकता था। फिर भी सीमा शुल्क का उपयोग उद्योग के स्थान, उत्पादों का प्रयोग अथवा इकाइयों के आकार आदि को प्रभावित करने वाली उचित विकास-नीति के साधन के रूप में नहीं किया गया।

तालिका 7.7 में सन् 1939 और सन् 1956 के मध्य चीनी उत्पादन की प्रगति को संक्षेप में दर्शाया गया है।

तालिका 7.7
सन् 1938-56 में चीनी उद्योग की प्रगति

वर्ष	फैक्ट्रियों की संख्या	चीनी उत्पादन (000 टन)
1	2	3
1938-39	132	642
1939-40	138	1208
1943-44	145	1201
1945-46	138	923
1950-51	139	1116
1951-52	140	1497
1953-54	135	1001
1954-55	137	1590
1955-56	143	1850

इस उद्योग में हुए उत्पादन का विस्तार और उत्पादन में आने वाले उतार-चढ़ाव सर्वविदित हैं। इस उद्योग के इस असमान स्वभाव को समझने के लिए यह याद रखना आवश्यक है कि चीनी का उत्पादन गुड़ के उत्पादन से महत्वपूर्ण ढंग से जुड़ा है। गन्ने की कुल फसल का लगभग 60 प्रतिशत गुड़ बनाने के लिए प्रयोग होता था, और गुड़ तथा चीनी की आनुपातिक कीमतें ही, इन दोनों कामों के लिए गन्ने की पूर्ति, इन दोनों प्रतिस्पर्धात्मक वस्तुओं के उत्पादन का स्तर, चीनी का आयात और इसके कारण फिर से होने वाली पारस्परिक मूल्य प्रतिक्रिया आदि स्थानीय कीमतों पर प्रभाव डालती थी। इससे चीनी उत्पादन की योजना बनाने में काफी कठिनाई आयी और यह एक असाध्य समस्या बनी रही। इस उद्योग की एक और जबर्दस्त समस्या थी, एक तरफ तो गन्ना उत्पादकों के हितों और दूसरी ओर उद्योग और उपभोक्ता के हितों में तालमेल बिठाना। गन्ने की कीमत उसकी गुणवत्ता पर निर्भर करती थी और ऐतिहासिक रूप में देखा जाये तो गुणवत्ता निर्धारण करने वाले तत्व काफी जटिल थे। ये तत्व लाखों किसानों, उद्योग तथा उपभोक्ता के लिये काफी महत्वपूर्ण भी थे और इसलिए इन सब का यहां पर संक्षेप में विवेचन करना उचित रहेगा।

अधिकांश गन्ना छोटे और अनार्थिक भूमि खंडों पर उगाया जाता था। सहकारी खेती, उत्तरप्रदेश के सिवाय और कहीं अधिक चल नहीं पायी थी। अधिकांश खेती उत्तरप्रदेश और बिहार तक सीमित थी जहां उत्पादन बहुत कम था। तीसरे दशक से लेकर उत्पादन में कोई खास महत्वपूर्ण सुधार नहीं हुआ था। 14.7 टन का राष्ट्रीय औसत 62 टन के हवाय तथा 56 टन के जावा के औसत की तुलना में बहुत काम था। इसके अतिरिक्त औसतन पुनर्लाभ में गिरावट

आ रही थी और 10 प्रतिशत से भी कम के औसत पर यह अत्यंत असंतोषजनक थी। यहां फिर, उत्तरप्रदेश और बिहार जैसे मुख्य उत्पादक प्रदेशों का औसत राष्ट्रीय औसत से कम ही था। सन् 1955-56 में बंबई प्रदेश का पुनर्लाभ औसत 11.70 प्रतिशत था और इसके बाद बिहार और उत्तरप्रदेश का क्रमशः 9.76 प्रतिशत तथा 9.71 प्रतिशत था। 'इंडियन सेंट्रल शुगरकेन कमेटी' ने सन् 1948 में उत्पादन में सुधार के कार्यक्रम चलाये और इस कमेटी ने और भी अनेक उपयोगी कार्य किये। लेकिन इसकी गति इतनी धीमी थी कि समस्या पर कोई भी प्रभाव नहीं हो सका।

यह अनुभव किया जा रहा था कि उद्योग के विकास के स्थानीकरण पहलू को बुरी तरह से नकारा जा रहा था। उद्योग की समस्याओं का एक समाधान था कि इनको दक्षिण भारत के उन ट्रापिकल क्षेत्रों में लगाया जाये जो गन्ना उत्पादन की दृष्टि से अत्यधिक उपयुक्त थे। लेकिन उद्योग के नये समृद्धिपूर्ण स्थान पर स्थापित (गृह निर्माण स्थान) होने की कहानी नियोजन के युग से संबंधित है।

गन्ना उत्पादन का अर्थशास्त्र उद्योग की समस्याओं का एक भाग था। दूसरा भाग था उद्योग की अपनी कार्यक्षमता। फैक्ट्रियों के आकार में, 50 टन से 2,000 टन तक की प्रतिदिन गन्ना पीड़ने की क्षमता के अनुसार विभिन्नता थी। यदि 800 टन प्रतिदिन की क्षमता कम खर्चीली और ठीक समझी जाती थी, जैसी कि चीनी की समिति (1946) ने सुझाया था, तो लगभग 80 इकाइयां अनार्थिक थीं। उत्तरप्रदेश और बिहार में फैक्ट्रियों का एकत्रीकरण तथा इन क्षेत्रों में गन्ने की कमी का सामान्य तौर पर परिणाम था गला काट प्रतिस्पर्धा और अनार्थिक कीमतें। लेकिन एक वर्ष की अत्यधिक कमी ने गन्ना कीमतों में वृद्धि कर दी और इसके बाद गन्ने के अधिक उत्पादन तथा उद्योग में अनुपयोगी क्षमता का वर्ष आया। सन् 1956 में लगभग 16 फैक्ट्रियां बेकार थीं।

भारतीय चीनी का उत्पादन मूल्य बहुत अधिक था और निर्यात के लिए इसकी गुणवत्ता भी निम्न थी। उत्पादन मूल्य का लगभग दो तिहाई का हिसाब गन्ने की कीमत से हो जाता था जिस पर उद्योग का कोई नियंत्रण नहीं था। उद्योग के उत्पादों के उपयोग से लागत मूल्य में कमी लायी जा सकती थी लेकिन चूंकि इस दिशा में क्षेत्र बहुत सीमित था, प्रयत्न भी बहुत कम हो रहे थे। साढ़े चार लाख टन के लगभग प्रतिवर्ष निकालने वाले सीरे में से केवल आधे का उपयोग अल्कोहल के बनाने में होता था जबकि शेष आधा अधिकांशतः व्यर्थ हो जाता था। खोई से कागज बनाने में काफी पैसे की आवश्यकता थी जिसका मिलना मुश्किल था। खोई से बनने वाले कागज के पहले कारखाने ने सन् 1953 में उत्पादन शुरू किया।

भारतीय मिलों की तकनीकी कार्यक्षमता अन्य देशों की मिलों की कार्यक्षमता की तुलना में काफी कम थी। उपलब्ध मशीनों द्वारा गन्ने से अधिकतम चीनी लेना संभव नहीं था। तकनीकी व्यक्तियों की संख्या भी कम थी और अधिकांश श्रमिक भी अस्थायी तौर पर नियुक्त थे जो कि अधिक कार्यक्षमता की दृष्टि से लाभप्रद नहीं था। न ही मजदूरी और काम का उचित मानकीकरण किया गया था।

सरकारी नीति का रूप सामान्यतः तदर्थात्मक था। अनेक प्रकार के हितों को न्यायोचित ठहराने के प्रयत्न में, सरकारी नीति में एक सीमा से लेकर दूसरी तक के प्रयत्न होते रहे। जिसके परिणामस्वरूप अभाव के बाद बहुलता की स्थिति आयी। उदाहरण के तौर पर, आयात जो सन् 1951-52 में नगण्य (लगभग 10,000 टन) था, अगले वर्ष बढ़कर 17.23 करोड़ रुपये मूल्य का 2.5 लाख टन तक हो गया। आगामी दो वर्षों में, औसतन वार्षिक आयात छह लाख टन से अधिक था। कीमतों में वृद्धि होती रही जिससे बहुलता के समय में भी उपभोक्ता को कोई लाभ प्राप्त नहीं हुआ। नियंत्रित कीमतों पर सरकार द्वारा चीनी देने की योजना, साथ साथ मुक्त रूप से खुले बाजार में मिलने की सुविधा, सन् 1950 से कुछ समय अंतराल से चलायी गयी। लेकिन नियंत्रित कीमतों का, यद्यपि ये खुले बाजार की कीमतों से कम ही थी, ऊंची लागत के कारण, उपभोक्ता के लिए अधिक होना स्वाभाविक था। घरेलू उत्पादन तथा आयातित चीनी को इकट्ठा करने से भी चीनी की कीमतों में कोई कमी नहीं आयी। जहां बढ़ती हुई घरेलू मांग की पूर्ति के लिए तथा आयात की आवश्यकता को समाप्त करने के लिए, उत्पादन क्षमता में वृद्धि करना आवश्यक था, चीनी की खपत को और बढ़ाने के लिए यदि निर्यात सुविधाओं में विस्तार न भी किया जाये तो बाजार की कीमतों में कमी करना भी अत्यंत आवश्यक था। गन्ने की ऊंची कीमतों के कारण चीनी महंगी हुई जबकि गन्ने की कीमतों को घटाने से गन्ने के उत्पादन में कमी आयी। गन्ने की कीमतों को निश्चित करने के कारण अनेक प्रकार की, तकनीकी तथा अन्य, कठिनाइयां पैदा हो गयीं।

जनसाधारण की क्रय शक्ति की तुलना में भारतीय चीनी महंगी थी—यह इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रति व्यक्ति खपत की दर में ठहराव था, जो 25 से 30 पौंड प्रति वर्ष (गुड़ को मिलाकर) था। सन् 1951 में यह 26.5 पौंड था जबकि यह क्यूबा में 129 पौंड, अमेरिका में 103.6 पौंड और इंगलैंड में 89.5 पौंड था।

कागज

जैसाकि हमने पहले अध्याय में देखा, कागज उद्योग में सन् 1925 के बाद तेज़ी

से विस्तार हुआ, जबकि इसे व्यापारिक संरक्षण मिला। मिलों की संख्या सन् 1913 में 5 से बढ़कर, सन् 1937 में 9 हो गयी। युद्ध के दौरान, इस उद्योग का और भी विस्तार हुआ और युद्ध के अंत तक, देश में 1,04,000 टन प्रति वर्ष कागज उत्पादन करने वाली 15 मिलें थीं। युद्धोपरांत के वर्षों में उद्योग ने अच्छी प्रगति कर साधारण कागज के उत्पादन में आत्मनिर्भरता प्राप्त कर ली लेकिन न्यूजप्रिंट और गत्ते में ऐसा नहीं हुआ। पारदर्शी कागज, सिगरेट टिशु, रेयन, आर्ट तथा क्रोम कागज, चैक का कागज सैलुलोज फिल्म आदि के उत्पादन से उद्योग के काम में विभिन्नता आयी। प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान उद्योग का विकास काफी महत्वपूर्ण रहा तथा योजनानुसार ही रहा।

तालिका 7.8
क्षमता और उत्पादन कागज और न्यूजप्रिंट

उद्योग	*1950-51*			*1955-56*		
	इकाइयों की संख्या	*निर्धारित क्षमता*	*उत्पादन*	*इकाइयों की संख्या*	*निर्धारित क्षमता*	*उत्पादन*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*	*7*
कागज और कागजी गत्ते	17	136.6	114	19	210.0	200.00
न्यूज़प्रिंट	–	–	–	1	30.0	4.2
मोटे गत्ते और अन्य गत्ते	18	48.5	22	20	59.3	32.0

न्यूजप्रिंट उत्पादन की अकेली इकाई जो अस्तित्व में आयी वह थी 30,000 टन की क्षमता वाली मध्यप्रदेश में सार्वजनिक क्षेत्र की "नेशनल न्यूज़प्रिंट एंड पेपर मिल लिमिटेड" इस संयंत्र के निर्माण. में काफी देर लगी और शुरू की काफी मुश्किलों के बाद उत्पादन शुरू किया जा सका। सलाई की लकड़ी और बांस पर आधारित, नेफा मिल का उत्पादित माल, पारंपरिक कच्चे माल पर बने आयातित कागज के मुकाबले में अच्छा नहीं था।

उद्योग के सामने तीन बड़ी समस्याएं थीं। प्रथम, इससे अभी भी देश की कागज की आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होती थी, विशेषकर कुछ अच्छे पतले किस्म के कागज़ तथा न्यूज़प्रिंट के मामले में। दूसरे, इसकी गुणवत्ता में अभी बहुत कमी थी। सौ टन प्रतिदिन की क्षमता की इकाई को अच्छे लाभप्रद आकार का माना गया, लेकिन अनेक इकाइयों की क्षमता इससे भी कम थी। यदि, जैसा कि योजना आयोग ने देखा, लुगदी के कागज के साथ 50 टन प्रतिदिन की क्षमता के संयंत्र को साधारण कागज के उत्पादन के लिए न्यूनतम कम खर्चीले आकार का माना गया तो सन् 1956 में भारत में इस श्रेणी की केवल पांच ही इकाइयां थीं।

सामान्यतः कच्चे माल की निकटता से ही उपलब्धि संयत्र के आकार का निर्धारण होता था और इस प्रकार अधिकांश प्रमुख संयंत्र बंगाल, बिहार और उड़ीसा में ही स्थापित थे, यद्यपि पूरे देश में उद्योग की स्थापना उचित वितरण से हुई थी।

यह आवश्यक था कि देश में सरलता से उपलब्ध नये किस्म के कच्चे माल जैसे खोई, चावल भूसी, बेकार कागज आदि से कागज बनाने की सुविधाओं को देखने के लिए नये नये गहन शोध किये जायें। यदि विकसित होते चीनी उद्योग के उत्पादों का लाभपूर्ण प्रयोग करना हो तो कागज और चीनी उद्योगों में घनिष्ठ सम्पर्क और समन्वय की आवश्यकता थी।

विश्वभर में प्रति वर्ष दो पौंड प्रति व्यक्ति के निम्नतम खपत को देखते हुए, जबकि यह जापान में 50 पौंड और यूरोप में 100 पौंड से भी अधिक था, भारत में, बढ़ती जनसंख्या में बढ़ती साक्षरता, विकसित होती शैक्षणिक सुविधाओं, तीव्रतर औद्योगिकीकरण और अधिक विपणन एवं वितरण की आवश्यकताओं के कारण कागज के लिए फलता फूलता बाजार था।

सीमेंट

युद्ध के दौरान तथा बाद में सीमेंट उद्योग की कहानी क्रमिक विकास की कहानी है। सन् 1939 से हुई इस उद्योग की प्रगति निम्न तालिका में दर्शायी गयी है।

तालिका 7.9
सीमेंट उत्पादन : 1939-56

वर्ष			*उत्पादन ('000 टनों में)*
1939	...	...	1,250
1940	...	...	1,712
1945	...	...	1,655
1950	...	...	2,652
1956	...	...	4,928

सन् 1956 में 28 सीमेंट फैक्ट्रियां थीं जिनमें से तीन सरकारी थीं जो उत्तरप्रदेश, बम्बई और मैसूर राज्यों में थी।

इस अप्रत्याशित विकास के बावजूद, भारत में सीमेंट की प्रति व्यक्ति खपत विश्व में सबसे कम रही। यह युद्धपूर्व के वर्षों के सात पौंड से बढ़कर सन् 1944 में लगभग 11 पौंड और सन् 1956 में प्रभावपूर्ण 30 पौंड तक हो गयी। लेकिन इस पर भी यह पश्चिमी देशों की 500 से 600 पौंड की खपत को देखते हुए

बहुत कम थी। यह तुलना भारत के निम्नस्तरीय विकास को देखते हुए अनुचित कही जा सकती है, लेकिन इस तुलना ने निश्चित रूप से, इस उद्योग के भावी विस्तार के लिए काफी संभावनाएं प्रदान कीं। यहां तक कि पांचवें दशक के प्रारंभ में मांग उत्पादन से काफी अधिक थी जिससे आयात को बढ़ाने की आवश्यकता हुई जो काफी कम हो गया था और निर्यात को घटाने की आवश्यकता हुई जो बढ़ता जा रहा था।

विकसित होते बाजार, कच्चे माल की सन्तोषजनक सप्लाई तथा एक उचित कार्यकुशल संगठन के होने से यह उद्योग एक सुखद स्थिति में था। अपने विकास को अपनी जमापूंजी के माध्यम से करने का वैशिष्ट्य इसे प्राप्त था। फिर भी कुछ इकाइयों का आकार अत्यधिक अनार्थिक था। कच्चे माल की लागत की कीमत बहुत ऊंची थी और वैकल्पिक संसाधनों की खोज करनी आवश्यक थी। प्रस्तावित इस्पात परियोजनाओं के कारण अच्छी खासी मात्रा में भट्ठी लौह चूर्ण के निकट भविष्य में मिलने की संभावना थी, और इस चूर्ण को सीमेंट उत्पादन में विशाल स्तर पर प्रयोग करने की आवश्यकता थी। भौगोलिक रूप से कहें तो उद्योग की स्थानिक स्थापना विशेषतः असमान नहीं था लेकिन परिवहन संबंधी खर्चे को कम करने की दृष्टि से भावी विकास को योजनाबद्ध ढंग से करना अत्यंत आवश्यक था।

युद्ध के बाद सीमेंट मशीनों के निर्माण में संतोषजनक प्रगति हुई थी। ए.सी.सी. कंपनी ने चक्रीय भट्ठों को बनाना शुरू किया और एक अमरीकी फर्म, कलींकर कोलर्स एंड कलींकर ब्रेकर्स की तकनीकी सहभागी में सीमेंट निर्माण की योजना बनायी। अन्य इकाइयों ने अपने अपने कारखानों में मशीनों के आवश्यक भागों को बनाना शुरू किया।

सूती वस्त्र

अभूतपूर्व अभाव

दूसरे विश्वयुद्ध ने मिल मालिकों के मस्तिष्क में इतनी सुखद और सुंदर संभावनाएं उत्पन्न नहीं कीं जितनी कि पहले विश्वयुद्ध ने एक पीढ़ी पूर्व की थी। उन्होंने घरेलू बाजार पर पहले से ही अधिकार कर रखा था और किसी भी महत्वपूर्ण स्तर पर और अधिक विकास की कोई गुंजाइश नहीं थी। फिर भी, आयात की संभावित कठिनाइयों और युद्ध की बढ़ती मांग को देखते हुए उचित आशावादिता के स्पष्ट कारण थे। उद्योग का आशापूर्ण भविष्य इंडो-ब्रिटिश और इंडो-जापानी समझौतों के नवीनीकरण अथवा संशोधन के प्रति इसकी प्रतिक्रिया में झलकता था।

युद्ध के प्रथम वर्ष में धागे और कपड़े–दोनों के उत्पादन का विस्तार हुआ लेकिन वित्तीय दृष्टि से उद्योग ने पहले वर्ष के मुकाबले अच्छे परिणाम नहीं दिये।

अगले वर्ष आसार अच्छे दिखायी देने लगे। मांग तेजी से बढ़ रही थी और मिलों ने उपलब्ध क्षमता का उपयोग करते हुए दो पारी में काम करना शुरू कर दिया। सरकार ने उत्पादन बढ़ाने की दृष्टि से प्रोत्साहनों और रियायतों के द्वारा सक्रिय रूप से हस्तक्षेप किया। श्रमिकों को युद्ध बोनस के प्रस्ताव से प्रसन्न करने का प्रयत्न किया गया। मशीनों में रद्दो बदल तथा पुनः परिवर्तन की लागत को राजस्व व्यय में डालने की अनुमति दे दी गयी। फैक्ट्रीज एक्ट तथा इंडस्ट्रियल डिस्प्युट्स एक्ट के प्रावधानों में 54 घंटे का सप्ताह तथा घटे हुए दर से अतिरिक्त भत्तों को संभव करने के लिए ढिलाई दी गयी।

सन् 1942 में युद्ध में जापान का प्रवेश और इसकी रोमांचकारी सफलताओं ने उद्योग पर विशेष रूप से तथा पूरे देश पर सामान्यतः एक भयपूर्ण प्रभाव डाला। लेकिन जापान के प्रवेश पर शीघ्र ही रोक लगा दी गयी और बढ़ती हुई मांग के कारण, यह उद्योग फिर से अपने मूल रूप में आ गया। आंतरिक स्थितियां बहुत ही विस्फोटक बनती जा रही थीं, राजनीति में युद्ध जैसी तीक्ष्णता आ गयी थी और श्रमिक वर्ग बचैन हो गया था। हड़तालों की लहर चल रही थी, और इसकी पराकाष्ठा हुई अहमदाबाद की साढ़े तीन महीने की लंबी हड़ताल में उत्पादन में काफी कमी आयी, कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि हुई, और सट्टेबाज और जमाखोर सक्रिय हो गये। एक ओर उपलब्ध राजनैतिक स्थितियों के कारण तथा दूसरी ओर युद्ध के प्रयत्नों के कारण सरकार के पास उपभोक्ता की तरफ ध्यान देने के लिए काफी कम समय था। जब स्थिति बहुत अधिक बिगड़ने लगी। कीमतों, उत्पादन और वितरण को जल्दी जल्दी में बनाये गये कानूनों के द्वारा नियंत्रित करने के प्रयत्न किये गये। लेकिन परिणाम आशा के अनुसार, असंतोषजनक रहे। युद्धजनित वस्तुओं के अभाव के ऊपर सरकार ने मुद्रा स्फीति की नीतियां लाद दीं और सामान्य अभावों के साथ साथ स्थानीय अभावों में भी वृद्धि होती गयी और इसका कारण था, परिवहन की अड़चनें, दोषपूर्ण वितरण प्रणाली अथवा सरकारी भ्रष्टाचार। अब यदि व्यापार ने लाभ कमाना शुरू किया जैसा कि पहले कभी नहीं हुआ था, मिल भी स्टाक जमा कर शीघ्रातिशीघ्र अधिक लाभ कमाने के लालच को नहीं रोक सकी। 'बांबे मिल ऑनर्स एसोसियेशन' ने अपनी सन् 1944 की रिपोर्ट में विवशतापूर्वक लिखा "कपड़े और धागे की युद्ध समय की कहानी एक प्रकार से कालाबाजारी, नियंत्रण और फिर अधिक कालाबाजारी की कहानी है" युद्ध के दौरान तथा युद्धोपरांत भी उद्योग की क्षमता लगभग एक जैसी बनी रही। तकुवों की संख्या 10 लाख से थोड़ी अधिक, करघों की संख्या दो लाख से कुछ अधिक, और श्रमनियोजन (जो युद्ध के दौरान पांच लाख व्यक्तियों तक थी) 4.25 लाख से 4.50 लाख के लगभग थे (एक पारी के आधार पर)। उत्पादन में, फिर भी, काफी विभिन्नता रही जैसा कि निम्नलिखित आंकड़ों से देखा जा सकता है।

तालिका 7.10
धागे और कपड़े का उत्पादन

वर्ष	*धागा (लाख पौंड)*	*थान कपड़ा (लाख गज)*
1	*2*	*3*
1939	12,330	42,700
1946	16,460	46,760
1950-51	11,620	36,760

बाद के पांच वर्षों के दौरान, उत्पादन में वृद्धि लगातार होती रही और सन् 1956 में धागे का उत्पादन 16,710 लाख पौंड था जबकि कपड़े का उत्पादन 53,000 लाख गज से भी अधिक हो गया था।

सभी किस्म के कपड़े का आयात युद्ध से पहले ही काफी घट गया था। युद्ध के दौरान, काफी कठिनाइयों के बावजूद निर्यात में वृद्धि हो गयी थी। कपड़े का निर्यात सन् 1942-43 में 38.75 के ऊंचे स्तर पर पहुंच गया था और लच्छियों तथा धागे का निर्यात सन् 1941-42 में 7.38 करोड़ रुपये तक हो गया था। युद्धोपरांत के वर्षों में देश के विभाजन तथा रुपये के अवमूल्यन के बावजूद निर्यात में वृद्धि होती रही और सन् 1950-51 में सर्वाधिक 105.78 करोड़ रुपये तक पहुंच गया था। अगले ही वर्ष, यह घटकर कोरिया के युद्ध से पूर्व के स्तर लगभग 55 करोड़ रुपये का रह गया और अगले चार वर्षों में यहीं स्थिर रहा।

उद्योग की समृद्धि निम्न तालिका में दर्शायी गयी है। ये आंकड़े कॉटन टैक्सटाइल इंडस्ट्री (सन् 1952) की वर्किंग पालिसी (कार्यकारी नीति) की रिपोर्ट से लिये गये हैं तथा ये केवल 196 मिलों से ही लिये गये हैं–

तालिका 7.11
सूती वस्त्र मिलों का मुनाफा

वर्ष	*कुल मुनाफा*	*मैनेजिंग एजेंसी का कमीशन*	*डिप्रेसियेशन का प्रावधान*	*प्रदत्त लाभांश*	*बाकी बचा मुनाफा*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*
1939-40	347	94	161	124	51
1945	3199	522	361	489	594
1946	2402	400	336	570	380
1947	1675	353	317	631	311
1948	2846	530	406	747	283
1949	1388	298	339	541	256

यह दुर्भाग्यपूर्ण ही था कि उद्योग ने इस युद्ध के दौरान ऊंचे मुनाफों को व्यर्थ गंवाने की उसी तरह की अदूरदर्शितापूर्ण नीति का अनुसरण किया जैसा कि प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान किया गया था। यदि यह उद्योग इतना ही अधिक अनजान था कि उसे अपने हितों की जानकारी नहीं थी तो उसमें इतनी समझदारी तो होनी ही चाहिए थी कि यह भावी दुष्काल से निपटने के लिए अपनी क्षमता में वृद्धि करने और इस क्षमता को संजोकर रखने की सरकार की नेक सलाह को मान ले।

युद्धोपरांत की समस्याएं

समृद्धि का यह दौर अधिक दिनों तक नहीं चला। जैसे जैसे युद्ध समाप्ति की ओर था, स्थितियां उत्तरोत्तर उद्योग के प्रतिकूल बनती जा रही थीं। थोड़ी देर से ही सही, लेकिन नियंत्रणों का प्रभाव कीमतों पर हुआ। मजदूरी में निरंतर वृद्धि होती जा रही थी क्योंकि, यह अधिकांश केंद्रों पर रहन सहन के खर्च से जुड़ी थी। अन्य वस्तु निवेशों यथा कोयला, तेल, सूती कपड़ा आदि की कीमतों में भी वृद्धि हो रही थी। लागत में वृद्धि की प्रवृत्ति ने जो सन् 1944 की समाप्ति के समय शुरू हुई थी, युद्धोपरांत के वर्षों में तेजी से फैलना शुरू कर दिया। इस समय में मजदूरी संबंधी निर्णयों के कारण तथा युद्ध के दौरान होने वाली कपड़े की मांग की समाप्ति के कारण सन् 1947 तथा सन् 1948 में मुनाफे की राशि काफी कम हो गयी। मिलों ने मजदूरी में बिना किसी तरह की कमी के फिर से 8 घंटे प्रतिदिन की पारी शुरू कर दी। अत्यधिक राजनैतिक उतार चढ़ाव के परिणामस्वरूप ट्रेड यूनियन आंदोलन और अधिक तेज हो गया और चारों तरफ उद्विग्नता और असहयोग का वातावरण फैलता गया। उत्पादन पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा, यह युद्ध के समय के 16,000 लाख पौंड धागे और 47,000 लाख गज कपड़े के सर्वाधिक उत्पादन से घटकर सन् 1946-47 में 13,300 लाख पौंड धागे और 38,000 लाख गज कपड़े तक आ गया।

देश के विभाजन से उद्योग की उत्पादन क्षमता ज्यों की त्यों रही लेकिन इसका प्रभाव दो तरह से उद्योग पर प्रतिकूल ही हुआ। स्वदेशी मंडी का एक बहुत बड़ा हिस्सा, जिसमें देश के सर्वाधिक समृद्ध क्षेत्र की 7 करोड़ जनसंख्या रहती थी, अब रातों रात विदेशी मंडी बन गयी थी। इस प्रकार उद्योग, जिसने जापान और लंकाशायर की प्रतिस्पर्धा में स्वदेशी मंडी पर कब्जा कर लिया था, निस्संदेह व्यापारिक संरक्षण के कारण नियंत्रण में था, अब अचानक अपने उत्पादन के लिए तुरंत बाजार ढूंढने की समस्या से घिर गया। दूसरे, ऐसे समय में जबकि अच्छी गुणवत्ता का उत्पादन दिनोंदिन आवश्यक हो गया था और मिलों ने भी

इस चुनौती को स्वीकार कर लिया था, लंबे रेशे की रुई की आपूर्ति अब आज के पाकिस्तान से समाप्त हो गयी थी। लेकिन उस समय के प्रचलित विक्रेता बाजार के दौर में, देश विभाजन में निहित चुनौती को उचित परिप्रेक्ष्य में अनुभव नहीं किया गया।

कोरियाई युद्ध के कारण हुई सहसा वृद्धि बहुत ही अल्पकालीन थी और उद्योग ने सन् 1952 के वर्ष में एक प्रकार के मंदी के वातावरण में प्रवेश किया। एक दशक से चली आ रही विक्रेता मंडी तथा इससे लगी समृद्धि अब कहीं नहीं थी। सन् 1952 में शुरू हुई मंदी का प्रभाव सबसे पहले महीन किस्म के कपड़े पर हुआ जिसका उत्पादन अब बढ़ता जा रहा था। मध्यम और मोटे किस्म के कपड़े की बिक्री भी अब धीरे धीरे घट रही थी। कोरिया युद्ध ने कपड़ा निर्यात में अचानक वृद्धि कर दी थी जो सन् 1950-51 में 12,610 लाख गज तक पहुंच गयी थी। लेकिन अगले ही वर्ष यह गिरकर 4,500 लाख गज रह गयी। परिणामस्वरूप, देश में ही प्राप्त माल की मात्रा बाजार की खपत की क्षमता से कहीं अधिक हो गयी थी। कीमतों में गिरावट आयी और मिलों ने या तो हानि उठायी अथवा बहुत कम लाभ कमाया।

लगता था सरकार ने कमी, बढ़ती कीमतों अथवा इसके परिणामस्वरूप होने वाली मंदी की समस्याओं से निपटने के लिए कोई सुविचारित नीति नहीं बनायी थी। यदि कोई नीति थी भी तो उसे नियंत्रण, विनियंत्रण तथा पुनर्नियंत्रण की नीति कहा जा सकता है। नियंत्रणों की पूर्ण समाप्ति, विशेषज्ञों और अर्थशास्त्रियों की राय के विपरीत, सन् 1948 में कर दी गयी। इसके परिणाम को विनाशकारी ही कहा जा सकता है। विनियंत्रण की नीति अधिकांशतः युद्धोपरांत की मुद्रा स्फीति के लिए जिम्मेदार थी। अतएव शीघ्रता से मूल्य नियंत्रण फिर से लागू कर दिया और जमा माल को रोक लिया गया। तथापि उद्योग ने सरकार के चार महीने के आनंददायक विनियंत्रण के समय में अच्छा लाभ कमाया। पांचवें दशक ने अभाव को आधिक्य में परिवर्तित होते देखा और जैसाकि हमने पहले देखा था विभाजन के कारण हुए बाजार की कमी अब तीव्रता से महसूस होने लगी। निर्यात बढ़ाने वाली नीतियों की अब स्पष्ट रूप से आवश्यकता थी। सरकार ने फाईन और सुपरफाईन कपड़े के निर्माण में प्रयुक्त आयातित रुई पर अदा किये गये शुल्क में छूट दे दी। यह फाईन और सुपरफाईन कपड़ा फिर निर्यात भी होने लगा था। सुपरफाईन कपड़े का उत्पादन शुल्क घटा दिया गया था। इन सब के कारण निर्यात बढ़कर सन् 1953 में 7,030 लाख गज तक हो गया। मध्य दर्जे के कपड़े पर लगाया गया दस प्रतिशत का उत्पादन शुल्क भी समाप्त कर दिया गया जिससे कि इसकी भी बिक्री बढ़ सके।

इस प्रकार सूती वस्त्र उद्योग योजना के युग में प्रवेश कर रहा था और,

संयोगवश, इसके शताब्दी वर्ष (1954) बीतने पर भी भविष्य इतना अधिक आशापूर्ण नहीं है।

अत्यधिक कार्यक्षमता की ओर

सन् 1940-50 का दशक उद्योग संचालन में कुछ गुणात्मक परिवर्तनों के लिए प्रसिद्ध था–इन परिवर्तनों की संक्षिप्त चर्चा करनी वांछनीय है। उद्योग के उत्पादन ढांचे में परिवर्तन, जो तीसरे दशक में अनुभव किये गये, बाद के वर्षों में अधिक स्पष्ट हो गये। पचास से ऊपर के कच्चे धागे का उत्पादन युद्ध पूर्व के वर्षों के 150 लाख पौंड से बढ़कर सन् 1948 में 880 लाख पौंड तक हो गया। चूंकि सन् 1939 और सन् 1940 में उत्पादन के ढंग में रुकावट आ गयी थी, अधिकांश परिवर्तन सन् 1946-48 में किये गये। इसी प्रकार 36 तथा ऊपर की गांठों के कपड़ों का उत्पादन भी सन् 1945 और सन् 1950 के दौरान 7,920 लाख गज से 14,910 लाख गज हो गया, यद्यपि ये दो वर्ष उद्योग के लिए अधिकतम और न्यूनतम उत्पादन स्तर के वर्ष थे निःसंदेह, यह उपलब्धि निम्न स्तर के कपड़े के उत्पादन को छोड़कर प्राप्त की गयी थी। सन् 1950-53 के दौरान, उन उपभोक्ताओं, जो ऊँची कीमत का महीन किस्म का कपड़ा नहीं खरीद सकते थे, की आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण, स्थिति कुछ विपरीत हो गयी।

अच्छे किस्म के कपड़े का प्रभुत्व जम चुका था लेकिन उत्पादन का तरीका, विभिन्न किस्मों के संदर्भ में, किसी भी प्रकार से स्थायी नहीं था।

ब्लीचिंग और रंगाई के लिए सुविधाओं की कमी की युद्ध पूर्व की कठिनाई अब बिल्कुल समाप्त कर दी गयी थी और मर्सराइजिंग तथा कैलिको छपाई का काम व्यापक स्तर पर शुरू किया गया।

उत्पादन के तकनीकी पक्ष में भी इन वर्षों में अनेक परिवर्तन किये गये। वर्तमान इकाइयों में इस प्रकार का तकनीकी रूपांतरण नयी मशीनों की स्थापना अथवा नयी मिलों के निर्माण की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण था। कताई के चर्खों को लगभग पूरे तौर पर स्वचालित मशीनों और ऊंची ड्राफ्ट पद्धतियों में परिवर्तित कर दिया गया था। बाल और रोलर बेयरिंग तकुवों, अधिक बड़े व्यास के छल्लों, तथा अधिक भारी कताई के तकुवों को विशाल स्तर पर अपनाया गया। महीन धागे के उत्पादन के दौर में धनुकियों तथा डबल धुनकों का प्रयोग बढ़ गया था। स्टेपल रेशे से धागा बनाने वाले तकुवों की संख्या, जो सन् 1939 में हजारों तक ही सीमित थी, लाखों में पहुंच गयी।

वस्त्र मशीनी उद्योग की प्रगति बुनाई अनुभाग में अधिक प्रभावशाली ढंग से देखी जा सकती थी। सन् 1947-52 के दौरान लगभग 5,000 स्वचालित करघे

और लगे। लपेटन और ताना अनुभागों में तीव्र गति के, और कुछ बड़े मिलों में, तेज़ गति की मशीनें लगायी गयीं।

छोटे छोटे परिवर्तन इतने अधिक थे कि उनकी चर्चा करना भी कठिन है। प्रकाश करने की पुरानी पद्धति को अब बदल कर अधिक दीप्तिवान प्रकाश कर दिया गया था। कढ़ाई और तैयार कपड़ों का काम, उद्योग संचालन के क्षेत्र में युद्धोपरांत समय के दो नये आयामों में थे।

सन् 1950 में 'अहमदाबाद टैक्सटाइल इंडस्ट्रीज रिसर्च एसोसियेशन (अटीरा) की स्थापना से व्यावहारिक शोध की शुरुआत हुई जिसको अभी तक पूरी तरह से नकार रखा था। यह प्रस्तावित चार अनुसंधान संस्थानों में पहला था, अन्य तीन बंबई, बड़ौदा और कोयंबतूर के लिए निर्धारित थे।

युद्धोपरांत बने नये मिलों में श्रमिकों की नियुक्ति का काम काफी अच्छा था तथा कुछ पुराने मिलों में इस काम में सुधार किया गया था। फिर भी, पूरे तौर पर उद्योग के लिए यह प्रमुख समस्याओं में से एक बनी रही। सन् 1940 के दशक में कुछ मिलों का स्वामित्व गैर भारतीयों से भारतीयों के हाथ में आ गया। युद्ध से पहले मैनेजिंग एजेंसी पद्धति एक प्रकार से सर्वप्रचलित थी, लेकिन अब उद्योग नियंत्रण के तरीकों में जबर्दस्त परिवर्तन आ गया था। आधे से अधिक मैनेजिंग एजेंसियां पब्लिक लिमिटेड कंपनियों में तबदील कर दी गयी थीं और इनके पब्लिक लिमिटेड कंपनियों में परिवर्तित होने के उदाहरण भी थे। युद्धोपरांत की एक और घटना थी कि काफी कंपनियों ने अपनी प्रबंधक एजेंसियां बदल दी थीं। कंपनियों को दिये जाने वाली बड़ी बड़ी रियायतों के बावजूद, अनेक मामलों में प्रबंधक संगठनों से संबंध बने रहे, और इन संगठनों का प्रभाव पूरे तौर पर, उद्योग के नियंत्रण और प्रबंध में एक महत्वपूर्ण तत्व बना रहा।

उद्योग की प्रमुख समस्याएं थीं, रुई की कमी, विशेषकर अच्छे किस्म की रुई, अनेक इकाइयों का अनार्थिक आकार, मशीनरी और संयंत्र के आधुनिकीकरण की शीघ्र आवश्यकता, तथा हथकरघा उद्योग के साथ उचित समन्वय।

इंडियन सेंट्रल काटन कमेटी ने, सरकार तथा उद्योग की सक्रिय सहायता और प्रोत्साहन से उन्नत किस्मों के क्षेत्र के विस्तार में काफी उपयोगी कार्य किया था। परिणामस्वरूप, अत्यधिक उन्नत किस्मों के उत्पादन में वृद्धि हो रही थी। यद्यपि भूमि क्षेत्र कम हो रहा था। यह भूमि क्षेत्र सन् 1938-39 के 23 करोड़ 49 लाख एकड़ से घटकर सन् 1946-47 में 14 करोड़ 90 लाख एकड़ रह गया। यह युद्ध के वर्षों में 'अधिक अन्न उपजाओ' अभियान के कारण हुआ। विभाजन के बाद, भारत के पास 11 करोड़ 67 लाख एकड़ क्षेत्र रह गया। आगामी कुछ वर्षों में, शीघ्रता से इसे 16 करोड़ 20 लाख एकड़ तक विस्तृत किया गया।

लेकिन इस भूमि विस्तार से अधिक महत्वपूर्ण, उत्पादन के तरीकों में परिवर्तन था।

लंबे स्टेपल (7/8 इंच और अधिक) का उत्पादन सन् 1950-51 और सन् 1954-55 के दौरान 684,000 गांठों (392 पौंड की) से बढ़कर दुगने से भी अधिक 15,87,000 गांठों तक पहुंच गया और मध्यम स्टेपल का 14,48,000 गांठों से 18,86,000 गांठों तक हो गया लेकिन छोटी स्टेपल (11/16 इंच और कम) का उत्पादन 8,50,000 गांठों तक ही बना रहा। आयात का औसत दस लाख गांठ प्रति वर्ष रहा और उसकी कीमत सन् 1950-51 में 137 करोड़ रुपये से सन् 1955-56 में 52 करोड़ रुपये तक रही। इस प्रकार रुई में आत्म निर्भरता के लक्ष्य प्राप्ति में काफी कुछ करना शेष था।

मशीनों का निर्माण

कपड़ा मशीनों के निर्माण की शुरुआत सन् 1940 में हो गयी थी लेकिन उद्योग की प्रगति बहुत धीमी थी। सन् 1950-51 में लगभग आठ इकाइयां पंजीकृत थीं लेकिन उनका उत्पादन केवल 1.25 करोड़ रुपये का ही था। आयात का औसत लगभग 10 करोड़ रुपये था। लेकिन आरंभिक उद्योग की मरम्मत तथा बदलाव का काम बहुत अधिक था। आधुनिकीकरण की लागत 300 करोड़ रुपये आंकी गयी थी। यहां तक कि विभाजित अवस्थाओं के कार्यक्रमों के आधार पर भी मशीनों की आवश्यकताओं तथा उपलब्ध उत्पादन का अंतर प्रथम पंचवर्षीय योजना में निम्नानुसार आंका गया–

तालिका 7.12
मशीनरी निर्माण

वस्तु *(1)*	*1951 में उत्पादन (संख्या)* *(2)*	*अनुमानित आवश्यकता* *(3)*
फ्ल्यूटेड रोलर्स	41.213	5,75,000
टिन रोलर्स	560	6,000
तकुवे	1,00,796	1,25,000
छल्लों के फ्रेम	275	2,500
कार्डिंग इंजन	134	850

मशीनरी उद्योग को संरक्षण दिया गया था लेकिन आश्चर्य यह था कि सूती वस्त्र उद्योग ने, जिसने 25 वर्षों तक संरक्षण का आनंद उठाया, इसके सहायक उद्योगों को दिये गये संरक्षण के प्रति अच्छी प्रतिक्रिया नहीं दी। यह विशेष रूप से स्वदेश में निर्मित मशीनों के अनिवार्य रूप से उपयोग करने के विरुद्ध था।

निश्चित रूप से इसमें कुछ सत्यता थी कि घटिया किस्म और ऊंची कीमत के पूंजीगत माल का प्रभाव, उपभोक्ता माल के विपरीत दूरगामी था। फिर भी, गुणवत्ता में सुधार आदि आंशिक रूप में बढ़ते हुए बाजार के आश्वासन पर निर्भर करता था।

अधिकांश कपड़ा मिलों की मशीनरी पुरानी थी, और इनका उपयोग युद्ध के दिनों में रखरखाव और टूट-फूट के ध्यान रखे बिना बहुत अधिक हुआ था। काटन टैक्सटाइल इंडस्ट्री को वर्किंग पार्टी के अनुसार, कताई अनुभाग में ताना बाना ढांचे को छोड़कर, अन्य की 65 प्रतिशत मशीनें सन् 1925 के पहले से लगायी गयीं थीं जबकि 30 प्रतिशत और इससे अधिक की मशीनें सन् 1910 से पहले की थीं। बुनाई के मामले में स्थिति और भी खराब थी। लगभग 49 प्रतिशत करघे 40 वर्ष से भी अधिक पुराने थे और लगभग 75 प्रतिशत 25 वर्ष से भी अधिक पुराने। सभी प्रकार की मशीनों के बारे में स्थिति यह थी कि 75 प्रतिशत के लगभग मशीनरी 25 साल से भी पुरानी थी। अतएव यह कोई आश्चर्यजनक बात नहीं थी कि उद्योग का लागत मूल्य बहुत अधिक, गुणवत्ता घटिया और उत्पादनशीलता बहुत कम थी। उद्योग को ठीक स्थिति में लाने के लिए, एक जबर्दस्त आधुनिकीकरण कार्यक्रम की आवश्यकता थी। सन् 1910 से पहले की लगी मशीनरी को फौरन बदलने की आवश्यकता थी। उद्योग के पास इसके लिए आवश्यक जमापूंजी नहीं थी, यदि इसे वर्किंग पार्टी के सुझाव के अनुसार 10 से 15 वर्षों के समय में धीरे धीरे भी किया जाता। सरकारी सहायता से जो कि अभी विचाराधीन ही थी, आवश्यकता का केवल एक भाग ही पूरा किया जा सकता था।

युद्धोपरांत के वर्षों में, लगभग 150 अनार्थिक इकाइयां थीं जिसमें से 25 बाद में बंद कर दी गयीं और 35 नुकसान में चल रही थीं। अन्य 90 सामान्य सा ही लाभ देती थीं। अधिकांश अनार्थिक इकाइयां पश्चिमी बंगाल और मद्रास में थीं। तथापि, इन समस्याओं से निपटने के लिए कोई सुविचारित नीति अथवा कार्यक्रम नहीं था यद्यपि अंतर्राष्ट्रीय बाजार में एक दृढ़ प्रतियोगी के रूप में जापान की वापसी होने वाली थी।

हथकरघा

हथकरघा क्षेत्र की संगठित मिल उद्योग जैसी समस्याओं के साथ साथ अपनी भी अलग समस्याएं थीं। इस विकेंद्रित क्षेत्र में खादी, हथकरघा और शक्तिचालित करघा (पावरलूम) उत्पादन था। विकसित होते सस्ते मिल उत्पादित कपड़े के सामने खादी का महत्व घटता जा रहा था जब तक कि सरकार ने खादी के प्रोत्साहन

के लिये खादी एंड विलेज इंडस्ट्रीज बोर्ड (बाद में आयोग) की स्थापना नहीं की। हथकरघा क्षेत्र को भी, जो दशकों से दयनीय स्थिति में था, स्वतंत्रता के बाद नया जीवनदान मिला। इसका उत्पादन सन् 1945 के 15,000 लाख गज से घटकर सन् 1948 में 10,630 लाख गज और सन् 1950 में 8,050 लाख गज रह गया लेकिन फिर प्रतिवर्ष यह बढ़ता ही गया और सन् 1956 में 15,090 लाख गज तक पहुँच गया। इन पारंपरिक कार्यों के लिए किसी लघु अथवा अल्पकालीन संरक्षणों की आवश्यकता नहीं थी वरन् एक निश्चित समाधान चाहिए था। सभी लोगों की सहमति इसके पक्ष में थी परंतु समस्या का निदान न तो इतना सरल था और न शीघ्र। शक्ति का बढ़ता प्रयोग, मशीनीकरण तथा सहकारिता के सुझाव दिये गये लेकिन ऐसे समय इन लक्ष्यों की पूर्ति में कोई सुविचारित योजनाएं बनती प्रतीत नहीं हुईं। एक और आवश्यक समस्या जिसका शीघ्र निदान आवश्यक था मिल और हथकरघा उद्योग में समन्वय थी। तथापि, इन समस्याओं के निदान ढूढने के प्रयासों से संबंधित अधिकांश विकास योजनाकाल में हुआ, इनकी चर्चा बाद के अध्याय में की गयी है।

रेयन

यद्यपि विश्व रेयन उद्योग इतना ही पुराना है जितनी कि यह वर्तमान बीसवीं शताब्दी लेकिन इसका भारतीय भाग युद्धोपरांत की ही घटना है। स्टेपल रेशे में बहुत अधिक सम्भावनाएं थीं क्योंकि यह लंबे स्टेपल वाली रुई का स्थान ले सकता था जो अपने देश में सीमित मात्रा में उपलब्ध थी। यह अनुमान लगाया गया था कि सन् 1951 में 25,980 मिल करघे थे और 1,81,278 हथकरघे आर्ट सिल्क रेशे के निर्माण में लगे हुए थे। फिलामेंट धागे की आवश्यकताएं 700 से 750 लाख पौंड आंकी गयी जो पूरा का पूरा सन् 1950 तक आयात ही होता था। सन् 1951 में 100 लाख पौंड की वार्षिक क्षमता के केवल दो ही संयंत्र थे। ये सब आयातित कच्चे माल पर ही आधारित थे जिसमें थे घुलनशील पल्प, काटन लिंटर्स, रेयनग्रेड कास्टिक सोडा और गंधक। जहां गंधक में आत्मनिर्भरता का प्रश्न ही नहीं था, यह संभव था कि अन्य शेष माल के निर्माण के लिए आवश्यक कदम उठाये जा सकें।

ऊनी माल का उत्पादन

ऊनी माल का उत्पादन इस अनुपात में अधिक नहीं हुआ, यद्यपि नये नये उद्योग लग रहे थे और पुरानों का विस्तार हो रहा था। विस्तार का पहला दौर सन् 1919-20 में और इसके बाद सन् 1948-50 में दूसरे विश्वयुद्ध के बाद आया।

सन् 1951 में 44 फैक्ट्रियां थीं जिनमें 2,039 करघे, 1,16,800 तकुवे थे तथा जिनकी वार्षिक क्षमता 200 लाख पौंड और वास्तविक उत्पादन लगभग 180 लाख पौंड होता था। यह एक पारी के काम का उत्पादन था जबकि उद्योग की क्षमता काफी अधिक थी। स्वदेश निर्मित ऊन का अधिकांश भाग, कुल उत्पादन अनुमानतः 350 लाख प्रतिवर्ष था, विदेशी बाजार में जाने लगा। मोटे और भारी किस्म के माल का ही उत्पादन सर्वाधिक था क्योंकि देशी ऊन महीन धागा बनाने के लिए उपयुक्त नहीं थी और जनता की क्रय शक्ति भी इतनी नहीं थी। महीन धागे के बनाने के लिए उद्योग को 50 से 80 लाख पौंड कच्चा ऊन तथा 80 से 130 लाख पौंड के टाप्स आयात करने पड़े। युद्धोपरांत के आयात प्रतिबंधों के कारण ऊनी माल के आयात में उत्तरोत्तर कमी आती जा रही थी। यह सन् 1948-49 के 7.24 करोड़ रुपये से गिरकर सन् 1951-52 में 2.98 करोड़ रुपये तक हो गया। दूसरी ओर निर्यात में वृद्धि हो रही थी, विशेषकर कालीनों के निर्यात में। सन् 1948-49 के 3.04 करोड़ रुपये से सन् 1951-52 में यह 6.49 करोड़ रुपये तक बढ़ गयी जिसमें 85 से 90 प्रतिशत कंबलों और कालीनों का ही निर्यात था। इस प्रकार उस उद्योग में निर्यात की अत्यधिक संभावनाएं थीं। यद्यपि देशी ऊन की किस्म में सुधार लाना आवश्यक था जिससे आयात पर निर्भरता कम हो सके और तकनीशियनों के प्रशिक्षण के लिए सुविधाएं मिल सकें जिसका काफी अभाव था।

जैसा कि सूती वस्त्र उद्योग में था, ऊनी मिलों का क्षेत्र भी, विकेंद्रित था। कुल हथकरघों की संख्या 1,00,000 आंकी गयी थी ओर उद्योग में लगे व्यक्तियों की संख्या 5,00,000। उद्योग में 150-160 लाख पौंड कच्चे माल की खपत थी और यह मुख्यतः मोटे किस्म का ही उत्पादन करती थी। अच्छे कालीनों का उत्पादन अपवाद रूप में था और उनसे 4 से 5 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष विदेशी मुद्रा अर्जित होती थी।

जूट

उद्योगों में जूट उद्योग ही मंदी से अत्यधिक प्रभावित था। लेकिन युद्ध के छिड़ने से इसके उत्पादन और लाभ में सुधार आया। इसकी समृद्धि, जो विदेशी मांग की पुनरावृत्ति से अत्यधिक जुड़ी हुई थी, बढ़ते हुए निर्यात में झलकती देखी जा सकती थी। युद्ध पूर्व के 25-30 करोड़ रुपये के औसत से सन् 1939-40 से 1944-45 तक पांच वर्षों के दौरान निर्यात का औसत 50 करोड़ रुपये हो गया। युद्धोपरांत के वर्षों में निर्यात में और अधिक वृद्धि हुई और विभाजन के कारण, कच्चे जूट की सप्लाई में आये व्यवधान से भी निर्यात वृद्धि में रुकावट नहीं

आ सकी। सन् 1951-52 में कोरियाई युद्धवृद्धि ने निर्यात आय को रातोंरात लगभग दुगुनी कर, उस समय तक की सर्वाधिक 269-73 करोड़ रुपये तक पहुंचा दिया। लेकिन यह एक लहरमात्र थी और जैसी कि आशा थी अगले वर्ष का निर्यात अपने पुराने स्तर पर आ गया। युद्ध-पूर्व के वर्ष सन् 1938-39 से शुरू कर, निम्न तालिका के आंकड़े अपनी कहानी बताते हैं–

तालिका 7.13
जूट माल का निर्यात

वर्ष	*मूल्य (करोड़ रुपयों में)*	*मात्रा ('000 टनों में)*
1	*2*	*3*
1938-39	26.26	955
1945-46	59.62	680
1950-51	113.94	650
1954-55	123.97	852

निर्यात की मात्रा युद्ध पूर्व के स्तर से गिरकर सन् 1947-48 में 896,000 टन तथा फिर सन् 1950-51 में 650,000 टन रह गयी। इसके बाद कुछ सुधार हुआ। सन् 1951-52 में 797,000 टन और सन् 1954-55 में 852,000 टन हो गयी। उससे मालूम होता है कि निर्यात आय में वृद्धि आंशिक रूप में सामान में अधिक निर्यात के कारण थी। निर्यात की इकाई कीमत भी बढ़ती जा रही थी; विशेषकर सन् 1951-52 तक।

विभाजन का प्रभाव

विभाजन से पहले निर्यात के स्तर में वृद्धि कच्चे जूट की सप्लाई में हुई वृद्धि के कारण संभव की जा सकी। लेकिन सन् 1947 के बाद, भारत के पास विभाजन पूर्व के जूट उत्पादित क्षेत्र का केवल 25 प्रतिशत भाग ही रह गया और भारत को ऐसी विषम स्थिति का सामना करना पड़ा कि पाकिस्तान के पास कच्चा माल चला गया और भारत के पास इसके उत्पादन की क्षमता आ गयी। पाकिस्तान से आयात, यद्यपि कभी भी पर्याप्त और स्थायी नहीं रहा, सितंबर 1949 में भारतीय रुपये के अवमूल्यन के कारण बिल्कुल रोक दिया गया। इस चुनौती को स्वीकारते हुए भारत ने अपने उद्योगों के लिए आवश्यक जूट का उत्पादन करना शुरू कर दिया, और इसके परिणाम आश्चर्यजनक कहे जा सकते हैं। विभाजन के बाद तीन वर्ष के अंदर ही अंदर जूट उत्पादित क्षेत्र तथा उत्पादन दुगुना हो गया–यह निम्न तालिका से स्पष्ट है–

तालिका 7.14
जूट उत्पादित क्षेत्र तथा उत्पादन

वर्ष	*क्षेत्र (एकड़ में)*	*उत्पादन (400 पौंड की प्रत्येक गांठ हजारों में)*	*प्रति एकड़ उत्पादन (गांठें)*
1	*2*	*3*	*4*
1947-48	652	1,696	2.60
1950-51	1,454	3,301	2.27
1955-56	1,581	4,137	2.69

इस प्रकार भारत थोड़े समय में ही अपनी आवश्यकता का 80 प्रतिशत जूट पैदा कर सका। इसपर भी युद्धोत्तर के दशक में उत्पादन प्रति एकड़ गिरता रहा लेकिन सन् 1955-56 में इसमें कुछ सुधार हुआ। इसका कारण उत्पादन क्षेत्र में अविवेकपूर्ण तरीके से की गयी वृद्धि को माना जा सकता है। इसके बावजूद उत्पादन आवश्यकता से 20 लाख गांठें कम रहा, जबकि अधिकांश स्वदेशी जूट घटिया किस्म का था जो कि हैसियन (Hessian) के निर्माण के लिए उपयुक्त नहीं था। इसलिए अच्छे किस्म के जूट के उत्पादन की ओर स्पष्ट ध्यान दिया गया। पाकिस्तान से आयातित जूट पर निर्भरता अभी भी काफी थी यद्यपि मात्रा में काफी कमी आ गयी थी। आयात सन् 1950-51 के 25.77 लाख गांठों से घटकर सन् 1953-54 में 14.32 करोड़ रुपये का अर्थात् 14.62 लाख गांठों तक आ गया। चिंता का कारण आयात की आवश्यकता न होकर इसकी अनिश्चितता थी।

कच्चे जूट का निर्यात, जो एक समय अच्छा खासा था, अब विभाजन के बाद लगभग पूरी तरह से समाप्त हो गया था।

उद्योग की क्षमता तथा उत्पादन में इन वर्षों में कोई विशेष सुधार नहीं हुआ। सन् 1938-39 में 107 मिलें थीं। जिनमें 68,000 करघे और 13,50,000 तकुवे थे। युद्ध की समाप्ति पर मिलों की संख्या बढ़कर 111 हो गयी लेकिन करघों की संख्या ज्यों की त्यों रही जबकि तकुवों की संख्या बढ़कर 14,45,000 हो गयी। सन् 1955 में 72,000 से भी अधिक करघे थे। इसपर भी क्षमता का उपयोग एक पारी आधार पर भी, पूरी तरह से नहीं हो रहा था। वार्षिक निर्धारित क्षमता के विरुद्ध सबसे अधिक उत्पादन सन् 1954 और सन् 1955 में दस लाख टन से कुछ अधिक था जबकि पूर्व वर्षों में यह उत्पादन क्षमता से 30 से 40 प्रतिशत कम रहा। इस प्रकार, अपने अस्तित्व के 100 वर्षों के दौरान, काम के घंटों/उत्पादन का प्रतिबंध, युद्ध वर्षों के अतिरिक्त, इस उद्योग में स्थायी रूप से बना रहा।

उद्योग की संभावनाएं कच्चे जूट में सापेक्षतः आत्मनिर्भरता की प्राप्ति तथा निर्यात मंडी को बनाये रखने और विस्तृत करने में उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति

पर निर्भर करती थी। सरकार प्रथम लक्ष्य को प्राप्त करने की तत्कालं आवश्यकता को जानती थी लेकिन इसके रास्ते में समस्याएं ज्यों की त्यों थीं। विभाजन के बाद समेकित रूप से अपनायी गयी नीति का उद्देश्य था अधिक रेटिंग टैंक, बीज फार्म, बीज ड्रिल और धुरे फावड़े, उर्वरक आदि उपलब्ध कराना लेकिन इनका प्रभाव सीमित ही रहा। किसान के लिए न्यूनतंम समर्थन मूल्य ने एक टेढ़ी समस्या खड़ी कर दी। घटिया किस्म के जूट उत्पादन में वृद्धि के कारण कीमतें कम हो रही थीं। मिलें इस घटिया किस्म के जूट को उठाने में आनाकानी कर रही थीं। लेकिन यह समस्या का एक भाग ही था। मूल्य निर्धारण में लागत मूल्य भी एक आधार होना चाहिए। इसके बारे में कुछ मालूम नहीं था और इसके बाद, जूट के निर्धारित मूल्यों का सीधा संबंध चावल के मूल्यों से करना आवश्यक था क्योंकि दोनों का उत्पादन एक दूसरे के स्थान पर होता है। समर्थन मूल्य एक समय के लिए सहायक हो सकते हैं, यद्यपि, यदि इसे सुंदर शब्दों में कहा जाये, नकदी फसलों को "अपने पैरों खड़ा होना ही चाहिए।" जूट की फसल को और भी अधिक, जिसकी मांग विश्व की दूर दूर तक की मंडियों में थी।

निर्माण पक्ष की तरफ, बड़ी समस्या उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति में सुधार लाना था। इसके लिए, इसकी मशीनों का आधुनिकीकरण करना आवश्यक था, यद्यपि वे पुरानी नहीं थीं। पाकिस्तान, जापान, ब्राजील तथा अन्य देश जूट उद्योग की स्थापना आधुनिक उपकरणों से कर रहे थे। लेकिन आधुनिकीकरण करने में भी अनेक बाधाएं थीं जैसे पूंजी की कमी, विशेषकर विदेशी मुद्रा की, मशीनों का अभाव, छंटनी के डर से श्रमिकों की ओर से विरोध आदि। प्रथम योजना में अनुमान लगाया गया कि आधुनिकीकरण, यदि 10 से 15 वर्षों की समयावधि में किया जाये, तो 40 से 45 करोड़ रुपये तक का खर्च आयेगा और इससे लगभग 40,000 श्रमिकों की छंटनी होगी। उद्योग की अब तक की एकाधिकार की स्थिति के सामने गंभीर चुनौती थी और इसे प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति में लाने के लिए सरकार और उद्योग की ओर से संगठित प्रयत्नों की आवश्यकता थी बॉबिंस और पिकर्स से शुरू कर जूट वस्त्र मशीनों के निर्माण में पांचवें दशक के प्रारंभ में केवल एक प्रकार की शुरुआत की गयी। स्वदेशी उत्पादन के लिए किस्म में सुधार तथा अन्य वस्तुओं के निर्माण में विस्तार की आवश्यकता थी जिसके लिए देश को आयात पर निर्भर रहना पड़ता था।

लौह एवं इस्पात

तीसरे दशक के बाद के वर्षों में पुनर्शस्त्रीकरण में वृद्धि के कारण इस्पात निर्माण उद्योग को अचानक पुनर्जीवन मिला। लेकिन भारतीय उद्योग अभी भी सीमित

और संकुचित था। यद्यपि टाटा उद्योग अपनी किशोर अवस्था में आ चुका था, मैसूर संयंत्र की क्षमता सीमित थी और प्रथम इस्पात सन् 1939 में ही बर्नपुर के 'स्टील कार्पोरेशन आफ बंगाल वर्क्स' में निर्मित किया गया था। तीनों ही इकाइयां विस्तार योजनाएं बना रही थीं लेकिन युद्ध के दबाव के कारण योजनाएं स्थगित करनी पड़ीं। इस प्रकार, यद्यपि युद्ध के दौरान तात्कालिक सुधार और नवीनीकरण के द्वारा काफी उच्च और अत्यधिक वैविध्यपूर्ण उत्पादन हुआ था, क्षमता में कोई विस्तार नहीं हुआ था और टाटा अभी भी सन् 1940-50 के दशक में इस्पात के अकेले बड़े निर्माता बने रहे।

तात्कालिक सुधार

'टाटा आयरन एंड स्टील कंपनी' (टिस्को) ने युद्ध से पूर्व दस लाख की क्षमता प्राप्त कर ली थी, और युद्ध दौरान के उत्पादन में इसमें नाममात्र को ही वृद्धि हुई, जैसा कि निम्न तालिका से देखा जा सकता है–

तालिका 7.15
युद्ध के दौरान इस्पात उत्पादन

वर्ष		*उत्पादित इस्पात पिंड (टनों में)*
1939-40	...	10,81,000
1941-42	...	10,84,000
1943-44	...	10,92,000

विद्युत भट्ठी इकाइयों तथा उच्च क्षमता की भट्ठियों की स्थापना से उत्पादन में वृद्धि हुई। पूरे तौर पर, प्रायः रखरखाव और उनके लंबे जीवन का विचार किये बगैर ही, उपकरणों का काफी विस्तार हुआ। लेकिन सीमित उत्पादन सुविधाओं के होते हुए युद्ध की सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति के कंपनी के प्रयत्नों, का संक्षिप्त पुनराकलन आवश्यक है। अच्छी किस्म के इस्पात से, जिसके लिए "टाटाज स्टील मेल्टिंग शाप नं. एक" प्रथम विश्वयुद्ध के समय से ही काफी प्रसिद्ध था, मध्यम मैंगनीज रेल इस्पात, उच्च कार्बन इस्पात, गहरा ड्राइंग किस्म का इस्पात, उच्च कार्बन इस्पात, उच्च सिलिकन इस्पात आदि का निर्माण संभव हो सका। सिलिकन इस्पात का निर्माण आश्चर्यजनक था। क्योंकि यह प्रायः आधुनिक विद्युत भट्ठियों में ही बन सकता था। सन् 1939 के प्रारंभ में, हावड़ा ब्रिज के निर्माण के लिए कंपनी ने हल्के मिश्र संरचनात्मक इस्पात का उत्पादन सफलतापूर्वक किया।

युद्ध छिड़ते ही, टाटा से मध्य पूर्व में भेजी जाने वाली बख्तरबंद गाड़ियों के निर्माण के लिए जरूरी बख्तर चद्दरों की सरकार की आवश्यकता को पूरा करने के लिए कहा गया। यह उत्पादन की बिल्कुल ही एक नयी और देश में अभी तक अनजान शाखा थी। काफी गहन शोध और प्रयोग के बाद कंपनी को इस प्रकार की महत्वपूर्ण युद्ध सामग्री के निर्माण में जो अंग्रेजी की आवश्यकता के अनुसार थी तीन महीने के समय में सफलता मिल सकी। शीघ्र ही, स्थानीय रूप से उपलब्ध सामग्री और तकनीकी पर पूर्ण रूप से आधारित एक संयंत्र की स्थापना की गयी जिससे 800 से 1,000 टन तक की तापानुशीतित चद्दरों का निर्माण प्रति माह किया जा सके। बुलेटप्रूफ इस्पात का जो कि बख्तरबंद गाड़ियों के लिए आवश्यक समझा गया, विकास भी सफलतापूर्वक किया गया। इस प्रकार 'टाटा नगर' को सरकार के लिए कंपनी द्वारा निर्मित बख्तरबंद गाड़ी की श्रेष्ठता का नाम प्रदान किया गया। टाटा कंपनी के आविष्कारात्मक कौशल का परिचय एक बार फिर मिला जब तक इन्होंने सफलतापूर्वक अच्छे किस्म की टकसाल डाई इस्पात का विकास किया। जैसे ही युद्ध ने तेजी पकड़ी, वैसे इस्पात का आयात भी असंभव होता गया, और परिणामस्वरूप छोटे सिक्कों की कमी हो गयी। टकसाल डाई इस्पात के बाद दूसरा कदम उपकरण इस्पात के लिए था और उपकरण इस्पात की मांग सरकारी विभागों, आयुध फैक्ट्रियों तथा इंजीनियरिंग संस्थानों की ओर से बढ़ती जा रही थी।

जमशेदपुर के रिसर्च और कण्ट्रोल लेबोरेटरी को युद्ध के दिनों में इन सबका तथा अन्य अनेक प्रकार के विकास का श्रेय प्राप्त था। मिश्रित इस्पात अपने अत्यधिक सामरिक महत्व, जैसे टंगस्टन उच्चस्तरीय इस्पात के कारण बंदूकों और गोला बारूद के निर्माण के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण था। लेकिन भारत के पास इसके लिए सीमित क्षमता थी। अतः इसे आयातित धातु मिश्रित टंगस्टन पर निर्भर रहना पड़ता था जो कि बहुत कम था। टाटा कंपनी ने बुलफ्रेम कच्चे लोहे से काफी मात्रा में उच्चस्तरीय धातु मिश्रित टंगस्टन बनाने में सफलता प्राप्त की।

कंपनी ने सन् 1941-42 में युद्ध साधन के रूप में पहियों, टायर और धुरा निर्माण संयंत्र लगाया। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान, इसने सरकार को आवश्यकतानुसार रेल पटरियां सप्लाई की थीं और अब, जबकि यूरोप से पहियों, धुरों और टायरों का आयात रोक दिया गया, डब्लू.टी.ए. संयंत्र ने रेलवे की आवश्यकताएं पूरी करनी शुरू कर दीं। इसे संभव बनाने के लिए, पेरिन प्रक्रिया, जो इस दौरान अम्लीय इस्पात के निर्माण में प्रयोग की जाती थी, को अब असंतोषजनक होने के कारण छोड़ना पड़ा और इसके स्थान पर ट्रिपलेक्स प्रक्रिया का सफलतापूर्वक उपयोग किया जाने लगा। यह संयंत्र देश में रेलवे इंजनों, डिब्बों, वैगनों के निर्माण में अग्रगामी सिद्ध हुआ।

युद्ध के दौरान तथा एकदम युद्धोपरांत के वर्षों में कंपनी के लाभांश में काफी वृद्धि हुई। सौभाग्यवश देश के विभाजन से भी उद्योग पर कोई दुष्प्रभाव नहीं हुआ। लाभांश के एक बहुत बड़े भाग को फिर से उत्पादन में विस्तार, लगातार नये नये आविष्कार तथा निर्माण के नये आयामों में लगाया गया। कार्यक्षमता को प्रायः बरकरार रखा गया, यद्यपि उसमें सुधार नहीं हुआ। लेकिन उपकरणों की टूट फूट, आशा के प्रतिकूल अधिक तेजी से हुई। कंपनी के सन् 1940-41 से सन् 1947-48 तक के क्रिया कलापों के परिणाम संक्षिप्त रूप से तालिका संख्या 7.16 में दिये गये हैं। तुलना की दृष्टि से, पहले के पांच वर्षों के आंकड़े भी तालिका में दिये गये हैं।

तालिका 7.16
इस्पात उद्योग में उत्पादनशीलता
(वार्षिक औसत मूल्य)

समयावधि	*तैयार इस्पात का उत्पादन ('000 टन)*	*कुल लागत लागत (करोड़ रुपयों में)*	*कुल लाभ लाभ (करोड़ रुपयों मे)*	*प्रति व्यक्ति उत्पादन (टनों में)*	*कुल लागत प्रति टन (करोड़ रुपयों में)*	*लाभ प्रति टन (करोड़ रुपयों में)*
1935-36 से 1939-40	701 4	30.20	3.58	36.32	43.15	5.10
1940-41 से 1947-48	767.8	33.70	6.93	35.23	43.77	9 03

टाटा कंपनी की उत्पादन क्षमता अनेक दशकों तक दस लाख टन तक स्थिर रही और आर्थिक मंदी के निराशा भरे दिनों में अथवा युद्ध वर्षों के उलझन भरे दिनों में विस्तार की कोई बात सोची नहीं जा सकी। युद्धोपरांत के तुर ।त के वर्षों में संयंत्र की क्षमता में वृद्धि करने के प्रस्ताव थे लेकिन उन सभी को पूंजी के अभाव में स्थगित करना पड़ा। लेकिन फिर भी, मशीनों की टूट फूट को ठीक करने की आवश्यकता मे विलंब नहीं किया जा सकता था। अतः सन् 1951 में सीमित रूप में आधुनिकीकरण तथा विस्तार का कार्यक्रम शुरू किया गया।

जहां देश में इस्पात उत्पादन के क्षेत्र में अपना वास्तविक वर्चस्व बनाये रखा, वहां टाटा स्टील ने सहभागी औद्योगिक क्षेत्र में प्रचुर मात्रा में उत्पन्न करने की अपनी नीति को जोर शोर से चलाये रखा, जिससे इसका ऊर्मिका प्रभाव अधिक ध्वनित रहे। युद्ध वर्षों मे, एक और टाटा प्रतिष्ठान, 76.5 करोड़ रुपये से "टाटा इंजीनियरिंग एंड लोकोमोटिव कंपनी" शुरू किया गया और युद्ध के बाद, देश में सबसे बड़ा ट्यूब निर्माण संयंत्र इंडियन ट्यूब कंपनी शुरू किया गया।

अवरोधन (रिटेंशन) मूल्य

यदि युद्ध के वर्षों में संरक्षण का विषय अधिक उत्तेजित करता रहा, तो दूसरे विश्वयुद्ध और युद्धोपरांत के वर्षों में मूल्य नियंत्रण तथा इस्पात वितरण विषयों की प्रधानता रही। दोनों ही मामलों में, उद्योग को 'उचित मूल्य' के आश्वासन का प्रश्न, प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तरीके से घेरे हुए था। प्रारंभ में, सरकार और टाटा स्टील कंपनी के मध्य अनौपचारिक समझौतों के माध्यम से नियंत्रण लगाये गये थे। यह भी तय हुआ था कि सरकार को की जाने वाली सप्लाई के लिए मूल्य निर्धारण, सितंबर 1939 के मूल्य स्तर पर तथा निर्दिष्ट स्थान पर सप्लाई (एफ.ओ.आर.) के आधार पर किया जायेगा तथा इन मूल्यों की प्रत्येक छठे महीने समीक्षा की जायेगी जिससे लागत में समय समय पर होने वाले अंतर को समाप्त किया जा सके। 'स्टील कार्पोरेशन ऑफ बंगाल' (स्कोब) भी जिसने सन् 1942 में उत्पादन प्रारंभ किया इस समझौते को मान गयी। इस प्रकार तय की गयी कीमतें नागरिक आपूर्ति में वसूली कीमतों से काफी कम थी। अगस्त 1941 में इस्पात कीमतों पर वैधानिक नियंत्रण लगा दिया गया। "आयरन एंड स्टील कंट्रोलर" को सभी प्रकार के इस्पात का मूल्य निर्धारण, इस्पात अधिकरण, तथा लोहा इस्पात निर्माण के लिए नयी उत्पादन क्षमता वृद्धि के नियमन का अधिकार दे दिया गया। युद्ध के दिनों में 'डिफेंस आफ इंडिया एक्ट एंड रूल्स' के अंतर्गत तथा सन् 1946 में इसकी समाप्ति पर 'एसेंशियल सप्लाइज़ एक्ट' के अन्तर्गत मूल्यों पर नियंत्रण लगाया गया। प्रारंभ में नागरिक आपूर्ति की कीमतों पर कोई नियंत्रण नहीं था लेकिन सन् 1944 के बाद युद्ध तथा नागरिक आपूर्ति के लिए अलग-अलग अवरोधन मूल्य निश्चित किये गये। 1 अप्रैल 1946 से सभी सप्लाई के लिए समान अवरोधन मूल्य निश्चित किये गये।

सन् 1943 में 'स्टील इक्वलाइजेशन फंड' की स्थापना की गयी जिससे कि उत्पादक तथा स्टॉक स्वामी स्वदेशी तथा आयातित इस्पात को, औसत समान मूल्य पर बेच सके। इस प्रकार, उत्पादकों का 'अवरोधन मूल्य' उपभोक्ताओं से लिये गये मूल्य से भिन्न था। अवरोधन मूल्य टैरिफ बोर्ड की सिफारिश पर तय किया गया था। विक्रय मूल्य, 'आयरन एंड स्टील कंट्रोलर' ने अन्य उद्देश्यों के लिए 'इक्वलाइजेशन फंड' पर की गयी मांग के आधार पर तय किया था। आयातित इस्पात काफी महंगा था, और इस कारण से, औसत समान मूल्य, अवरोध मूल्य से काफी ऊंचे थे। दोनों के अंतर को सरचार्ज के नाम से लेकर इक्वलाइजेशन फण्ड में जमा किया जाता था। यह फंड उद्योग के क्षेत्रीयकरण के कार्य में भी काफी उपयोगी, सिद्ध हुआ क्योंकि इससे सभी बड़े बंदरगाहों पर इस्पात का एक समान विक्रय मूल्य तय करना संभव हो सका। युद्ध के दौरान

तथा युद्ध के फौरन बाद के वर्षों में, सरचार्ज बहुत अधिक था और 400/- रुपये प्रति टन तक पहुंच गया जो कि भारतीय इस्पात के तुलनात्मक रूप में सस्ता होने का सूचक था।

शुरू शुरू में अवरोधन मूल्य तदर्थ आधार पर तय किये गये थे क्योंकि युद्ध की समाप्ति से पहले इस्पात की कीमतों में व्यवस्थित रूप से जांच पड़ताल करना संभव नहीं था। 'आयरन एंड स्टील (मेजर) पैनल 1946' ने सुझाव दिया कि इस्पात की कीमतें, आयातित इस्पात की कीमतों से संबंधित करने की लागत मूल्य पर आधारित होनी चाहिए। इसमें अवमूल्यन की अच्छी छूट तथा निवेश पर पर्याप्त लाभ भी शामिल हो जिससे उद्योग की क्षमता ठीक रहे तथा विस्तार के लिए अच्छी खासी पूंजी मिल सके। इस्पात के दो बड़े उत्पादकों, टिस्को तथा स्कोब, ने उत्पादन मूल्यों में वृद्धि के कारण सरकार से अधिक ऊंचा अवरोधन मूल्य निश्चित करने का अनुरोध किया। इसी दौरान टैरिफ बोर्ड इस्पात उद्योग को संरक्षण जारी रखने के प्रश्न की जांच कर रहा था और सरकार ने अधिक ऊंचे अवरोधन मूल्य के मामले को भी बोर्ड को सौंप दिया।

बोर्ड ने सन् 1949 में, टिस्को और स्कोब की विभिन्न लागत स्थितियों के कारण, अलग अलग अवरोधन मूल्यों की सिफारिश की। लेकिन सरकार ने दृष्टिकोण अपनाया कि विभिन्न मूल्यों से निर्माताओं के लिए परेशानियां हो जायेंगी, इसलिए सरकार को लागत वृद्धि की क्षतिपूर्ति करनी होगी और इससे कार्यक्षमता में वृद्धि तथा लागत में कमी करने का निर्माताओं का उत्साह और प्रलोभन समाप्त हो जायेगा। सरकार, इसके साथ साथ, मूल्य निर्धारण की प्रचलित प्रणाली में कोई मूलभूत परिवर्तन करना नही चाहती थी। इसलिए दोनों ही उत्पादकों के लिए समान अवरोधन मूल्य निश्चित किये गये जो दो वर्षों तक रहे। निर्धारित मूल्यों का औसत 252/- रुपये प्रति टन था जो पहले के अवरोधन मूल्यों से रुपये औसतन 18/- प्रति टन अधिक था।

भाग 3

नियोजन का युग

अध्याय 8

नियोजित औद्योगिकीकरण का युग

आधारभूत संरचना

नियोजन के गत चार दशकों के दौरान हुई औद्योगिक प्रगति पहले की एक शताब्दी के दौरान हुई प्रगति से बिल्कुल भिन्न है। पंचवर्षीय योजनाओं में निश्चित औद्योगिक विकास के कार्यक्रम इस राष्ट्रीय संकल्प के प्रतीक हैं कि राष्ट्रीय उद्देश्यों और विकास रणनीति के ढांचे के अंतर्गत ही औद्योगिकीकरण की गति को आगे बढ़ाना है। परिणामस्वरूप, आज हमारे पास अत्यधिक विकसित और विविधतापूर्ण औद्योगिक व्यवस्था है। इस अवधि में प्राप्त औद्योगिक उत्पादन की विकास दर चली आ रही विकास दर की तुलना में कहीं अधिक रही, यद्यपि यह प्रायः योजना में निश्चित किये गये लक्ष्यों से कम ही रही है। नये प्रकार के उद्योगों और उत्पादनों की नयी शृंखला उभरी है। इनमें ड्रग और फार्मेस्युटिकल, पैट्रोकैमिकल, इलैक्ट्रोनिक्स तथा अनेक प्रकार की मशीनें और उपकरण सम्मिलित हैं। इसके साथ साथ, पहले से विद्यमान उद्योगों में से कुछ का काफी विस्तार हुआ है। प्रथम पंचवर्षीय योजना से पूर्व पैट्रोलियम और तेल शोधक वस्तुओं तथा उर्वरकों का उत्पादन बहुत कम था। तब से इन उद्योगों ने भी काफी प्रगति की है। अन्य उद्योगों, जैसे कोयला, सीमेंट, इस्पात, शक्ति (बिजली) तथा उपभोक्ता के उपयोग की अनेकों वस्तुओं में भी काफी विस्तार हुआ है। औद्योगिक मूलभूत संरचना

में, जिसमें यातायात तथा संचार साधनों तथा वित्तीय संस्थान भी सम्मिलित हैं, काफी प्रगति हुई है जिससे विस्तृत और वैविध्यपूर्ण औद्योगिक आधार को बनाये रखा जा सके।

आगामी अध्यायों में बड़े उद्योगों के विकास की समीक्षा की गयी है। तथा सात पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से पूरे किये गये औद्योगिकीकरण के उद्देश्यों तथा स्थूल लक्ष्यों का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया है। इस अध्याय में सन् 1950 से हुए आधारभूत संरचनात्मक विकास की समीक्षा की गयी है।

निर्बाध तथा गतिशील विकास के लिए ऊर्जा–यातायात–संचार व्यवस्था अत्यधिक महत्वपूर्ण होती है। यह मान लिया गया है कि किसी भी पक्की विकास योजना में ऊर्जा–यातायात–संचार के तीव्र विकास को औद्योगिक अथवा आर्थिक क्षेत्र के विकास की तुलना में प्राथमिकता मिलनी चाहिए। जब भी कभी आधारभूत संरचना का अभाव तथा उपेक्षा अन्य क्षेत्रों के विकास में बहुत बड़े अवरोध के रूप में सामने आयी है। इस दृष्टिकोण की उपयोगिता हमें अनेक बार महसूस हुई है।

ऊर्जा

सन् 1973-74 में तेल की कीमतों में हुई वृद्धि से आये ऊर्जा संकट ने एक व्यापक ऊर्जा नीति की आवश्यकता को रेखांकित किया जिससे देश में ऊर्जा उपभोग का नियमन, ऊर्जा संसाधनों का उचित उपयोग तथा नष्टप्राय ऊर्जा भंडारों का संरक्षण किया जा सके। देश में प्रति व्यक्ति ऊर्जा खपत की दर काफी कम है और प्रतिबंधित ऊर्जा नीति वास्तव में देश के सामने एक संकट खड़ा कर सकती है। इसलिए ऊर्जा खपत का विस्तार सोच विचार कर, दुर्लभ संसाधनों के विकल्पों पर बल देते हुए किया जाना चाहिए जैसे तेल के बजाय अधिक मात्रा में प्राप्त साधनों यथा कोयला और जल विद्युत शक्ति का उपयोग देश में उपलब्ध ऊर्जा का अधिकांश भाग अव्यावसायिक संसाधनों जैसे लकड़ी, गोबर आदि से मिलता है। इन संसाधनों की सीमा के बारे में कुछ मालूम नहीं है। फिर भी, यह अनुमान लगाया जाता है कि देश में व्यावसायिक ऊर्जा खपत का लगभग आधा भाग इससे मिलता है तथा शेष भाग कोयले और बिजली से लगभग आधी आधी मात्रा में मिलता है।

कोयला

पहले कोयला ऊर्जा का मुख्य स्रोत रहा है। तेल की आपूर्ति में कठिनाइयों को देखते हुए यह देश में ऊर्जा के एक मुख्य स्रोत के रूप में बना रहेगा। सुविधा

के कारण विद्युत को निश्चित ही प्राथमिकता मिलती रहेगी। लेकिन एक बार फिर इसे मुख्यतः कोयले पर आधारित रहना पड़ेगा। इस प्रकार कोयला अनेक वर्षों तक हमारी ऊर्जा नीति में अहम भूमिका निभायेगा।

कोयले का उत्पादन प्रथम पंचवर्षीय योजना के प्रारंभ के लगभग 3.5 करोड़ टन से बढ़कर सन् 1986-87 में 17 करोड़ 54 लाख टन (लिगनाइट को मिलाकर) हो गया था। प्रथम और दूसरी योजना के लक्ष्य काफी सीमा तक पूरे हो गये थे। फिर भी, तीसरी और चौथी योजना में बहुत कमियां थीं। तीसरी योजना का लक्ष्य 9 करोड़ 70 लाख टन था लेकिन उपलब्धि केवल 6 करोड़ 80 लाख टन थी। इसी प्रकार, चौथी योजना की 7 करोड़ 80 लाख टन की उपलब्धि लक्ष्य से लगभग 1 करोड़ 50 लाख टन कम थी। पांचवीं योजना में सन् 1978-79 तक 13 करोड़ 50 लाख टन को उत्पादन लक्ष्य रखा गया। उपलब्धि लक्ष्य से लगभग 3 करोड़ टन कम रही है। छठी योजना की उपलब्धि में लगभग 1 करोड़ 8 लाख टन की कमी रही।

इस प्रकार कोयले का उत्पादन एक योजना से दूसरी योजना तक बढ़ता रहा है लेकिन लक्ष्य पूरे नहीं हुए थे, सिवाय हाल के वर्षों में। इसका कारण उत्पादन वृद्धि में कठिनाइयां नहीं थीं वरन कोयला उपभोक्ता क्षेत्रों का विकास योजनानुसार न हो सकता था। सन् 1966-67 की मंदी के कारण तथा शक्ति और इस्पात संयंत्रों के निर्माण में काफी देरी के कारण रेलवे की क्षमता के विकास में भी कमी आयी थी। यह ध्यान देने की बात है कि 9 करोड़ 70 लाख टन का तीसरी योजना का लक्ष्य 8 वर्ष बाद सन् 1973-74 के लिए पर्याप्त से भी अधिक समझा गया। पीछे मुड़कर देखने से मालूम होगा कि यह अनुमान भी अधिक ही था। पांचवीं योजना की अवधि के दौरान कोयले की मांग एक बार फिर कम हो गयी। सन् 1976-77 के अंत तक 1 करोड़ 46 लाख टन तक का भंडार इकट्ठा हो गया। लेकिन बाद के वर्षों में स्थिति सुधरी। बिजली की कमी, श्रम असंतोष, विस्फोटकों का अभाव आदि के कारण कोयला उत्पादन को धक्का लगा। इस प्रकार हुई कोयले की कमी ने औद्योगिक उत्पादन को बुरी तरह से प्रभावित किया है।

कोयले की खपत के तरीकों में भी काफी परिवर्तन हुए हैं। पांचवें दशक के मध्य तक रेलवे विभाग ही सबसे बड़ा उपभोक्ता था जहां पूरे कोयले के एक तिहाई से भी अधिक की खपत थी। लेकिन डीजल के प्रयोग और विद्युतीकरण के कारण रेलवे की खपत कम होती जा रही है। दूसरी ओर, इस्पात उद्योग में तथा बिजली उत्पादन के लिए कोयले का उपयोग बढ़ा है। सन् 1984-85 में बिजली उत्पादन में कुल कोयले का लगभग 45 प्रतिशत काम में आया, इसके बाद इस्पात उद्योग में 17 प्रतिशत तथा ईंट उद्योग में 9 प्रतिशत के लगभग।

कोकिंग कोयले में भारत का भंडार सीमित है। पहले, विकासमान इस्पात उद्योग के अभाव में, अच्छी गुणवत्ता का उत्पादित कोकिंग कोयले का भी रेलवे में उपयोग हो रहा था। अब, इन सीमित संसाधनों का संरक्षण तथा उत्पादित कोयले का सर्वोत्तम उपयोग करना अत्यधिक महत्वपूर्ण हो गया है।

दूसरी योजना में इस्पात, बिजली और रेलवे के महत्वाकांक्षी लक्ष्यों को देखते हुए, ऊंचे स्तर पर कोयले का विकास करना आवश्यक समझा गया। यह समझा गया कि कोयला उत्पादन कार्यक्रम में वृद्धि केवल सार्वजनिक क्षेत्र में कोयला खानों के विस्तार से ही संभव है। इसके अतिरिक्त अधिक, 'इंडस्ट्रियल पालिसी रिजोल्यूशन' के अनुसार निजी क्षेत्र में कोई भी नयी कोयला खान खोदने की अनुमति नहीं है। इसलिए नेशनल कोल डवलपमेंट कार्पोरेशन की स्थापना नये कोयले कार्यक्रम की संगठनात्मक आवश्यकताओं में सुधार लाने के उद्देश्य से की गयी। सार्वजनिक क्षेत्र में कोयला उत्पादन के विस्तार के परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र का भाग सन् 1955 के 12 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1965-66 में 23 प्रतिशत हो गया। सातवें दशक के प्रारंभ में यह निश्चित किया गया कि कोयला उद्योग को पूर्णतः सार्वजनिक क्षेत्र में ले लिया जाये। एन.सी.डी.सी. अब कोल इंडिया बन गयी जो अब देश में उत्पन्न सारे कोयले के उत्पादन के लिए उत्तरदायी है। फिर भी, राष्ट्रीयकरण के प्रमुख लक्ष्यों को पूरा करना अभी शेष है।

सातवीं योजना में कोयला आपूर्ति से अवरोध उत्पन्न नहीं हुआ क्योंकि ऊर्जा परियोजनाओं में रुकावट, इस्पात उद्योग के लिए कोकिंग कोयले का आयात, गर्म धातु के उत्पादन में कमी तथा रेलवे द्वारा मांग में गिरावट के कारण इसकी मांग में कमी आयी थी। इसी समय कोयला परियोजनाओं में भी रुकावटें आयीं जिसका प्रभाव योजना के बाद के वर्षों में उत्पादन पर पड़ेगा। इस कारण कुछ आयात भी आवश्यक हो जायेगा तथा भंडार में भी कमी होगी। सबसे गंभीर समस्या गुणवत्ता की है। अत्यधिक राख (ऐश) तत्व तथा बाहरी पदार्थ ऐसी समस्याएं हैं जिनका अभी निराकरण होना है।

विद्युत

गतिशील औद्योगिक विकास के लिए सस्ती, सरल और भरोसेमंद ऊर्जा की महत्ता बिल्कुल स्पष्ट है और इस बात को महसूस करते हुए हमारी योजनाओं में ऊर्जा विकास के प्रावधान में कोई कमी नहीं रखी गयी। इस क्षेत्र में, सन् 1950 से ही, यद्यपि सदैव पर्याप्त नहीं, तब भी काफी प्रभावशाली प्रगति हुई। कुल प्रतिस्थापित बिजली क्षमता सन् 1950 की 2300 मेगावाट से बीस गुणा बढ़कर सन् 1984-85 में लगभग 48,000 मेगावाट तक हो गयी। इसी दौरान, प्रति व्यक्ति

बिजली खपत सन् 1950-51 में 14 इकाई से बढ़कर 250 इकाई से भी ऊपर हो गयी। विद्युतीकृत गांवों की संख्या सन् 1950-51 में 3,061 से बढ़कर लगभग 3.7 लाख गांवों तक पहुंच गयी।

क्षमता में यह अभूतपूर्व वृद्धि पहली पंचवर्षीय योजना के समय से अनेक विशाल बहुउद्देश्यीय तथा शक्ति परियोजनाओं के पूरा होने से संभव हो सकी। बहुउद्देश्यीय में दामोदर घाटी निगम (डी.बी.सी.) भाखड़ा नांगल, तुंगभद्रा तथा हीराकुड आदि योजना से पहले की हैं तथा चंबल, रिहंद, कोयना और नागार्जुनसागर, योजना के दौरान बनायी गयी थी। इनमें से कुछ सन् 1957-58 में अनुभव की गयी विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों तथा निर्माण संबंधी देरी के कारण निश्चित समय पर पूरी नहीं हो सकीं। परिणामस्वरूप, दूसरी योजना के अंतिम चरण में बिजली की कमी की गंभीर आशंका हो गयी थी। ऐसी स्थिति से निबटने के लिए योजना आयोग ने बिजली को 'कोर प्रोजेक्ट' की सूची में सम्मिलित किया तथा बिजली उत्पादन के लिए अग्रिम नियोजन का प्रावधान किया। कोयला उत्पादित क्षेत्रों तथा पूर्वी क्षेत्रों और (बाद में सन् 1965-66 के दौरान) तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश और केरल में बिजली की कमी को दूर करने के लिए विशेष योजनाएं बनायी गयीं।

सन् 1962 और सन् 1965 के युद्ध संघर्षों ने बिजली उत्पादन के कार्यक्रमों को अन्य सभी योजनाओं के कार्यक्रमों की भांति प्रभावित किया और आपूर्ति स्थिति में धीरे धीरे गिरावट आयी। सन् 1966 की मंदी के बाद मांग में भी कमी आयी तथा पूर्ति और आवश्यकता के बीच के अंतर में कमी आयी। फिर भी, जल्दी ही गंभीर रूप से फिर से कमी हो गयी और हाल ही के वर्षों में यह असाध्य हो गयी है। इसके कुछ कारण हैं—निर्माताओ द्वारा उपकरणों के देने में देरी, राज्य सरकार से विद्युत बोर्डों को मिलने वाली धन राशि पर प्रतिबंध, तथा विद्युत में संगठनात्मक कमजोरियां जिसके परिणाम हैं—परियोजनाओं का गलत प्रतिपादन एवं क्रियान्वयन।

अंतर्राज्य ग्रिडों की स्थापना करके क्षेत्रीय कमी को ठीक करने का प्रयत्न किया गया। इस दिशा में हुई प्रगति काफी आशाप्रद रही। परिणामस्वरूप पिछले तीन दशकों में उत्पादन क्षमता में न केवल विस्तार हुआ वरन् देश की शक्ति व्यवस्था में स्थानीय क्षेत्रों की सप्लाई करने वाले छुटपुट स्टेशनों से लेकर सुविकसित व्यवस्था और देशव्यापी ग्रिडों तक काफी विकास हुआ। क्षेत्रीय स्तरों पर बिजली व्यवस्था को विकसित करने की दृष्टि से क्षेत्रीय विद्युत बोर्ड अस्तित्व में आये। अंतर्राज्य तथा अंतर्क्षेत्रीय लाइनों के निर्माण में भी प्रगति हुई। लेकिन संप्रेषण और वितरण व्यवस्था का विकास कुछ क्षेत्रों में हुई उत्पादन सुविधाओं के विस्तार के अनुसार नहीं हुआ।

गत वर्षों में बिजली शक्ति के संसाधनों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। तापीय शक्ति का वर्चस्व, जो सन् 1960 तक था, आने वाले वर्षों में समाप्त होता चला गया जैसे जैसे प्रमुख जल संयंत्र चालू किये गये। लेकिन हाल ही के वर्षों में जलविद्युत के विस्तार की गति में भी कमी हुई है। यह आशा की जाती है कि आगामी वर्षों में तापीयशक्ति के भाग में सन् 1984-85 के 64 प्रतिशत से सन् 1989-90 में 67 प्रतिशत तक वृद्धि होगी।

आदर्श रूप में, जोर जलीय विद्युत पर होना चाहिये क्योंकि यह ऐसा संसाधन है जिसकी पुनःपूर्ति हो सकती है और क्षमता का 80 प्रतिशत अभी तक उपयोग में नहीं लाया गया है तथापि, जलीय शक्ति की संभावना का पूर्ण उपयोग उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी क्षेत्रों जैसे कठिन स्थानों में होना शेष है। इसके अतिरिक्त जल संयंत्र पूरा होने में काफी समय लग जाता है। इसलिए, राष्ट्र के सामने कोयले पर आधारित शक्ति उत्पादन ही विकल्प बचता है। इसी कारण कोयला खानों के समीप विशाल क्षमता के उच्च शक्ति तापघर की स्थापना का निश्चय किया गया। इसे अनुकूल स्थानीकरण तथा सस्ती परत के लाभ के कारण सस्ती बिजली उत्पादन की आशा की जाती है। इन स्टेशनों की योजना तथा निर्माण के कारण सन् 1975 में नेशनल थर्मल पावर कार्पोरेशन की स्थापना की गयी। सिंगरौली, कोरवा, फरक्का, रामगुंडम और नेवयोंली स्थानों पर सुपरथर्मल स्टेशन शुरू हो चुके हैं।

तापीय शक्ति

तापीय शक्ति कुल आपूर्ति का केवल 2 प्रतिशत होता है। तारापुर तथा राणा प्रताप सागर के वर्तमान आणविक शक्ति केंद्रों के अतिरिक्त कलपक्कम तथा नरोरा आणविक शक्ति केंद्र सातवीं योजना में शुरू किये गये। आणविक शक्ति संयंत्रों की कुल विस्थापित क्षमता सन् 1984-85 की 995 मेगावाट से बढ़कर सन् 1989-90 में 1705 मेगावाट होने की आशा है।

वास्तव में चेर्नोबिल तथा लांग आइलैंड की भीषण दुर्घटनाओं के बाद पूरे विश्व में नये आणविक केंद्र बनाने तथा पहले से बने संयंत्रों को चालू रखने की बुद्धिमत्ता पर पुनर्विचार चल रहा है। भयंकर, जोखिम, जो इन संयंत्रों के साथ जुड़ी है, के अतिरिक्त तापीय ऊर्जा की लागत अमीर देशों के लिए भी, बहुत अधिक आंकी गयी है। यह एक गौरव की बात है कि भारत ने आणविक शक्ति संयंत्रों के डिज़ाइन निर्माण तथा संचालन की योग्यता प्राप्त की है। लेकिन आने वाले वर्षों में तापीय शक्ति की भूमिका हमारे सामने प्रश्नचिह्न बनकर खड़ी है।

शेष बचे विषय

क्षमता की उत्पत्ति तथा उत्पादन मोटे तौर पर उसी तरह की रही है जैसे कि सातवीं योजना में निर्धारित की गयी थी। फिर भी, योजना का लक्ष्य सन् 1990 तक की कुल मांग को पूरा करने का रहा है न कि सर्वाधिक मांग को पूरा करने का। इसलिए क्षेत्रीय कमी तथा सर्वाधिक मांग के समय कमी बनी रहेगी यद्यपि धीरे धीरे इस कमी की मात्रा को घटाने की आशा है।

फिर भी, कुछ ऐसे मूलभूत मुद्दे हैं जिनका समाधान होना है और जिनमें से कुछ काफी पुराने हो चुके हैं। प्लांट लोड फैक्टर (पी.एल.एफ.) निस्संदेह सन् 1984-85 के 50.1 प्रतिशत से बढ़कर सन् 1986-87 में 53.2 प्रतिशत हो गया है। लेकिन इसमें और अधिक विकास की काफी गुंजाइश है। परियोजना के निष्पादन, क्रियान्वयन, प्रबंधन तथा रख रखाव की गुणवत्ता की दृष्टि से काफी कुछ करना है। प्रेषण तथा वितरण के नुकसान मात्रा में काफी अधिक तथा निरंतर अधिक हो रहे हैं। इनका प्रतिशत 22 तक पहुंच गया। प्रेषण तथा वितरण पिछले वर्षों में उपेक्षित भी रहे हैं क्योंकि क्षमता बढ़ाने या लगाने पर ही अधिक जोर रहा है।

सातवीं योजना में राज्य विद्युत बोर्डों का वाणिज्यिक नुकसान 11,757 करोड़ रुपये तक दिखाया गया है। ये नुकसान कुछ कारणों का सम्मिलित परिणाम है—जैसे अतार्किक बिजली दरें, राज्य विद्युत बोर्डों पर डाले गये वित्तीय ढांचे की अक्षमता, तथा पुरानी एवं अकुशल संगठनात्मक व्यवस्था। इन सभी समस्याओं का डट कर मुकाबला करना होगा यदि राज्य बोर्डों, तथा शक्ति संगठनों को वर्तमान भंवर से निकालना है।

पेट्रोलियम

तेल और पेट्रोलियम उद्योग नियोजन युग की एक 'खोज' कही जानी चाहिए। न केवल देश में व्यावसायिक मात्रा में तेल उपलब्धि की निराशा गलत सिद्ध हुई वरन् एक दशक (सन् 1958-68) के समय में ही तेल खुदाई के काम ने विश्वसनीयता और तेल उद्योग ने सम्मानजनक स्थिति प्राप्त की। कच्चे तेल का उत्पादन, जो दशकों तक केवल चार लाख टन तक स्थिर था, तीसरी पंचवर्षीय योजना में सात आठ गुना हो गया और एक बार फिर बाद के चार वर्षों में दुगुना हो गया। सन् 1955-56 तथा सन् 1968-69 के मध्य तेल शोधक क्षमता तथा पेट्रोलियम उत्पादों के उत्पादन का भी विस्तार साढ़े चार गुणा से भी अधिक हुआ।

दूसरी योजना में तेल संसाधनों की खोज तथा विकास पर विशेष ध्यान दिया गया। तेल और प्राकृतिक गैस आयोग की स्थापना भूगर्भीय सर्वेक्षणों अनुसंधानों

और तेल कुओं की खुदाई के उद्देश्य से की गयी। कोलंबो योजना के अंतर्गत कनाडा की तकनीकी सहायता से किये गये खुदाई कार्य में कोई सफलता नहीं मिली थी। पश्चिमी बंगाल की तलहटी में खुदाई करने के उद्देश्य से स्थापित 'इंडो स्टेन्वेक पेट्रोलियम प्रोजेक्ट' भी निष्फल रहा। देश में तेल मिलने के आसार फीके पड़ने लगे। लेकिन इसके बाद सोवियत संघ के तकनीकी सहयोग का समय आया, जो देश में तेल उपलब्धि के मानचित्र को चमत्कारिक रूप से बदलने में महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ। दूसरी योजना के अंतर्गत आयोग के काम के परिणामस्वरूप गुजरात के खंभात अंकलेश्वर तथा असम के शिवसागर क्षेत्र में तेल की खोज में सफलता मिली।

इसी दौरान 'असम आयल कंपनी' ने असम के नहर कटिया स्थान में तेल ढूंढा और सन् 1955 में असम आयल कंपनी, बर्मा आयल कम्पनी तथा भारत सरकार ने एक संयुक्त संस्थान, 'आयल इंडिया' की स्थापना इन संसाधनों के उपयोग के लिए की। उपलब्ध कच्चा तेल सार्वजनिक क्षेत्र की दो तेल शोधक इकाइयों–असम में गुवाहाटी और बिहार में बरौनी को दिया जाना था।

इस सफलता के परिणामस्वरूप, तेल का उत्पादन सन् 1961 के पांच लाख टन से, एकदम बढ़कर तीसरी योजना के अंत तक 56 लाख टन हो गया। लेकिन एक बार फिर तेल के नये भंडारों की खोज की संभावना मंद पड़ने लगी। यद्यपि सोवियत संघ का सहयोग प्रारंभ में काफी लाभप्रद रहा, लेकिन इससे लगता है कि भंडारों के बारे में झूठी आशा दे दी थी। कुछ उपलब्ध कुंओं की खुदाई आवश्यकता से अधिक की गयी। सन् 1967 के दौरान आयोग ने बंबई के समीप अपतटीय क्षेत्रों में विशाल संभावित स्थानों का निर्माण किया। तथापि, यह केवल पांचवीं योजना के दौरान ही था कि आयोग के अपतटीय शोध के कारण बंबई हाई में तेल उपलब्धि की सफलता मिली। इसी क्षेत्र के साउथ बेसिन में अच्छे खासे आकार का गैस क्षेत्र मिला। बंबई हाई ने देश के तेल उद्योग में काफी नयी आशा जगायी। देश में कुल तेल उत्पादन सन् 1965-66 तथा सन् 1977-78 के बीच दुगुना तथा सन् 1984-85 तक 290 लाख टन तक यानी तिगुना हो गया है। यदि गैर पुनर्नवीकरण के योग्य संसाधनों के संरक्षण की नीति न होती, तो स्वदेशी तेल उत्पादन की गति और तेज हो सकती थी।

तेल शोधन

तेल शोधन की क्षमता भी अब निरंतर प्रगति पर है। गुवाहाटी और बरौनी, शुरू की जाने वाली प्रथम इकाइयां थीं। कोयली तेल शोधन इकाई तीसरी योजना में स्थापित हुई थी और कोचीन तेल शोधन इकाई इसके बाद। चौथी योजना

में मद्रास तेल शोधन इकाई शुरू हुई और पुरानी इकाइयों की कुल क्षमता में विस्तार हुआ। इसके परिणामस्वरूप योजना के अंत तक तेल शोधन की क्षमता 160 लाख टन से बढ़कर 210 लाख टन हो गयी। पांचवीं योजना के दौरान हल्दिया की नयी इकाई जुड़ी और बरौनी तथा कोयली का विस्तार हुआ। छठी योजना में तेल शोधन की क्षमता में अप्रत्याशित वृद्धि हुई तथा मथुरा और बोंगाई गांव में नयी इकाइयों के आ जाने से तथा कोयली के विस्तार से देश की कुल क्षमता में 180 लाख टन की वृद्धि हुई। सातवीं योजना में तेल शोधन क्षमता 65 लाख टन से बढ़कर 520 लाख टन तक बढ़ने की आशा है।

पेट्रोलियम उत्पादों की खपत सन् 1956 की 50 लाख टन से अधिक से बढ़कर सन् 1973 में 24 लाख टन से अधिक तक अर्थात् लगभग पांच गुनी बढ़ी। बाद के वर्षों में तेल की कीमतों में अत्यधिक वृद्धि के कारण यह खपत इसी स्तर पर बनी रही। फिर भी सत्तर के अंत में मांग में वृद्धि हुई। सन् 1990 तक मांग 5 करोड़ 27 लाख होने की आशा है। इसका अर्थ होगा कि कच्चे तेल के आयात पर और अधिक विश्वास करना होगा। यह बात कोयले पर फिर से बल देते हुए एक समन्वित ऊर्जा नीति की आवश्यकता को रेखांकित करती है इसके साथ ही तेल खोज के प्रयत्नों को और अधिक वहन करने की आवश्यकता है। बंबई हाई तथा बेसिन उत्तर दक्षिण में मिली आरंभिक सफलता के बाद. इस क्षेत्र में संभावनाएं असीमित नहीं लगतीं। इस कारण से आयोग ने गुजरात, हिमाचल प्रदेश, उत्तरप्रदेश, पश्चिमी बंगाल, त्रिपुरा, आसाम और आंध्रप्रदेश में कुंओं की खुदाई का काम जारी रखकर अच्छा ही किया है। इन प्रयत्नों में सफलता हाल ही में मिली, जब बंगाल की खाड़ी और कृष्णा गोदावरी बेसिन में सबसे पहले तेल और गैस मिली। इस खोज ने भारत के पूर्वी तटों पर तेल मिलने की संभावनाएं बढ़ा दी हैं।

समस्याएं तथा संभावनाएं

विश्व के स्तर से देखे तो हमारे देश में ऊर्जा खपत काफी कम है। यह सकल घरेलू उत्पाद के विकास की तुलना में तेज़ी से बढ़ भी रही है। लेकिन विडंबना यह है कि खपत का बढ़ना हमारे लिए चिंता का विषय है क्योंकि हमारे संसाधन सीमित हैं। अन्य देशों की प्रवृत्ति के प्रतिकूल हमारे देश में तेल पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। सातवीं योजना में ऊर्जा खपत का विकास योजना में निर्धारित मात्रा के अनुसार ही हुआ है। लेकिन जैसाकि मध्यकालिक आकलन समिति ने देखा भारतीय अर्थव्यवस्था ऊर्जा आधारित ही रही है।

ऊर्जा संरक्षण की दिशा मे कुछ नहीं हो रहा है। अनुमानतः औद्योगिक क्षेत्र

में 25 प्रतिशत तथा परिवहन एवं कृषि क्षेत्र में 20 से 30 प्रतिशत ऊर्जा संरक्षण किया जा सकता है प्रेषण तथा वितरण में 21 प्रतिशत से अधिक की ऊर्जा हानि की चर्चा की जा चुकी है। अनुमान के अनुसार भंडारण तथा उपयोग के गलत तरीकों की वजह से हर वर्ष लगभग 80 लाख टन कोयला व्यर्थ जाता है, इसके अलावा, गलत नीतियां भी तर्कसंगत ऊर्जा प्रबंधन को प्रायः गलत सिद्ध कर देती हैं। सार्वजनिक परिवहन व्यवस्था पर जोर देने की घोषित नीति की तुलना में व्यक्तिगत परिवहन प्रणाली को प्रोत्साहन देना एक गलत कदम ही है।

और अंत में, ऊर्जा के वैकल्पिक स्रोतों की वास्तविक सामाजिक लागत को दर्शाते तर्कसंगत ऊर्जा, मूल्यों के निर्धारण की केवल बातें ही होती रही हैं काम कुछ नहीं हुआ है। आशा की जाती है कि योजना आयोग में तैयार किया जा रहा समन्वित ऊर्जा नमूना आठवीं योजना के बनाते समय उपलब्ध हो जायेगा तथा वह तर्कसंगत दीर्घकालीन ऊर्जा नीति के बनाने में सहायक होगा।

परिवहन

रेलवे

अर्थव्यवस्था के लिए परिवहन संरचना में रेलवे व्यवस्था एक अहम भूमिका अदा करती रही है और करती रहेगी। रेलवे नियोजन का मुख्य उद्देश्य यात्री तथा माल परिवहन को ढोना रहा है जिससे उत्पादन तथा अन्य आर्थिक क्रिया कलापों में कोई रुकावट न हो। इस सामान्य उद्देश्य के साथ साथ, रेलवे विस्तार का कार्यक्रम भी, समय समय पर होने वाली विशेष विकासात्मक समस्याओं से निबटने के उद्देश्य से रहा है।

जैसा कि हम पहले देख चुके हैं, प्रथम पंचवर्षीय योजना का दृष्टिकोण पुनर्स्थापना तथा आधुनिकीकरण का रहा है। दूसरी पंचवर्षीय योजना में, रेलवे व्यवस्था में नये इस्पात संयंत्रों तथा कोयले के अधिक उत्पादन की आवश्यकताओं के अनुसार तेज़ी लानी पड़ी। तीसरी पंचवर्षीय योजना में क्षमता को और अधिक बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता समझी गयी जिससे यह हमेशा परिवहन की मांग होने से पहले ही तैयार रहे। चौथी पंचवर्षीय योजना में रेलवे विकास का मौलिक उद्देश्य रेलवे का आधुनिकीकरण था जिससे इसकी कार्यकुशलता में सुधार हो सके। पांचवीं पंचवर्षीय योजना ने विद्यमान रेल लाइनों तथा गाड़ियों की बेहतर उपयोगिता तथा ब्लाक रेकों के अधिकतम लाने ले जाने तथा परिभ्रमण समय में कमी के माध्यम से और अधिक संचालन कार्य कुशलता की आवश्यकता पर बल दिया। इसलिए पांचवीं पंचवर्षीय योजना ने रेलवे व्यवस्था

के विस्तार की अपेक्षा वर्तमान क्षमता में सुधार के लिये निवेश का प्रावधान किया। यह आशा की जाती थी कि वर्तमान क्षमता के बेहतर उपयोग तथा आधुनिकीकरण से परिवहन मांग की पूर्ति हो जायेगी।

परिणामस्वरूप, प्रथम पंचवर्षीय योजना से नयी लाइनों के बारे में नीति अत्यधिक रूढ़िवादी रही हैं। नयी लाइनें जो भी बनायी गयीं वे संचालन की दृष्टि से अथवा नयी औद्योगिक परियोजनाओं के कारण उचित थीं। यहां यह ध्यान देना उचित होगा कि दूसरी और तीसरी योजना में रेलवे के कुल निवेश का लगभग 40 प्रतिशत वर्तमान लाइनों को सुदृढ़ बनाने के लिए 50 प्रतिशत रेल डिब्बों में वृद्धि करने के लिए तथा 10 प्रतिशत नयी रेलवे लाइनों के लिए था। इसलिए रेलवे लाइनों की लंबाई एक प्रकार से उतनी ही रही है जबकि अन्य दिशाओं में विस्तार हुआ है। इस प्रकार रेलवे पथ लंबाई, जो सन् 1951 के 54,000 किलोमीटर से बढ़कर आगामी दो दशकों में 60,000 कि.मी. से भी अधिक हो गयी थी, अब वहीं रुक गयी थी। दूसरी ओर, लाइनों का दोहरीकरण सन् 1950-51 के 5100 कि.मी. से बढ़कर सन् 1978-79 में 13,000 कि.मी. किया गया। डीजलीकरण (छठे दशक के शुरू में चलाया गया) 19,200 कि.मी. तक विस्तृत किया गया, तथा लाइनों का विद्युतीकरण 400 कि.मी. से 5,000 कि. मी. तक बढ़ाया गया। छोटी लाइनों को बड़ी लाइनों में बदलने के कार्य में गति आयी और सन् 1968-69 तक 50 प्रतिशत बड़ी लाइनें हो गयी थीं। आने वाले वर्षों में यह अनुपात मोटे तौर पर ज्यों का त्यों रहा।

रेलवे के भंडारों में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई और इसके रूप रंग में भी तेजी से परिवर्तन हुए जो रेलवे व्यवस्था में टेक्नोलौजिकल परिवर्तनों का संकेत था। डीज़लीकरण की दिशा में की गयी प्रगति और हाल ही में, विद्युतीकरण, भाप इंजनों के स्थान पर डीजल और विद्युत इंजनों की बढ़ती प्रमुखता में स्पष्ट हो जाती है। डीजल इंजन सन् 1950-51 में केवल 89 थे, सन् 1978-79 में यह संख्या 3070 हो गयी। इसके विपरीत, भाप इंजनों की संख्या सन् 1965-66 से धीरे-धीरे घटती जा रही है यद्यपि ये इंजन कुल संख्या का काफी बड़ा हिस्सा है। इनकी संख्या सन् 1950-51 की 8120 से बढ़कर 1965-66 में 10,613 हो गयी तथा इसके बाद धीरे धीरे घट कर सन् 1978-79 में 8082 रह गयी। यह निश्चय किया गया कि इन इंजनों का निर्माण बंद किया जाये तथा इस शताब्दी के अंत तक इन्हें समाप्त कर दिया जाये। इस प्रकार, इंजनों का एक पूरा वंश, जिसके संस्थापक सन् 1853 में बंबई से ठाणे तक ठाठ से गये होंगे, डेढ़ शताब्दी में ही, हमारी दृष्टि से ओझल होकर, रेल संग्रहालयों में सुसज्जित हो जायेगा।

नियोजन के प्रथम 15 वर्षों के दौरान वैगनों की संख्या में तेजी से वृद्धि हुई। लेकिन इसके बाद का ठहराव, बाद के दशकों में अर्थव्यवस्था की ढुलमुल

नीति का एक मापदंड था। यात्रियों की संख्या में विकास के कम लक्ष्य को देखते हुए यात्री डिब्बों की संख्या में वृद्धि सन् 1950-66 में 60 प्रतिशत से कुछ अधिक तथा सन् 1950-80 के दौरान दुगुनी हुई। डिब्बों के निर्माण में विस्तार, पुराने बदलने और नये बनाने की दिशा में प्रगति का संकेत है जिससे अत्यधिक पर्याप्तता और कार्यकुशलता आयी। लेकिन पूरे तौर पर, संसाधनों के अभावों के कारण रेलवे को समय समय पर अपने पुराने बदलने के काम को स्थगित करना पड़ा।

रेलवे द्वारा ढोया गया माल (टन की दर से) सन् 1950-51 के 9 करोड़ तीस लाख टन से बढ़कर सन् 1978-79 में 22 करोड़ 34 लाख टन तक हुआ और यात्री परिवहन (यात्री कि.मी. की दर से) 6 करोड़ 65 लाख यात्री कि. मी. से 19 करोड़ 80 लाख कि.मी. तक बढ़ा। तेजी से बढ़ते व्यापार, वाणिज्य और उद्योग की रेलवे से अपेक्षाएं और अधिक बढ़ गयीं, विशेष रूप से प्रथम तीन योजनाओं की अवधि में। रेलवे पर विशेष रूप से काफी दबाव रहा चूंकि उनके पास, अपेक्षाओं के अनुरूप नयी मांग से पहले बदलने तथा टूट फूट ठीक करने के लिए समय नहीं था। उपलब्ध परिवहन को वे ढो नहीं सके। भीड़ भाड़ तथा शेष पंजीकरण की संख्या में वृद्धि होती गयी। जहां माल तथा यात्री परिवहन की आवश्यकता के अनुसार पर्याप्त प्रावधान नहीं किया गया था, यात्रियों की भीड़ भाड़ के माल परिवहन की आवश्यकताओं की तात्कालिकता के कारण सहन किया जा रहा था।

नियोजन के एक दशक के अनुभव के कारण यह महसूस किया गया कि यातायात की आवश्यकताएं राष्ट्रीय आय अथवा कृषि एवं औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ीं। एक प्रवृत्ति जो अन्य देशों में भी स्वीकार की गयी थी। फिर भी, तीसरी योजना के दौरान, पहली बार, रेलवे माल ढुलाई में बढ़ी हुई क्षमता से सामने आयी, कारण, ढुलाई में वास्तविक विकास 59 प्रतिशत के विरुद्ध केवल 30 प्रतिशत ही लक्षित हो पाया। छठे दशक के अंत की आर्थिक मंदी ने रेलवे में भी शिथिलता ला दी और चौथी योजना का लक्ष्य गाड़ी डिब्बों के बेहतर उपयोग द्वारा प्राप्त किया जा सका। इस प्रकार एक सीमा आ गयी थी और रेलवे द्वारा ढोया गया माल परिवहन सन् 1965-75 के दशक में 2,000 लाख टन पर ठहर गया। यह केवल सन् 1976-77 में था कि यह स्थिरता समाप्त की जा सकी जब माल ढुलाई का स्तर 2,390 लाख टन तक पहुंच गया जो अब तक सबसे अधिक है। अगले वर्ष परिवहन में कुछ कमी होने से यह स्तर 2,373 लाख टन रह गया था। सन् 1978-79 के दौरान, रेलवे द्वारा ढोयी गयी वस्तुओं के उत्पादन में विशेष रूप से कोयला (बाढ़ के प्रभाव के कारण) तथा इस्पात में गिरावट के फलस्वरूप फिर कमी आयी। लेकिन सन् 1979-80 का वर्ष, कृषि उत्पादन और औद्योगिक उत्पादन में निरंतर गिरावट के कारण सबसे खराब रहा।

छठी योजना के लक्ष्य

छठी पंचवर्षीय योजना (सन् 1980-85) में रेलवे कार्यक्रमों का मौलिक उद्देश्य क्षमता का विस्तार करना है जिससे रेलवे भार और यात्री परिवहन की संभावित वृद्धि को पूरा किया जा सके, उपकरणों तथा काम करने के तरीकों की व्यवस्था को आधुनिक किया जा सके, उपलब्ध माल-मता के उपयोग को बेहतर रूप से बढ़ाया जा सके, तथा अत्यावश्यक और संवेदनशील वस्तुओं के स्थानिक उत्पादन में वृद्धि के कार्य को अपने हाथ में लेकर उपकरणों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दिशा में और अधिक प्रगति की जा सके। आधुनिकीकरण और रेलवे टेक्नोलौजी के क्षेत्र में विकास और शोध पर विशेष बल दिया जायेगा जिससे परिसंपत्ति का उपयोग सर्वोत्तम हो सके तथा सुरक्षा के स्तर में सुधार और संचालन लागत में कमी की जा सके।

रेलवे में सन् 1984-85 में आरंभिक भार परिवहन 3,090 लाख टन होने की आशा है। इस भार का अधिकांश भाग कोयला, इस्पात तथा इस्पात संयंत्रों का कच्चा माल, सीमेंट, कच्ची धातु का निर्यात, उर्वरकों, पेट्रोलियम उत्पादों तथा अनाज होगा।

रेलवे इस प्रकार के यातायात का मुकाबला नहीं कर सका। सन् 1984-85 में ये केवल 2,650 लाख टन ही माल ढो सका।

आठवें दशक में रेलवे में यातायात सहित कठिन आधारभूत संरचनात्मक अड़चनें पैदा हो गयीं। कोयला, उर्वरक तथा सीमेंट जैसी उच्च प्राथमिकता की वस्तुओं के लाने ले जाने के लिए या तो समय पर अथवा आवश्यक संख्या में वेगन उपलब्ध नहीं थे। परिणामस्वरूप, इस प्रकार का कुछ यातायात सड़क परिवहन को देना पड़ा जिससे अर्थव्यवस्था को अकारण नुकसान उठाना पड़ा। विद्यमान वेगनों की कार्यकुशलता काफी कम थी क्योंकि उनमें से अधिकांश पुराने थे।

इसलिए सातवीं योजना में आधुनिकीकरण, उचित रख रखाव द्वारा अत्यधिक उत्पादकता तथा उपलब्ध वेगनों के बेहतर उपयोग को उच्च प्राथमिकता दी गयी। योजना में अनुमान लगाया गया था कि अंतिम वर्ष तक 3,400 लाख टन माल की ढुलाई हो सकेगी। योजना के प्रथम दो वर्षों में (सन् 1985-87) रेलवे ने 420 लाख टन अतिरिक्त माल ढोया है जो बढ़कर कुल 3,060 लाख टन हो गया है। इस प्रकार सातवीं योजना में औसतन 180 लाख टन नया माल ढोया जो छठी योजना में प्राप्त स्तर का दुगुना था। इस तरह रेलवे योजना में निर्धारित लक्ष्य को आसानी से प्राप्त कर सकता है। यह महत्वपूर्ण है कि रेलवे ने अपनी संपत्ति की उत्पादकता में एक बहुत बड़ी सफलता हासिल की है। सन् 1990

तक ये अपने अधिकांश पुराने कारखानों और वेगनों को बदल देंगे तथा धीरे धीरे पुरानी मशीनों को भी कम करेंगे। यह रेलवे की भावी कार्यकुशलता का शुभ संकेत है।

सड़कें तथा सड़क यातायात

रेलवे परिवहन की स्थिर क्षमता को देखते हुए, नियोजन युग में, सड़कें तेजी से बढ़ती भूमिका अदा करने के उद्देश्य से सामने आयी। नियोजन के प्रथम दो दशकों में, सड़कों से यात्री परिवहन, जोकि अच्छा खासा था, रेलवे से बराबरी करने की दृष्टि से तेजी से बढ़ा जबकि सड़कों से माल परिवहन में काफी सुधार हुआ।

दूसरी योजना के अंत में एक नयी 20 वर्षीय योजना (सन् 1961-80) बनायी गयी जिसमें लागत अनुमान 5,200 करोड़ रुपये रखा गया। इसका लक्ष्य था प्रत्येक 100 वर्ग कि.मी. के लिए 16 कि.मी. के वर्तमान औसत को 20 वर्ष में बढ़ा कर 32 कि.मी. तक कर देना तथा विकसित कृषि क्षेत्र के अंदर प्रत्येक गांव से पक्की सड़क की दूरी 6.4 कि.मी. अथवा किसी भी सड़क की दूरी 2.4 कि.मी. से अधिक न रहने देना। लेकिन यह योजना अधिकारिक रूप से स्वीकृत नहीं हुई और सड़क विकास का काम योजना अवधि में निश्चित गति से भी धीमा चला। इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में विकास संबंधी दूरदर्शिता नहीं बरती गयी और सड़क निर्माण कार्य योजना पांच पांच साल की अवधि से बनायी गयी। इतने अधिक शेष काम और बढ़ती हुई यातायात आवश्यकताओं की दृष्टि से जो भी प्रगति हुई अथवा निश्चित की गई, वह बिल्कुल ही अपर्याप्त थी।

सड़कों की कुल लंबाई सन् 1950-51 की 3.98 किलोमीटर से बढ़कर सन् 1984-85 में 17.72 लाख किलोमीटर हो गयी। अलग अलग देखें तो, कच्ची सड़कों की लंबाई 2.42 लाख किलोमीटर से बढ़कर 9.40 लाख किलोमीटर हुयी तथा पक्की सड़कों की लंबाई 1.56 लाख किलोमीटर से बढ़कर 8.32 लाख किलोमीटर हो गयी। आज देश की कुल पक्की सड़क लंबाई का 4 प्रतिशत राष्ट्रीय राजमार्ग व्यवस्था में आता है। भौगोलिक दृष्टि से, राष्ट्रीय राजमार्ग लगभग सभी प्रादेशिक राजधानियों से जुड़े हैं, सभी प्रमुख बंदरगाहों को मुख्यभूमि से जोड़ते हैं, तथा अनेक महत्वपूर्ण औद्योगिक और पर्यटन स्थलों से संबंधित हैं फिर भी, अन्य सड़कों तथा अन्य क्षेत्रों के मुकाबले में स्थिति असंतोषजनक ही है। 'न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम' के अंतर्गत पांचवीं पंचवर्षीय योजना में 1500 अथवा इससे ऊपर की जनसंख्या वाले सभी गांवों का संपर्क सड़क से जोड़ने का प्रावधान किया गया। ऐसे गांवों की संख्या लगभग 29,000 थी। यह अनुमान किया जाता है कि वास्तव में केवल 12,000 गांव ही सन् 1977-78 के अंत तक पूरे हो

सकेंगे। नेशनल ट्रांसपोर्ट पालिसी कमेटी (सन् 1980) के अनुसार देश के 31 मार्च 1978 तक लगभग 30 प्रतिशत गांवों में सभी मौसम के अनुकूल सड़क संबंध तथा 16 प्रतिशत गांवों में उचित मौसम के अनुकूल सड़कों से जोड़ने के लिए लगभग 11,000 करोड़ रुपये की आवश्यकता का अनुमान लगाया। यह एक विस्मयकारी राशि थी। यह ग्रामीण भारत को आधुनिक सभ्यता की ओर ले जाने की समस्या की विशालता का संकेत है।

सड़क विकास का अर्थ केवल नये क्षेत्रों का विस्तार करना ही नहीं है। सड़कों की देखभाल भी समान रूप से महत्वपूर्ण है जो बुरी तरह से उपेक्षित है। सड़कों की उपयोगिता और कार्यकुशलता दीर्घ अंतराल के संपर्कभंग, पुलों का अभाव, रेलवे फाटकों तथा बाढ़ आदि के कारण घटिया निर्देशन और व्यवधान, से भी प्रभावित हुई हैं। इस दौरान और अधिक और भारी वाहन सड़कों पर चलने शुरू हो गये हैं जिससे सड़कों की दशा और खराब हो गयी है। पहले ग्रामीण सड़कों की उपेक्षा, हरित क्रांति के प्रसार तथा ग्रामीण और नगरीय अर्थव्यवस्था के प्रभावपूर्ण और पारस्परिक लाभदायक संपर्कों में अड़चनों के लिए उत्तरदायी रही हैं। ग्रामीण सड़क योजनाओं के विरुद्ध एक मुख्य आलोचना यही रही है कि ये केवल 'उचित मौसम की सड़कें हैं। इसलिए, यहां यह आश्वासनपूर्ण है कि नेशनल ट्रांस्पोर्ट पालिसी कमेटी (एन. टी. पी. सी.) ने सिफारिश की है कि सड़कों की देखभाल को उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए वास्तव में नये निर्माण की अपेक्षा भी उच्च प्राथमिकता दी जानी चाहिए।/

सड़क यातायात ने अर्थव्यवस्था की संरचना में एक मुख्य भूमिका निबाही है। कुल परिवहन के मुकाबले इसके भाग के खुदरा कम दूरी का, भार परिवहन तथा यात्री परिवहन का धीरे-धीरे विकास हुआ है। सन् 1950-51 तथा सन् 1977-78 के दौरान माल ढुलाई में सड़क यातायात का हिस्सा 11 प्रतिशत से 32 प्रतिशत हो गया जो इसी अनुपात में रेलवे के भाग में गिरावट का संकेत था। यात्री परिवहन में इसका भाग, इसी समयावधि में 26 प्रतिशत से 59 प्रतिशत तक बढ़ा। हाल ही के वर्षों में सड़क यातायात के हिस्से में अनुमानतः काफी वृद्धि हुई है।

सड़क यातायात का भावी विकास दो विरोधी घटकों के संतुलन पर निर्भर करेगा। न्यूनतम आवश्यकता कार्यक्रम के अंतर्गत सड़क विकास पर अधिक ध्यान देने से यात्री और माल परिवहन में सड़क यातायात का भाग और आगे जाने की आशा है। फिर भी, शक्ति लागत मूल्य का एक और पहलू है क्योंकि सड़क यातायात में डीजल की आवश्यकता में वृद्धि निश्चित होती है तथा डीजल बढ़ी हुई कीमत पर आयात करना पड़ता है। एन. टी. पी. सी. ने, इसलिए, एक सर्वोत्तम अंतर रूपात्मक मिश्रित परिवहन प्रणाली की सिफारिश की है जिसमें रेल परिवहन

तथा कोयले के अधिक उपयोग पर जोर दिया गया है।

जहां तक सड़क यातायात में सरकार की भूमिका का प्रश्न है, जबकि लगभग सभी माल परिवहन निजी हाथों में रहा है, सरकार का हिस्सा यात्री परिवहन में बढ़ता ही गया है। यह प्रवृत्ति भविष्य में बढ़ती रहने की ही आशा है क्योंकि यह दर्शाया जा चुका है कि केवल राज्यिक अधिग्रहण से ही यातायात सेवा, हमारी वर्तमान परिस्थितियों में, सामाजिक रूप से उत्तरदायी रह सकती है।

यातायात समन्वय

सीमित संसाधनों तथा अत्यधिक आवश्यकताओं की स्थिति में, यातायात के विभिन्न साधनों की उत्तम उपयोगिता के लिए अधिकतम समन्वय की आवश्यकता है। प्रतिस्पर्धा और साधनों का दोहरापन फिजूलखर्ची है और इससे बचना ही चाहिए। इस विषय पर सर्वप्रथम सिफारिश करने वाली 'कमेटी आन ट्रांसपोर्ट पालिसी तथा कोर्डिनेशन' (सी. टी. पी. सी.) थी। कमेटी ने सन् 1966 में सिफारिश की थी कि यातायात के सभी साधनों को, एक दूसरे के प्रतिपूरक सेवा के रूप में, एक समेकित विकास योजना के रूप में मिलाकर सोचा जाना चाहिए।

जैसाकि हाल के वर्षों में हुआ है, रेलवे का प्रस्.ार मूलभूत और भारी उद्योगों तथा भारी सामान जैसे कोयला, तेल, लोहा, कच्ची धातु, उर्वरक, अनाज आदि को लाने ले जाने की आवश्यकताओं को पूरा करने की दिशा में करना होगा। लेकिन अन्य मामलों में भी और विकल्प सदा ही अधिक स्पष्ट नहीं रहा है। न केवल किसी एक यातायात साधन विशेष के लिए वरन् उपलब्ध विकल्पों के बारे में भी लागत लाभ अध्ययनों की स्पष्ट आवश्यकता है। जैसाकि पहले कहा जा चुका है समेकित दीर्घकालीन यातायात संबंधी प्रतिमान योजना आयोग के विचाराधीन है। जो संभवतया इस कमी को पूरा कर सके। जहां, रेलवे, अंतर्देशीय जल, तटीय जलपोत समन्वय आदि के बारे में विचार किया गया, वहां एक समेकित यातायात नीति का ओर छोर भी कहीं नजर नहीं आ रहा था। वास्तव में, अंतर्देशीय जल यातायात की क्षमताओं की अभी पर्याप्तता से खोज होनी है जबकि तटीय जलयान का अभी उपयोग किया जाना है। केंद्र तथा राज्य में समन्वय कार्यकारिणी के निर्माण में पुनः एन. टी. पी. सी. की सिफारिशों का अधिक प्रभाव नहीं हुआ। न ही बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में इस समस्या के प्रति कोई जागरूकता दिखायी। यातायात के विभिन्न साधनों के विकास तथा समन्वय नीति संबंधी किसी दीर्घकालीन योजना का अभाव ही इस बात का गवाह है कि समस्या की तात्कालिकता तथा गहनता 'क्या किया जाना चाहिए था' को समझने में हम कितने असफल रहे।

इसी दौरान समस्या का एक और रूप सामने आया क्योंकि ऊर्जा की बढ़ती कीमतों के कारण यातायात समस्या पर नये सिरे से विचार करने की आवश्यकता महसूस हुई। इसलिए सन् 1978 में राष्ट्रीय यातायात नीति कमेटी (कमेटी) की स्थापना अगले दशक के लिए एक व्यापक राष्ट्रीय यातायात नीति की सिफारिश हेतु की गयी।

कमेटी ने ईंधन की कमी तथा वित्तीय संसाधनों पर दबावों जैसे संबंधित घटकों को ध्यान में रखकर न्यूनतम संसाधन लागत पर आधारित एक अंतर्रुपात्मक मिश्रित परिवहन नीति की सिफारिश की है। इसमें प्रमुख विचार यह है कि ऐसे यातायात साधनों को प्रोत्साहित करना है जो अधिक शक्ति सक्षम है, विशेष रूप से जिनमें बहुत कम अथवा बिल्कुल भी पैट्रोलियम आधारित ईंधन खर्च नहीं होता। इसलिए कमेटी ने सुझाव दिया है कि यातायात नियोजन का उद्देश्य सर्वोत्तम शक्ति संरक्षण है। इस उद्देश्य को दिखाते हुए इसने रेलवे की विस्तृत भूमिका, अंतर्देशीय जलमार्गों का अधिक उपयोग तथा तटीय जलपोत व्यवस्था की सिफारिश की है यहां तक कि यदि इनको बाद में सरकार से वित्तीय सहायता की आवश्यकता भी हो। कमेटी यह मानती है कि लाने ले जाने वाली वस्तुओं को तथा भौगोलिक क्षेत्रों को देखते हुए रेल तथा सड़क यातायात में वास्तविक रूप में कोई प्रतियोगिता की संभावना नहीं है। वास्तव में, जैसे जैसे आवश्यकताओं में वृद्धि होगी वैसे-वैसे यातायात के विभिन्न साधनों के विस्तार का भी अवसर होगा।

कमेटी के तकनीकी अध्ययन बताते हैं कि वस्तुओं का परिवहन 300-350 कि.मी. की कम दूरी तक के लिए सड़क मार्ग से सामान्यतः कम खर्चीला होता है। इससे अधिक दूरी के लिए रेलवे से लाभ होता है। डीज़ल की वर्तमान कीमतों को देखते हुए, और यह मानते हुए कि सड़क मार्ग के केवल 50 प्रतिशत परिवहन को रेलवे को दे दिया जाये। माल परिवहन में रेल सड़क का अनुपात गत 10 वर्षों के 67 : 33 से बदलकर 72 : 28 होने की आशा है। डीज़ल की कीमतें बढ़ते ही रेलवे का भाग भी और बढ़ जायेगा। तथापि, ट्रक चालकों को राष्ट्रीय परिवहन देने की ताजा उदार नीति कमेटी के इस दृष्टिकोण के अनुरूप प्रतीत नहीं होती। वास्तव में आवश्यक यातायात को लाने ले जाने में रेलवे की असमर्थता, वैयक्तिक परिवहन को प्रोत्साहित करने की सरकार की नीति तथा सार्वजनिक परिवहन की अपर्याप्तता तथा अकुशलता आदि के कारण प्रस्तावित मिश्रित अंतर यातायात संबंधी प्रतिमान के विरुद्ध होने की संभावना है।

कमेटी इस निष्कर्ष पर पहुंची है कि, कोई भी मिश्रित अंतर्रूपात्मक परिवहन नीति अपनायी जाये, रोजगार पर इसका प्रभाव नगण्य ही है। इसने यह भी देखा कि सड़क परिवहन उद्योग पर इसका कुल कर भार न तो बहुत अधिक है और न ही अनुचित रूप में है। कमेटी ने किसी भी गोपनीय अनुदान के विरुद्ध जोरदार

आवाज उठायी और इस बात की सिफारिश की कि सार्वजनिक क्षेत्र के सड़क यातायात उपक्रमों को अपने आर्थिक स्तर को ऊंचा उठाने के लिए किराया बढ़ाने की अनुमति दी जानी चाहिए।

कमेटी की एक सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश यातायात समन्वय की मशीनों के बारे में है। यातायात समन्वय का उद्देश्य विभिन्न यातायात साधनों में वितरण के लिए तकनीकी, आर्थिक, तथा अन्य स्थिति पैदा करना तथा प्रत्येक साधन में यातायात सुविधाओं के विकास में कम से कम कीमत पर आवश्यकतानुसार मदद करना है। इस कार्य के लिये कमेटी ने सहयोग के तीन मुख्य कार्यों, यथा कीमत, विनियोग तथा नियमन को चलाने की दृष्टि से एक राष्ट्रीय यातायात आयोग (नेशनल ट्रांसपोर्ट कमीशन) की स्थापना की सिफारिश की है। इन सबके बारे में सरकारी प्रत्युत्तर अत्यधिक हतोत्साही रहा है।

आधारभूत ढांचा–एक मूल्यांकन

गत कुछ वर्षों के विकास का एक उत्साहवर्धक पहलू यह है कि शक्ति, कोयला और यातायात की आपूर्ति सम्बन्धी बाधाएं काफी सीमा तक कम हुई हैं। फिर भी, कुछ विषयों, जो काफी समय से चले आ रहे हैं, का सुलझाना बाकी है। सारांश रूप में इस प्रकार हैं–

1. एक दीर्घकालीन समन्वित ऊर्जा प्रतिमान का निष्पादन तथा संचालन।
2. दक्ष ऊर्जा कार्यकुशल संयंत्र और मशीनों की स्थिति तथा साधन डिजाइन के माध्यम से ऊर्जा संरक्षण के लिये जोरदार कार्यपद्धति।
3. प्रेषण और वितरण के रूप में पर्याप्त धन व्यवस्था तथा प्रेषण वितरण की हानि में कमी।
4. ऊर्जा का तर्कसंगत मूल्यांकन तथा अनुग्रह राशि/हानि में कमी।
5. रख-रखाव तथा व्यवधान की रोकथाम के लिए तुरंत कार्यवाही।
6. लागत मूल्य तथा समय की अधिकता को कम करने की दृष्टि से अधिक क्रमबद्ध परियोजना का निष्पादन एवं क्रियान्वयन।
7. डिब्बाबंद यातायात (कंटेनर) के बहुरचनात्मक पद्धति का अधिकाधिक उपयोग।
8. पोतभार (कार्गो) सुविधाओं का मशीनीकरण तथा आधुनिकीकरण।

अध्याय 9

पारंपरिक उद्योग

इस अध्याय में उन उद्योगों की व्याख्या की गयी है जो 'पारंपरिक' कहे जा सकते हैं। पारंपरिक इस अर्थ में कि इनका इतिहास काफी पुराना है और जिनकी स्थापना उस समय की गयी जब प्रथम पंचवर्षीय योजना शुरू की गयी थी। इनमें मुख्यतः सूती कपड़ा और जूट उद्योग शामिल थे। चीनी, कागज तथा सीमेंट उद्योगों की भी विवेचना की गयी है।

सूती वस्त्र उद्योग

सन् 1950 से हुए औद्योगिक विकास का एक ही क्षोभनीय रूप है–सूती कपड़ा मिल उद्योग का ह्रास। भारतीय सूती कपड़ा मिल उद्योग ने न केवल देश के औद्योगिक विकास का पथप्रदर्शन किया वरन् विश्वव्यापी सन्दर्भ में भी गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त किया। भारतीय सूती मिल उद्योग का विश्व में तकुवा क्षमता में प्रथम, धागा उत्पादन तथा वस्त्र निर्यात में तीसरा, तथा सूत खपत में चौथा स्थान है। यह अभी भी देश का सबसे बड़ा उद्योग है जिसमें दस लाख से भी अधिक व्यक्ति कार्यरत हैं।

शताब्दी के पहले 25 वर्षों के दौरान सन् 1975 की समाप्ति तक मिल क्षेत्र ने विकास के कुछ चिह्न दिखाये। मिलों की संख्या सन् 1950 के 362 से सन् 1975 में 698 तक पहुंच कर लगभग दुगुनी हो गयी तथा तकुवों की संख्या एक करोड़ दस लाख से बढ़कर एक करोड़ 95.4 लाख हो गयी। फिर भी, करघों की संख्या में 1,91,000 से 2,08,000 नाममात्र की वृद्धि हुई। जहां धागे का उत्पादन 5330 लाख किलोग्राम से 9890 लाख किलोग्राम तक पहुंचा, कपड़े के

उत्पादन में, इतनी अधिक प्रभावपूर्ण प्रगति, दिखायी नहीं दी।

वास्तव में प्रथम योजना में 34,000 लाख मीटर से 46,650 लाख मीटर प्रारंभिक विस्तार के बाद दूसरी योजना में यह यहीं ठहर गया और बाद के दो दशकों से भी अधिक से वर्षों में वास्तविक रूप से इसमें कमी होती गयी। छठी योजना के 49,000 लाख मीटर के लक्ष्य के विरुद्ध उपलब्धि मात्र 34,200 लाख मीटर की थी जो सन् 1950-51 के स्तर से अधिक नहीं थी। मिलों को केवल एक ही तसल्ली थी कि धागे के उत्पादन में वृद्धि होती गयी। सन् 1975-76 के लगभग 10000 लाख किलोग्राम से बढ़कर 1985-86 में यह उत्पादन 13,820 लाख किलोग्राम तक हो गया क्योंकि विकेंद्रित क्षेत्र से धागे की मांग में उत्तरोत्तर वृद्धि ही थी।

मिल क्षेत्र का भविष्य हथकरघा (हैंडलूम) तथा शक्तिचालित करघे (पावरलूम) के भविष्य से अन्य तथा और अधिक मौलिक तरीके से जुड़ा था। शुरू से ही सरकारी नीति विकेंद्रित क्षेत्र की रोजगार क्षमता, कम पूँजी लागत तथा उत्पादन शुरू करने में कम समय लगने के कारण इस क्षेत्र को प्रोत्साहित करने की थी। मिलों में करघों की संख्या में ठहराव के लिये सरकार की इस नीति को उत्तरदायी माना जा सकता है क्योंकि घोषित नीति मिल क्षेत्र बुनाई क्षमता को बढ़ाने की नहीं थी।

इसके परिणामस्वरूप विकेंद्रीकृत क्षेत्र, विशेषकर पावरलूम में अभूतपूर्व विस्तार हुआ। अनुमानतः 30 लाख हैंडलूम 80 से 90 लाख लोगों को रोजगार प्रदान करते हैं। इसकी सम्भावना नहीं कि पिछले वर्षों में हैंडलूम की संख्या में अधिक परिवर्तन आया हो, अलबत्ता, उनमें कुछ जर्जर अवश्य हो गये होंगे। इसके विपरीत, पावरलूमों की संख्या में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। अधिकांश अनधिकृत सरकारी अनुमान के अनुसार पावरलूमों की 1956 की 27,000 की संख्या सन् 1984 में बढ़कर 6.18 लाख हो गयी जिनमें 30 लाख से भी अधिक व्यक्ति कार्यरत हैं।

लगभग 100 लाख लोगों को सीधे रोज़गार देने के अतिरिक्त, कपड़ा उद्योग 80 लाख कपास पैदा करने वालों तथा 20 लाख को संबंधित उद्योगों तथा व्यापार में लगे लोगों को काम देता है।

सन् 1981 की कपड़ा उद्योग नीति के अंतर्गत अनधिकृत पावरलूमों को नियमित करने तथा पावरलूम क्षेत्र उत्पादन के 5 प्रतिशत वार्षिक दर से उत्तरोत्तर विस्तार करने की अनुमति दी गयी। जून 1985 की नयी कपड़ा उद्योग नीति में घोषणा की गयी कि भविष्य में पावरलूम तथा मिल बराबरी के स्तर पर प्रतिस्पर्धा करेंगे। पावरलूमों का अनिवार्य रूप से पंजीकरण होगा और उन पर वे सभी नियम और कानून लागू होंगे जो मिलों पर होते हैं। हैंडलूम सम्बन्धी नीति का प्रतिपादन उत्पादकता, कार्यकुशलता तथा मजदूरों के कल्याण कार्यों के

विकास से होगा।

पावरलूमों के चमत्कारिक विकास तथा मिल क्षेत्रों में आये ठहराव को निम्न तालिका से स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

तालिका 9.1
कपड़े का उत्पादन (लाख-मीटर में)

	मिल क्षेत्र		*विकेन्द्रीय क्षेत्र*	
		कुल	*हैंडलूम*	*पावरलूम*
1950-51	34,010	9,170	लागू नहीं	लागू नहीं
1960-61	46,650	16,430	लागू नहीं	लागू नहीं
1970-71	40,550	35,410	लागू नहीं	लागू नहीं
1979-80	40,820	63,500	29,000	34,500
1984-85	34,200	85,300	36,000	49,300
1989-90				
लक्ष्य	45,000	1,00,000	46,000	54,000
अनुमानित	35,000	1,10,000	46,000	64,000

पावरलूम क्षेत्र में सातवीं योजना का लक्ष्य पहले ही प्राप्त किया जा चुका है और अब यह क्षेत्र और अधिक ऊंची उड़ान भरने के लिए तैयार है। यदि कपड़े का कुल लक्ष्य प्राप्त करना है तब मिल क्षेत्र में हुई कमी को पावरलूम द्वारा पूरी करने के अलावा और कोई विकल्प नहीं है। सन् 1985 की कपड़ा नीति का उद्देश्य भी यही है कि सभी को उचित दामों पर पर्याप्त कपड़ा उपलब्ध कराना। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए मिलों की बुनाई क्षमता के विस्तार पर लगे प्रतिबन्ध को समाप्त किया गया। लेकिन इससे उन मिलों को कोई लाभ नहीं हुआ जिनके पास क्षमता जैसी कोई अड़चन नहीं थी। केवल कुछ अलग-थलग मिलों को लाभ मिला। जहां तक कताई की बात है, 240 लाख तकुवों ने अपनी क्षमता लक्ष्य से भी अधिक काम कर दिखाया है।

मिलों में रुग्णता सन् 1970 से पैदा हो रही है। यह रुग्णता राज्य द्वारा मिलों के अधिकाधिक अधिग्रहण तथा निजी स्वामित्व की मिलों की बिगड़ती वित्तीय स्थिति से दिखायी देती है। राष्ट्रीय कपड़ा निगम के अधिकार में 41 लाख तकुवों तथा 56,000 करघों की क्षमता की 125 मिलें हैं। सन् 1986-87 में इसने बाजार में 860 लाख किलोग्राम धागा तथा 8,650 लाख मीटर कपड़ा दिया। इस प्रकार राष्ट्रीय कपड़ा निगम की मिलों द्वारा उत्पादित कपड़ा पूरे मिल क्षेत्र द्वारा उत्पादित का लगभग एक चौथाई भाग होता है लेकिन यह उद्योग की

गति निश्चित करने की दृष्टि से बिलकुल भी पर्याप्त नहीं है। सभी बातों को देखते हुए राष्ट्रीय कपड़ा निगम की मिलें उद्योग के कमजोर भाग का प्रतिनिधित्व करती हैं क्योंकि ये सभी रुग्ण, कुप्रबंधित और अकुशल मिलें होती हैं। राष्ट्रीय कपड़ा निगम प्रतिवर्ष अच्छा खासा नुकसान उठा रहा है। इसमें लगभग 2 लाख मजदूर काम करते हैं जिनमें 20,000 आवश्यकता से अधिक हैं।

एक ऐसी कपड़ा नीति, जो अक्षम इकाइयों को बन्द करने की आज्ञा नहीं देती तथा जिससे सरकार पर ऐसी रुग्ण इकाइयां लादी जा रही हैं, कभी भी सफल नहीं हो सकती। आधुनिकीकरण के लिए भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की सौफ्ट विंडो योजना निश्चित रूप से काम नहीं कर सकी क्योंकि उपलब्ध परिस्थितियों में यह न तो आकर्षक थी और न ही बहुत मजबूत। सरकार ने अब अगस्त 1986 से प्रभावी 'कपड़ा उद्योग आधुनिकीकरण कोष' (टैक्सटाइल मौडरनाइजेशन फंड) की स्थापना की है। कोष में आगामी पांच वर्षों में काफी उदार शर्तों पर 750 करोड़ रुपये की सहायता से अच्छी मिलों का भी प्रावधान है। लेकिन नया कोष भी समस्या की गहराई में जाने की कोशिश की बजाय पुराने ढर्रे पर ही चल रहा है। इसमें उद्योग को आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक तथा कुशल बनने के लिए स्वप्रेरणा का अभाव है। पहले, इस प्रकार की प्रेरणा की आशा विक्रेता के बाजार में नहीं थी। आधुनिकीकरण के बचे काम के अतिरिक्त, उद्योग का स्वास्थ्य कुप्रबंधन अपने संसाधनों के अधिक लाभप्रद कामों में लगाने से बुरी तरह प्रभावित रहा। लेकिन सरकार का यह कार्य किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कि वह प्रतिस्पर्धा प्रोत्साहन नीति की घोषणा करे और व्यवहार में स्वयं ही उस नीति के विरुद्ध कार्य करे।

यह भूल जाने वाली बात नहीं है कि मिलों को दो तथ्यों से जूझना है—एक तो आवश्यकता से अधिक मज़दूर क्षमता तथा दूसरा पावरलूम से प्रतिस्पर्धा। आधुनिकीकरण मिलों की समस्या का कोई हल नहीं हो सकता, क्योंकि इससे क्षमता में वृद्धि होगी और स्थिति और बेहतर होगी। निर्यात अभियान से उन्हीं की मदद हो सकती है जो अपनी मदद स्वयं करेंगे। आठवें दशक में सूती कपड़े का निर्यात मन्दा ही रहा और अपने सबसे अच्छे वर्ष में भी 600 करोड़ रुपये से अधिक नहीं हुआ। केवल 1987-88 में अचानक सुधार हुआ और निर्यात अनुमानतः 1000 करोड़ रुपये तक पहुंचा। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि घरेलू और विदेशी बाज़ार, दोनों में ही, बड़ी और आधुनिक मिलें हैं जो सबसे बड़ा हिस्सा मार जाती हैं। यह उनसे आशा भी की जा सकती है क्योंकि वे ही इस अत्यधिक प्रतिस्पर्धात्मक निर्यात बाज़ार में अच्छी गुणवत्ता का कपड़ा देने में समर्थ हैं।

यह बात घरेलू बाज़ार के बारे में भी सत्य है जहां प्रतिस्पर्धा यद्यपि अलग

किस्म की है परन्तु कम प्रबल नहीं है। ये केवल लगभग आधी दर्जन प्रसिद्ध ब्रांड वाली आधुनिक मिलें ही हैं जो पावरलूमों से परे ब्रांड के कपड़ों की बाढ़ वाले बाज़ार में भी अपने पैर मजबूती से जमाने में सफल हो जाती हैं। बाकी मिलों को तो पारंपरिक बाज़ार में पावरलूमों के साथ गैरबराबरी की प्रतिस्पर्धा झेलनी होगी।

यदि प्रतिस्पर्धा जमाने की नीति की तार्किकता का अनुसरण करना ही है, तो यह अनिवार्य और वास्तव में ठीक भी है कि बड़ी और कुशल इकाइयों को विकसित किया और बढ़ावा दिया जाना चाहिए। लेकिन तब, कपड़ा नीति के दूसरे उद्देश्यों, जैसे जनसाधारण को उचित दामों में अच्छा कपड़ा देने के प्रावधान, का क्या होगा ? इसी प्रकार, रोज़गार बढ़ाने और रोज़गार संरक्षण तथा हैंडलूम और पावरलूम क्षेत्र में लगे मजदूरों के रहन-सहन के स्तर में सुधार जैसे सामाजिक उद्देश्यों का क्या होगा ? कपड़ा नीति में इन प्रश्नों का कोई उत्तर नहीं है।

भविष्य

उद्योग का भविष्य कपड़े की मांग पर निर्भर करता है, विशेषतः साधारण घरेलू खपत के कपड़े पर। हाल ही के वर्षों में प्रति व्यक्ति कपड़ा उपलब्धि लगभग 15 मीटर पर टिकी रही है। जहां दीर्घकालीन तौर पर प्रति व्यक्ति खपत आर्थिक विकास तथा आय में वृद्धि पर निर्भर करेगी, उद्योग का मुख्य काम लागत मूल्य को कम करना होना चाहिए जिससे कपड़ा अधिकांश व्यक्तियों को उचित दर पर मिल सके।

कपड़े के उत्पादन की कीमत का आधे से अधिक का खर्च कपास में होता है। उद्योग इस मद में कीमत कम करने के लिए कुछ कर नहीं सकता। कपास के उत्पादन में उतार-चढ़ाव का उपलब्धि तथा कीमतों पर महत्वपूर्ण असर होता है। मानव द्वारा निर्मित कपड़े की कीमतें कृत्रिम रूप से रोक दी गयीं और सरकार ने भी अभी तक इस बारे में कोई दृढ़ दृष्टिकोण नहीं अपनाया है। अनुमान लगाया जाता है कि घरेलू कपड़े की ऊंची कीमतों के कारण 2000 से 3000 करोड़ रुपये का सिंथेटिक कपड़ा देश में तस्करी द्वारा लाया जाता है। जबकि उद्योग के आधुनिकीकरण का पूरा काम काफी बड़ा है। यह इस स्थिति तक इसलिए पहुंचा कि समस्याएं जिनकी समय-समय पर चर्चा और विश्लेषण किया जाता रहा, भविष्य के लिए इकट्ठी होती रहीं। इनको अलग-अलग चरणों में ठीक किया जा सकता है। लेकिन अधिक मौलिक काम है तर्कसंगत रूप में उद्योग की पुनर्संरचना जिसके बिना आधुनिकीकरण की बात करना व्यर्थ है। जैसा हमने पहले देखा, पावरलूम क्षेत्र में हुए अभूतपूर्व क्षमता-विस्तार तथा मिल क्षेत्र का क्षमता-आधिक्य

भी एक समस्या पैदा करते हैं जिसका समाधान आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया जाना चाहिए।

जूट उत्पादक

पारंपरिक तौर पर, जूट उत्पादन उद्योग राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था में सूती वस्त्र उद्योग के बाद दूसरा स्थान रखता है। अनेक वर्षों तक, यह उद्योग ही अकेला सबसे अधिक विदेशी मुद्रा अर्जक रहा है। यद्यपि इसकी यह गौरवपूर्ण स्थिति अब समाप्त हो गयी है, लेकिन यह एक मुख्य निर्यात उद्योग बना हुआ है। भारत विश्व में अभी तक भी जूट वस्तुओं का सबसे बड़ा उत्पादक है। जूट उद्योग भी देश में 2.5 लाख लोगों को रोजगार देने वाला दूसरा सबसे बड़ा श्रम-नियोजक है। इसके अतिरिक्त 40 लाख किसान जूट की खेती में लगे हुए हैं।

जैसा कि हमने इससे पहले एक अध्याय में देखा, इस उद्योग का भाग्य विशेष रूप से ढुलमुल रहा है। कच्चे जूट के उत्पादन में उतार-चढ़ाव, कम पैदावार, लागत स्फीती, श्रम असंतोष, अनिश्चित मांग, पुरानी मशीनें, कुछ इसकी प्रमुख समस्याएँ हैं। अनिश्चित मांग उद्योग के लिए 'एकिल्स की एड़ी' (एकिल्स ईसा पूर्व के एक महान योद्धा और गाथा नायक हैं) साबित हो रही है। अनिश्चितता, सिंथेटिक के उत्पादन, बदलते फैशन और आवश्यकताओं तथा अंत में, बंगला देश से जबर्दस्त प्रतियोगिता के कारण बनी।

गत वर्षों में इकाइयों की संख्या और क्षमता में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है। क्षमता लगभग 13 लाख टन के आसपास रही है। क्षमता का उपयोग भी कच्चे माल की उपलब्धि, मांग, बिजली पूर्ति, आदि के उत्तर में घटता बढ़ता रहा है। पूरे तौर पर, फिर भी, क्षमता का उपयोग हाल ही के वर्षों में कम ही रहा है। गत दस वर्षों में, यह 80 और 90 प्रतिशत के बीच रहा है।

निर्यात की मांग में आये परिवर्तनों के उत्तर में, उत्पादन के तरीके में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। बोरे तथा कारपेट बेकिंग जैसी अन्य वस्तुओं का भाग काफी ऊँचा गया है। इसी समय में टाट का हिस्सा उसी अनुपात में है।

निर्यात

जूट उद्योग प्रमुख रूप से एक निर्यातोन्मुख उद्योग है और उसका भाग्य अंतर्राष्ट्रीय मांग पर निर्भर करता है। लेकिन हाल ही के वर्षों में निर्यात की मात्रा में एकदम से गिरावट आयी है। छठे दशक के प्रारंभ में लगभग 70 प्रतिशत निर्यात किया जाता था। सातवें दशक के प्रारंभ में यह घटकर 60 प्रतिशत रह गया। यह सन् 1976-77 में घटकर 40 प्रतिशत रह गया। कुल निर्यात व्यापार के प्रतिशत

रूप में जूट सामान के निर्यात में निरंतर गिरावट आयी। छठे दशक में 20 प्रतिशत के कुछ ऊपर की सीमा से घटकर सन् 1970 के आसपास यह 15 प्रतिशत से भी कम और फिर सन् 1985-86 में और अधिक 3 प्रतिशत तक रह गया।

इस प्रकार यह उद्योग उत्पादन की मात्रा अथवा मूल्य किसी भी रूप में निर्यात के लिए अपना स्थान नहीं बना सका है। जहां बोरे और टाट का निर्यात रुकी हुई मांग की पूर्ति कर रहे थे, कारपेट बेकिंग पर हमारी आशाएं टिकी हुई थीं। लेकिन इस वस्तु के निर्यात की संभावनाएं भी धुंधली हैं। कारपेट बेकिंग का निर्यात सन् 1964-65 के एक लाख टन के कुछ अधिक से बढ़कर सन् 1971-72 में 2.53 लाख टन हो गया जिससे कुल निर्यात में इसका हिस्सा 12 प्रतिशत से भी कम से बढ़कर एक तिहाई तक हो गया। लेकिन इसके बाद से इसमें गिरावट आती रही है।

जूट निर्यात को मुख्य खतरा कृत्रिम रेशे से हुआ है। इसके बदले में प्लास्टिक तथा कागज वस्तुओं का उभरना और डिब्बा बंद निर्यात सामग्री के बढ़ते प्रयोग ने जूट जैसी पारंपरिक पैकिंग सामग्री के भविष्य को खतरे में डाल दिया है। जूट कारपेट बेकिंग का स्थान अब पोलिप्रापलेन प्राथमिक बेकिंग लेता जा रहा है।

जहां सस्ती वैकल्पिक वस्तु का आना सापेक्षतः एक ताज़ा घटना है, उद्योग की पुरानी समस्याएँ और अधिक तीव्र होती जा रही हैं। इसे बंगला देश से जबर्दस्त प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करना है जो एक झटके के बाद, पूरी तैयारी के साथ फिर से हमारे सामने है। बंगला देश 6 लाख टन के लगभग कच्चा जूट उत्पन्न करता है, जो गुणवत्ता में ऊंचा होता है, और जिससे 5 लाख टन उत्पाद बनते हैं। प्राकृतिक रूप से कम कीमत का लाभ जो इसे प्राप्त है वह मुद्रा अवमूल्यन और अन्य प्रोत्साहनों से और भी अधिक दृढ़ हो जाते हैं।

कच्चे जूट की अनिश्चित आपूर्ति

भारत में उत्पादित कच्चा जूट, गुणवत्ता में घटिया होने के अलावा, उत्पादन में उतार-चढ़ाव का भी शिकार रहा है। कच्चे जूट की कीमतें भी ठीक नहीं हैं जिससे किसान का लाभ भी ऊपर-नीचे होता रहता है। पैदावार और कीमतों में ये उतार-चढ़ाव जूट अर्थव्यवस्था के लिए स्थानिक हो गये हैं तथा एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। इन पर इस वास्तविकता का भी आघात लगता है कि इस भूमि पर आसानी से जूट से धान और फिर से जूट की पैदावार ली जा सकती है। प्राकृतिक प्रकोप ने भी स्थिति को और अनिश्चित बनाने में अपना योगदान दिया है।

जूट कृषक को न्यूनतम लाभ मिलता रहे, इस दृष्टि से, भारत सरकार ने सन् 1972-73 की फसल से शुरू करके वैधानिक समर्थन मूल्य की व्यवस्था की। इस व्यवस्था की प्रत्येक फसल की समीक्षा की जाती है। इससे पहले सन् 1971 में भारतीय जूट निगम की स्थापना की गयी थी। कच्चे जूट के आयात-निर्यात, जूट का आंतरिक विपणन, तथा जूट वस्तुओं के लिए निर्यात वृद्धि साधनों के कार्यों को अपने हाथों में लेने से, निगम से देश में जूट अर्थव्यवस्था को स्थायी बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निबाहने की आशा की जाती थी। लेकिन निगम ने समस्याओं को काफी पेचीदा पाया।

संभावनाएं

उद्योग के सामने अनेक समस्याएं हैं और इसका भविष्य इस बात पर निर्भर करेगा कि ये समस्याएं कितनी जल्दी और कितने अच्छे ढंग से हल की जाती हैं। कच्चे जूट के उत्पादन में स्थायित्व लाना होगा, गुणवत्ता बढ़ानी होगी, तथा शोधकार्य भी हाथ में लेना होगा जिससे कि बदलती मांग के अनुसार उत्पाद में भी उचित परिवर्तन किये जा सकें, आधुनिकीकरण कार्यक्रम शुरू करने होंगे जिससे मिल की उत्पादकता और कार्यकुशलता में वृद्धि की जा सके।

सूती कपड़ा आधुनिकीकरण कोष की ही तरह 150 करोड़ रुपये से, नवम्बर 1986 से लागू, जूट आधुनिकीकरण कोष की स्थापना की गयी है। सूती कपड़ा उद्योग के संदर्भ में हमने देखा कि आधुनिकीकरण के लिए संसाधनों की अपेक्षा प्रेरक तत्वों का अभाव है। औद्योगिक ढांचे में परिवर्तन तथा उचित नीति-निर्धारण ही प्रेरक तत्व प्रदान कर सकते हैं।

चीनी

चीनी उद्योग का सन् 1950 से अच्छा खासा विस्तार हुआ है। यह विस्तार उत्पादन की दृष्टि से ही नहीं हुआ वरन् उद्योग के क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से भी हुआ। इससे चीनी अर्थव्यवस्था को व्यापक आधार मिला। पांचवें दशक के बाद इस उद्योग को दक्षिण में अधिक उन्नत स्थान मिला तथा इसने अपने संगठनात्मक रूप में परिवर्तन किया। इस उद्योग को औद्योगिक क्षेत्र में सहकारिता की नीति विकसित करने में अभूतपूर्व सफलता मिली।

भारत के पास सन् 1951 में चीनी की 15 लाख टन की वार्षिक क्षमता की लगभग 158 फैक्ट्रियां थीं। यह क्षमता सन् 1956 तक पर्याप्त समझी गयी। लेकिन 1952 के अंत तक चीनी का कंट्रोल समाप्त करने के बाद, खपत में तेजी से वृद्धि होती चली गयी जिससे सन् 1952-53 में 7 लाख टन से अधिक तथा

अगले वर्ष 5.7 लाख टन के आयात की आवश्यकता हुई। इसलिए प्रतिबंधात्मक नीति को फिर से मानते हुए, सरकार ने उदारतापूर्वक अतिरिक्त क्षमता का लाइसेन्स देने का निश्चय किया जिससे कुल क्षमता 20 लाख टन तक पहुंच जाये। 43 नयी फैक्ट्रियों के खोलने तथा 42 पुरानी फैक्ट्रियों के विस्तार के लिए लाइसेंस दिये गये। इस बात का ध्यान रखा गया कि उद्योग के इस विस्तार का उपयोग बेहतर क्षेत्रीय विस्तार के लिए हो। 7.26 लाख टन पर दिये गये लाइसेंस की अतिरिक्त क्षमता में, बंबई राज्य का भाग 2.3 लाख टन था। इसके बाद 1. 75 लाख टन का उत्तर प्रदेश का भाग था। 1.5 लाख टन की क्षमता में तमिलनाडु और आंध्र प्रदेश दोनों का समान हिस्सा था।

विस्तरणशील सहकारिता क्षेत्र

पांचवें दशक के मध्य तक कुछ थोड़ी ही सहकारी चीनी मिलें थीं। नये 43 लाइसेंसों में 22 सहकारी क्षेत्र के लिए निश्चित किये गये थे , जिनमें से 14 अकेले बम्बई राज्य को मिले थे।

इनका स्वामित्व राज्य सरकारों तथा इण्डस्ट्रियल फाइनेंस कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया की सहायता से गन्ना उत्पादकों के पास रहना था। दूसरी योजना के अन्त तक 8.8 लाख टन की और अतिरिक्त क्षमता के लाइसेंस दे दिये गये। इतना उत्पादन 26 नयी सहकारी फैक्ट्रियों, निजी क्षेत्र में 11 नयी इकाइयों तथा 80 में विस्तृत विस्तार द्वारा करने का प्रस्ताव था। नयी क्षमता को नयी इकाइयों तथा विस्तृत की गयी इकाइयों में 60 : 40 के अनुपात से बांटना था तथा नयी इकाइयों में सहकारी क्षेत्र का हिस्सा बड़ा था।

परिणामस्वरूप, सहकारी फैक्ट्रियों की संख्या सन् 1955-56 की 3 से सन् 1960-61 में बढ़कर 30 तथा सन् 1965-66 में 52 हो गयी। आगामी दस वर्षों में यह लगभग दुगुनी, सन् 1975-76 में 101 हो गयी। क्षमता और उत्पादन में सहकारिता क्षेत्र के हिस्से में निजी क्षेत्र की बराबरी आ गयी है तथा आने वाले वर्षों में यह निजी क्षेत्र से आगे बढ़ गयी।

चीनी उद्योग का सहकारीकरण इस देश के उप उष्णकटिबंधीय क्षेत्रों की तरफ बदलने से जुड़ा था। सन् 1950-51 में उत्पादन का 80 प्रतिशत विंध्य प्रदेश के उत्तर से आया। 15 वर्ष बाद, यह भाग आधा रह गया और इस समय दक्षिण भारत इस उद्योग के मुख्य भागीदार के रूप में उभरा है।

तालिका 9.2
क्षमता तथा उत्पादन : 1983-84 (लाख टन)

क्षेत्र	*संस्थापित फैक्ट्रियों की संख्या*	*भाग %*	*संस्थापित क्षमता*	*भाग %*
निजी	129	38.5	24.8	36.9
सहकारी	164	49.0	36.0	53.6
सरकारी	42	12.5	6.4	9.5
कुल	335	100.0	67.2	100.0

उद्योग की संस्थापित क्षमता सन् 1950-51 की 15 लाख टन से बढ़कर सन् 1986-87 में लगभग 76 लाख टन हो गयी है। इसी के समान, उत्पादन भी 8 गुणा से अधिक, दस लाख टन से कुछ अधिक से सन् 1987-88 में बढ़कर 91 लाख टन तक हो गया है। लेकिन इस अन्तराल के वर्षों में उत्पादन में काफी उतार-चढ़ाव आये हैं। सातवें दशक के थोड़े-से अंतराल में ही, पैदावार दुगुनी से अधिक, सन् 1971-72 के 31 लाख टन से सन् 1977-78 में 65 लाख टन हो गयी है। वास्तव में सन् 1978-79 में 34 लाख टन के आगे बढ़ाया गया स्टाक सन् 1971-72 के 31 लाख टन के कुल स्टाक से अधिक ही था। लेकिन, तुरंत बाद का वर्ष दशक का सबसे खराब वर्ष सिद्ध हुआ। पैदावार सन् 1979-80 में केवल 40 लाख टन रह गयी, रातोरात बहुलता की स्थिति गाम्भीर्य के अभाव में परिवर्तित हो गयी।

अस्सी का दशक ऊंचे विकास के दशक के रूप में माना जाना चाहिए। लेकिन साल दर साल होने वाले उतार-चढ़ाव भी अच्छे खासे थे। चीनी का उत्पादन सन् 1980-81 के 81.5 लाख टन से बढ़कर अगले वर्ष 84 लाख टन तथा सन् 1982-83 में 82 लाख टन हो गया। अगले वर्ष यह एकदम घटकर 59 लाख रह गया और सन् 1984-85 में 61 लाख टन तक आ गया। सन् 1985-86 में बढ़कर 70 लाख हुआ और सन् 1986-87 में तेजी से बढ़कर 85 लाख टन हो गया। वृद्धि का दौर सन् 1987-88 में बना रहा जब अनुमानित उत्पादन 91 लाख टन था।

सन् 1973-74 तथा सन् 1976-77 के दौरान निर्यात ने हमारे चीनी के आधिक्य को एक लाभप्रद स्थिति प्रदान की। विश्व वस्तु उपलब्धि में आयी अचानक वृद्धि ने अंतर्राष्ट्रीय मांग में तेजी ला दी और विश्व में चीनी की कीमतें बढ़ गयीं। भारत का चीनी का निर्यात सन् 1973-74 के 2.39 लाख टन से बढ़कर सन् 1974-75 में 6.9 लाख टन और इसके बाद सन् 1975-76 में 12 लाख टन के अधिकतम तक हो गया। इन निर्यातों से विदेशी मुद्रा अर्जन में

भी सन् 1973-74 के 40 करोड़ रुपये से सन् 1974-75 में 339 करोड़ रुपये तथा सन् 1975-76 में 473 करोड़ रुपये तक की वृद्धि हुई। लेकिन, सन् 1976-77 में पासा पलट गया। चीनी की अंतर्राष्ट्रीय कीमतें नवंबर सन् 1974 की 650 पौंड प्रति टन से घटकर सन् 1976-77 में 150 पौंड तक रह गयी। यद्यपि हमारे देश ने इस वर्ष में भी, जिसमें निर्यात से आय केवल 148 करोड़ रुपये ही थी, चीनी का निर्यात 5.8 लाख टन तक किया गया। और सन् 1977-78 में निर्यात केवल 71,000 टन तक ही रहा।

इस स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने राहत साधनों की उद्घोषणा की। फरवरी 1978 में लिये गये निर्णयों के अनुसार, निम्नांकित रियायतें दी गयीं–

1. चीनी की लेवी कीमत में वृद्धि।
2. गैर-मौसम में सीमा शुल्क में छूट।
3. उदार ऋण सुविधाएं जिससे उद्योग स्टाक को आगे बढ़ा सके।
4. अंतर्राष्ट्रीय चीनी समझौता (इण्टरनेशनल सूगर एग्रीमेंट) के अंतर्गत जिसमें 30 करोड़ की हानि निहित थी, 6.5 लाख टन के निर्यात के पूरे कोटे की स्वीकृति।

इसी दौरान मिलों की वित्तीय स्थिति बिगड़ती नज़र आयी। इसलिए अगस्त 1978 में सरकार ने पूरी तरह से नियंत्रण हटाने का निर्णय लिया जिससे कीमतों और वितरण पर नियंत्रण की दोहरी नीति को समाप्त किया जा सके। लाने-ले जाने पर लगाये गये प्रतिबंध को भी समाप्त कर दिया गया। फिर भी, निर्यात की कोई अच्छी संभावनाएं दिखाई नहीं दीं तथा आंतरिक खपत में भी कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई, चीनी की कीमतों पर दबाव बना रहा। सरकार ने 5 लाख टन के बफर स्टाक बनाने के अपने इरादे की घोषणा कर दी थी। लेकिन ऐसा किया नहीं गया और सन् 1979-80 के सूखे के साथ कम कीमतों की निराशा का परिणाम हुआ, जैसा कि पहले कहा गया है, अत्यधिक कमी तथा कीमतों में अभूतपूर्व वृद्धि। इसी दौरान, अंतर्राष्ट्रीय कीमतों में भी एक बार वृद्धि होनी शुरू हुई, जिससे देश को ऊंची कीमतों पर आयात करने की अवांछनीय स्थिति का सामना करना पड़ा।

गन्ने की समस्या

उद्योग की मौलिक समस्या है गन्ने की आपूर्ति की समस्या। आपूर्ति के दो पहलू हैं–कुल उत्पादन तथा फैक्ट्रियों को आपूर्ति। कुल पैदावार मानसून की स्थिति पर निर्भर करती है क्योंकि फसल का महत्वपूर्ण हिस्सा अभी भी वर्षा जल पर निर्भर है। लेकिन सबसे पहले तो रोपाई वैकल्पिक फसलों जैसे धान, गेहूं, कपास की कीमतों से संचालित होती है। फसल आने पर फैक्ट्रियों को गन्ना मिलना खाण्डसारी और गुड़ से प्रतिस्पर्धा पर निर्भर करता है। चीनी की ऐसी नीति के,

जो इनसे तालमेल नहीं रखती है, सफल होने की सम्भावना नहीं है।

यह देखा गया है कि क्षेत्रीय उतार-चढ़ाव का विस्तार तथा उत्पादन उष्णकटिबंधीय क्षेत्र में उप-उष्णकटिबंधीय क्षेत्र के मुकाबले काफी कम था। इसलिए प्रायद्वीप तक हुए चीनी की खेती के विस्तार ने कुछ सीमा तक पैदावार को एक स्थायित्व प्रदान करने का काम किया है। इसने अधिक उत्पादन देने में भी योगदान दिया है क्योंकि प्रति एकड़ फसल तथा गन्ने में चीनी का अंश, इन क्षेत्रों में उत्तरी भारत की अपेक्षा अधिक है जबकि पहले उत्तरी भारत में कुल फसल का 3/4 भाग पैदा होता था। वास्तविकता यही है कि यहां तक दक्षिण में फसल का स्तर अन्य प्रमुख चीनी उत्पादक देशों से भी कम है तथा ऐसी सुविधाओं जैसे कर्जों, उर्वरकों, सिंचाई आदि के देने और उन्नत किस्मों की शुरुआत करने के लिए कदम उठाने होंगे। उत्तर में चुकन्दर की खेती भी लाभप्रद हो सकती है। यह छोटी फसल होती है जिसमें चीनी का अंश अधिक होता है। यह गन्ने की 1.75 टन चीनी प्रति एकड़ की फसल की अपेक्षा 3.4 टन चीनी प्रति एकड़ देता है। नयी फसल की तरफ बदलने में तथा नयी प्रक्रिया के अनुसार सामंजस्य बनाने में पूंजीगत खर्च की कोई समस्या नहीं होनी चाहिए। चूंकि कृषक तथा फैक्ट्री-मालिक इस प्रकार का जोखिम उठाने को संभवतः तैयार नहीं हो सके, इसलिए सरकार और उद्योग की ओर से संयुक्त कार्य की आवश्यकता है।

सन् 1958 तक विश्व मंडी में चीनी सस्ती थी। लेकिन तब से ही चीनी निर्यात को लगातार अनुदान देना पड़ा है। लागत मूल्यों में कमी, अधिक कुशल संचालन तथा अवशिष्ट उत्पादों के उचित प्रयोग से प्राप्त की जा सकती है। संचालन कार्यक्षमता, पुरानी मशीनों, उत्पादन का अनार्थिक स्तर, तथा कुछ इकाइयों का अनार्थिक स्थानीकरण के कारण कम रही है। पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण कमेटी (गुण्डूराव कमेटी) ने आधुनिकीकरण समस्या का अध्ययन किया और सन् 1965 में इस संबंध में सिफारिशें कीं। कमेटी ने सिंचाई, उर्वरकों, संचार सुविधाओं आदि के बारे में एक 345 करोड़ रुपये की योजना की सिफारिश की। इसके साथ ही, कमेटी ने आधुनिकीकरण तथा पुनर्स्थापन कार्यक्रम के लिए 90 करोड़ रुपये का एक प्रस्ताव रखा। अनार्थिक इकाइयों को एक करने का सुझाव भी दिया और इसके लिये 66 करोड़ रुपये के खर्चे का अनुमान लगाया। चीनी जांच आयोग 1965 (सेन आयोग) ने सामान्यतः इन सिफारिशों का समर्थन किया। इसने अवशिष्ट उत्पादों के प्रयोग के लिए बहुमूल्य सुझाव भी दिये। लेकिन, इन सिफारिशों पर कोई सरकारी कार्य नहीं हो रहा था। हाल ही में, भारतीय औद्योगिक विकास बैंक (आई.डी.बी.आई.) ने उद्योगों के (चीनी सहित) आधुनिकीकरण तथा पुनर्स्थापन के लिए आसान कर्ज़े देने के लिए अपने दरवाजे खोले हैं। यहां भी प्रगति ढुलमुल हो रही है।

सरकार की चीनी नीति, पूरे तौर पर, तदर्थात्मक मानी गयी है: नियंत्रण-अनियंत्रण, लाइसेंस-लाइसेंसरहित, निर्यात उन्नायक-निर्यात प्रतिबंधात्मक आदि, आदि। एक दृढ़, दीर्घकालीन, नीति की आवश्यकता काफी वर्षों से मानी गई है। सेन आयोग ने अल्पकालीन विचारों से प्रेरित नीतियों का अनुसरण करने की प्रवृत्ति की तीखी आलोचना की है। इन सिफारिशों के प्रति सरकार के रुख को देखते हुए, ऐसा लगता है कि यह प्रवृत्ति अब पक्के तौर पर स्थान बना चुकी है और आसानी से इसे हटाया नहीं जा सकता।

हाल ही में, सरकारी नीति के कुछ पहलुओं में अच्छे परिवर्तन किये गये हैं, विशेषकर गन्ने की कीमतों की घोषणा में। कीमतें दो वर्ष पहले से घोषित हो जाती हैं। इसका गन्ने के उत्पादन पर और परिणामस्वरूप फैक्ट्रियों को गन्ने की आपूर्ति पर महत्वपूर्ण असर हुआ है। इसी समय यह भी जरूरी हो जाता है कि राज्य सरकारों द्वारा फैक्ट्रियों पर गन्ने की अधिक कीमत देने के लिए विवश करने की आदत पर प्रतिबंध लगाया जाये। इससे मिलों पर काफी अधिक बोझ पड़ जाता है।

इसी से जुड़ा दूसरा पहलू है खांडसारी उद्योग को नियमित करने का। गुड़ की तरह खांडसारी का कोई खाद्य तथा पोषणात्मक महत्व नहीं है। जबकि इसमें गन्ने का व्यर्थ का उपयोग बहुत होता है। गन्ने की कमी की परिस्थिति में अनियमित खांडसारी उद्योग वाले, किसानों को गन्ने की, मिलों की तुलना में अधिक कीमत देकर फसल के एक बहुत बड़े हिस्से पर हाथ मार लेते हैं।

उदार लाइसेंस नीति विशेषकर सहकारिता क्षेत्र की इकाइयों के अन्तर्गत उन क्षेत्रों में फैक्ट्री लगाने की अनुमति दे दी गयी जहां गन्ना मिलने का कोई आश्वासन नहीं था। परिणामस्वरूप, कुछ नयी इकाइयों ने शुरू से ही रुग्णता के आसार दिखाये। इनमें पुरानी चली आ रही रुग्ण इकाइयों को और जोड़ दिया जाये। पुरानी और रुग्ण इकाइयों की समस्याओं के अलावा यह उद्योग पूरे तौर पर विकसित तरीकों से अधिक चीनी लेकर, ऊर्जा बचत कर, अवशिष्ट उत्पादों का प्रयोग कर तथा शोध पर अधिक जोर देकर उत्पादकता में अधिक वृद्धि कर सकती है। लाइसेंस नीति ने गन्ना पिराई के स्तर को न्यूनतम 1250 टी.पी.डी. तक कर दिया, जिससे सबसे बड़ी संख्या में चीनी मिलों की स्थापना से गन्ना उत्पादन का क्षेत्र बढ़ाया जा सके। अब इस नीति में एक स्वागत योग्य परिवर्तन किया जा रहा है जिसके अन्तर्गत स्तरीय अर्थव्यवस्था का लाभ उठाने तथा समन्वित विकास की जटिलताओं के कारण तथा कच्चे माल और अवशिष्ट उत्पादों के उपयोग के कारण बड़ी इकाइयों की स्थापना के प्रति झुकाव बढ़ा है। सातवीं योजना की लाइसेंस नीति के तहत अक्तूबर 1988 तक 2500 टी.पी.डी. क्षमता की प्रत्येक मिल लगाने के 25 आज्ञापत्र दिये जा चुके हैं।

गन्ना एक सिंचाई आधारित फसल है। अब उस जमीन पर भी गन्ने की बुवाई हो रही है जहां धान जैसी दूसरी फसलें होती थीं। अब समय आ गया है जब जमीन और पानी (दोनों ही अत्यधिक दुर्लभ संसाधन हैं) के उपयोग को तर्कसंगत बनाया जाना चाहिए। जमीन के उपयोग के लिए एक राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जानी चाहिए। अनाज की कमी वाले राज्यों जैसे महाराष्ट्र में अधिक सामाजिक लागत और लाभ की दृष्टि से अनाज तथा गन्ने के ऊंचे उत्पादन के बीच व्यापार पर गंभीरता से बहस होनी चाहिए।

सातवीं योजना के लक्ष्य

योजना में, सन् 1984-85 की 72 लाख टन की क्षमता को सन् 1989-90 में बढ़ाकर 107 लाख तथा उत्पादन को 62 लाख टन से बढ़ाकर 102 लाख टन करने का लक्ष्य रखा गया। योजना के शुरू के चार वर्षों में जहां कार्य काफी ठीक ढंग से चलता रहा वहां यह मानना चाहिए कि चीनी का उत्पादन प्राकृतिक संकटों से भी जुड़ा है। पर्याप्त मात्रा में गन्ना मिलने पर इसकी क्षमता में वृद्धि की जा सकती है।

फिर भी, वर्तमान क्षमता का यदि पिराई के सीज़न को खींचतान कर अधिक इस्तेमाल किया जाये तो इससे मशीन का घिसाव जल्दी होगा और चीनी का उत्पादन कम होता जायेगा। सरकार ने इसलिए योजना लक्ष्यों को पूरा करने के लिये पर्याप्त क्षमता के लाइसेंस देकर अच्छा ही किया है। अभी, 10 करोड़ 75 लाख टन की कुल अनुमोदित क्षमता की 417 लाइसेंस युक्त फैक्ट्रियां हैं। इनमें से 128 सहकारिता के क्षेत्र में हैं। 386 की स्थापना 8 करोड़ 10 लाख टन की क्षमता से हुई थी।

इस प्रकार मध्यकालिक आंकड़ों की दृष्टि से स्थिति दुखद लगती है। लेकिन दीर्वकालीन स्वास्थ्य तथा इस उद्योग की प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति ऊपर विवेचित विभिन्न समस्याओं के निराकरण पर निर्भर करेगी। साथ-साथ एक दीर्घकालीन नीति भी विकसित करनी होगी जो ज़मीन और पानी जैसे दुर्लभ संसाधनों के तर्कसंगत उपयोग को ध्यान में रखकर विस्तृत सामाजिक आर्थिक सोच विचार से तालमेल रखती हो।

कागज, हल्का गत्ता तथा न्यूजप्रिंट

कागज तथा हल्का गत्ता

गत चार दशकों के दौरान कागज तथा हल्के गत्ते की क्षमता और उत्पादन में

काफी विस्तार हुआ है। क्षमता में दस गुना 1950-51 के 1.37 लाख टन से 1984-85 में 24 लाख टन वृद्धि हुई है। इसी के अनुरूप, उत्पादन 1.16 लाख टन से बढ़कर 13.6 लाख टन हो गया है। फिर भी उपलब्धि सदा पंचवर्षीय योजनाओं में निश्चित लक्ष्यों के अनुसार नहीं हुई है। तीसरी पंचवर्षीय योजना में यह कमी अच्छी खासी थी। तब से, लक्ष्य भी संतुलित रूप में निश्चित किये गये हैं और इनमें कमी इतनी अधिक नहीं हुई है।

परिप्रेक्ष्य में देखने पर कागज उद्योग की प्रगति प्रभावशाली दिखायी दे सकती है क्योंकि इसकी शुरुआत काफी नीचे से हुई थी।

सातवें दशक के बाद के वर्षों में विकास कम होता गया और उत्पादन 8-9 लाख टन के आसपास ठहर गया। छठी योजना में क्षमता में विस्तार तथा उत्पादन में अच्छी खासी वृद्धि का एक नया चरण आया था। उत्पादन का तरीका अभी हाल तक अपरिवर्तित रहा। सांस्कृतिक कागज, जिसमें लिखने और मुद्रण की किस्में आती हैं, कुल उत्पादन का लगभग 60 प्रतिशत होता है। औद्योगिक कागज, जिसमें लपेटने और बांधने का कागज सम्मिलित है, 20 प्रतिशत होता है। हल्के गत्ते में 16 प्रतिशत होता है और शेष में अन्य विविध किस्में होती हैं। पांचवें दशक में कागज और हल्के गत्ते की मांग में 8 से 10 प्रतिशत की वार्षिक दर से वृद्धि हुई। वास्तव में, कागज और हल्के गत्तों के आयात पर प्रतिबंध लगा देने से खपत को कम रखना पड़ा। मांग में विकास की दर भी बाद के वर्षों में घटती बढ़ती रही। लेकिन, पूरे तौर पर, कागज की कमी समय-समय पर महसूस की जाती रही। हाल ही के वर्षों में, कुछ विशेष प्रकार के कागज, जैसे लेखन और मुद्रण कागज, की कमी महसूस हुई है, यद्यपि पूरे तौर पर उपलब्धि और मांग का तालमेल मोटे तौर पर बना रहा। कागज की मांग सन् 1984-85 की 14 लाख टन से सन् 1989-90 में बढ़कर 18 लाख टन होने की आशा है। सातवीं पंचवर्षीय योजना में उत्पादन का यही लक्ष्य निश्चित किया गया है। हाल ही के वर्षों में, वाणिज्यिक कागज की मांग में वृद्धि हुई है। परिणामस्वरूप, छपाई और लिखने के कागज का हिस्सा घटकर 50 प्रतिशत रह गया है तथा वाणिज्यिक कागज का एक तिहाई अधिक हो गया है।

सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका

पांचवीं और छठी योजना के दशक में क्षमता और उत्पादन का लगभग दुगुना होना सार्वजनिक क्षेत्र का बाजार में पूरे जोर-शोर से आने से संभव हुआ। हिंदुस्तान पेपर कारपोरेशन ने तीन समन्वित कागज़ मिलों की स्थापना की, एक 33,000 टन क्षमता का नागालैण्ड में, तथा दो, प्रत्येक एक लाख क्षमता का असम के

नौगांग और कचार में। ये परियोजनाएं कचार के सिवाय यद्यपि पहले ही काफी लम्बित हो चुकी थी अब शुरू की जा चुकी हैं। फिर भी, देरी और लागत मूल्य की दृष्टि से अधिक चलने की समस्या के अलावा, ये इकाइयां कोयले की उपलब्धता, यातायात, कच्चे माल, श्रम संकट, दोषपूर्ण उपकरण आदि अनेक समस्याओं से घिरी रही हैं। इनका उत्पादन भी क्षमता से कम रहा है और हिंदुस्तान पेपर कारपोरेशन की हानि बढ़ती ही रही है। नौगांग का संयंत्र सन् 1986-87 में अपनी क्षमता की 27 प्रतिशत तक ही चला और नागालैंड संयंत्र केवल 5 प्रतिशत क्षमता तक। कारपोरेशन के अंतर्गत 16,500 टन की क्षमता का कर्नाटक का मांड्या कागज संयंत्र भी है। इस संयंत्र की उपयोगिता क्षमता सन् 1986-87 में 8.4 प्रतिशत था।

नागालैण्ड फैक्ट्री को कमजोर उपयोगिता क्षमता दोषपूर्ण बायलर के कारण रही है। इस क्षेत्र में खराब गुणवत्ता का कोयला उपलब्ध होने के कारण, अब गैस अग्नि के प्रयोग की योजना है इससे और अधिक देरी होगी।

असम की दोनों एक-एक टन क्षमता की परियोजनाओं से सरकारी खर्च में 350-400 करोड़ प्रत्येक संयंत्र का भारी खर्च पड़ेगा। और यह निश्चित था कि उनके शुरू होने के पहले दिन से ही ये भारी नुकसान वाली परियोजनाएं सिद्ध होंगी। इसके बाद भी सातवीं योजना में सन् 1989-90 की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए असम में दो और एक-एक लाख टन क्षमता की फैक्ट्रियां प्रस्तावित की गयी हैं।

अधिक मात्रा में निवेश की आवश्यकता को देखते हुए इस उद्योग में निजी निवेश नहीं हो रहा है। साथ-साथ यह उद्योग सेलूलोसिक कच्चे माल की अपर्याप्त उपलब्धता, बिजली और कोयले की कमी तथा पुरानी तकनीक की समस्याओं से पीड़ित है जिसके परिणामस्वरूप कम क्षमता उपयोगिता रही है। उद्योग की आधी क्षमता तकनीक में पुरानी है क्योंकि संबंधित इकाइयां या तो बहुत पुरानी हैं या उन्होंने पुराने उपकरण लगा रखे हैं।

न्यूजप्रिंट

देश में न्यूजप्रिंट के उत्पादन का श्रेय, जैसा कि हमने पहले देखा सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा ली गयी पहल को जाता है। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र की नेशनल न्यूजप्रिंट एण्ड पेपर मिल्स (NEPA) अग्रणी था।

जब प्रथम पंचवर्षीय योजना प्रारंभ की गयी, देश में न्यूजप्रिंट का कोई उत्पादन नहीं होता था। नेपा (NEPA) का न्यूजप्रिंट संयंत्र निर्माणाधीन था और सन् 1953 में इसके शुरू होने की आशा थी और सन् 1954 के बाद से 27,000

टन के उत्पादन की आशा थी। नेपा इकाई की शुरू की क्षमता 30,000 टन की थी। न्यूजप्रिंट की मांग बढ़ती जा रही थी और देश में इसकी काफी कमी थी। नेपा फैक्ट्री के शुरू होने के बाद भी इस कमी के बने रहने की आशा थी। इस प्रकार उद्योग की क्षमता में और अधिक विकास की संभावनाएं थीं। इसी कारण से योजना आयोग ने प्रथम पंचवर्षीय योजना के दौरान ही, 100 टन प्रतिदिन क्षमता के एक न्यूजप्रिंट कैमिकल-लुगदी-संयंत्र की स्थापना के लिए, कदम उठाने की सिफारिश की थी।

इस पर, नेपा फैक्ट्री ने भी, वित्तीय तथा अन्य कठिनाइयों के कारण, अत्यधिक समय ले लिया। 27,000 टन के लक्ष्य की तुलना में सन् 1955-56 में न्यूजप्रिंट का उत्पादन केवल 4,000 टन था। इसी दौरान, न्यूजप्रिंट की मांग बढ़ती गयी। इसलिए यह सोचा गया कि नेपा की क्षमता की कम से कम एक और फैक्ट्री दूसरी पंचवर्षीय योजना में लगनी चाहिए। यदि यह लग भी जाती, इससे सन् 1960-61 की अनुमानित मांग के आधे से भी कम की पूर्ति हो पाती।

अंततः नेपा की क्षमता को 60,000 टन तक विस्तृत करने का निश्चय किया गया। लेकिन विस्तार कार्य ने इतना अधिक समय ले लिया कि छठे दशक के अंत तक, नेपा 30,000 टन की मूल क्षमता से आगे नहीं जा सका। परिणामस्वरूप, उत्पादन लक्ष्यों को भी पूरा नहीं किया जा सका। शुरू होने के एक दशक से भी अधिक के समय के बाद भी, नेपा फैक्ट्री केवल अपनी मौलिक क्षमता के अनुसार 30,000 टन तक ही उत्पादन कर सकी।

इसी दौरान, इसकी क्षमता को और अधिक बढ़ाकर 75,000 टन तक करने का निश्चय किया गया। चौथी पंचवर्षीय योजना में, सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत 60,000 टन और अधिक क्षमता का एक और संयंत्र स्थापित करने का प्रस्ताव रखा गया।

सातवें दशक के सबसे अच्छे समय में 75,000 टन की लाइसेंस क्षमता का नेपा मिल्स प्रत्येक वर्ष औसतन लगभग 50,000 टन न्यूजप्रिंट पैदा कर रहा था। इसी दौरान, न्यूजप्रिंट की मांग बढ़ती जा रही थी जिसका अर्थ था बढ़ता आयात D प्रतिबंधित आयात के कारण कमी की स्थिति बनी रही। नेपा मिल्स के विस्तार कार्यक्रम के अतिरिक्त, 80,000 लाख टन की क्षमता के साथ हिंदुस्तान पेपर कारपोरेशन ने हिन्दुस्तान न्यूजप्रिंट लिमिटेड केरल का कार्य अपने हाथ में लिया। कर्नाटक में संयुक्त क्षेत्र में 75,000 टन की क्षमता का एक और संयंत्र निर्माणाधीन था। दोनों ही परियोजनाओं का निर्माण कार्य लंबित हो रहा था और ये दोनों संयंत्र छठी पंचवर्षीय योजना के बाद के वर्षों में शुरू किये जा सके।

छठी योजना कार्यक्रम का मुख्य आकर्षण था तमिलनाडु में 50,000 टन प्रतिवर्ष की क्षमता की गन्ने की खोई से न्यूजप्रिंट बनाने की इकाई की स्थापना। इस योजना में न्यूजप्रिंट के उत्पादन तथा क्षमता ने लम्बी छलांग लगायी।

तालिका 9.3
कागज, हल्का गत्ता और न्यूजप्रिंट (000 टन)

वर्ष	संस्थापित क्षमता		उत्पादन		परियोजित	वार्षिक खपत
	लक्ष्य	प्राप्ति	लक्ष्य	प्राप्ति	मांग	
1	2	3	4	5	6	7
कागज तथा हल्का गत्ता						
1950-51	–	137	–	116	175*	168
1955-56	211	210	200	190	200	237
1960-61	450	418	350	350	350	366
1965-66	820	680	833	558	711	584
1973-74	1000	962	850	777	अप्राप्य	780
1978-79	अप्राप्य	1390	1050	1008	1050	अप्राप्य
1984-85	2050	2400	1500	1360	1540	1400
1989-90	2700	–	1800	–	1800	-
न्यूजप्रिंट						
1950-51	–	–	–	–	60	75
1955-56	30	30	27	4	100	75
1960-61	60	30	60	23	120	98
1965-66	150	30	152	30	128	115
1973-74	165	अप्राप्य	150	49	अप्राप्य	170
1978-79	अप्राप्य	67	80	48	अप्राप्य	अप्राप्य
1984-85	230	230	180	197	500	-
1989-90	460	-	340	-	500	-

–कोई औचित्य नहीं।
1951-52 के लिए लागू नहीं।

सातवीं योजना में इस प्रक्रिया को और बढ़ावा मिला। इस प्रकार न्यूजप्रिंट में सन् 1979-80 की 75,000 टन की क्षमता सन् 1984-85 में बढ़कर 2 लाख 30 हजार हो गयी और यह सन् 1989-90 में 4 लाख से अधिक बढ़ने की आशा है। सन् 1889-90 का 4 लाख टन का प्रस्तावित उत्पादन 5 लाख की अनुमानित मांग को पूरा करने में पर्याप्त नहीं होगा। इस प्रकार आने वाले समय में आयात पर निर्भर रहना पड़ेगा।

आशा के अनुकूल उत्पादन संभव हो सकता है यदि नयी क्षमताएं तथा उसकी

उपयोगिता निश्चित योजना के अनुसार होता रहे। खोई पर आधारित लगा तमिलनाडु के संयंत्र को अभी अपनी क्षमता और उपयोगिता सिद्ध करनी है। खोई आधारित अन्य संयंत्रों का भविष्य इस संयंत्र की कार्यक्षमता पर आधारित होगा।

चिन्ता का दूसरा कारण नेपा और हिन्दुस्तान कारपोरेशन की रुग्णता है। नेपा की नवीनीकरण/आधुनिकीकरण/विस्तार की योजना अक्तूबर 1987 में पूरी होनी निश्चित थी। फिर भी, इसके क्रियान्वयन में देरी हुई। हिन्दुस्तान कारपोरेशन औसतन 100 करोड़ से भी अधिक का घाटा उठा रही है और इसकी इकाइयों का इस घाटे से उबरने की कोई संभावना नहीं है।

इस प्रकार, सार्वजनिक क्षेत्र के कागज उपयोग की अर्थव्यवस्था को ठीक करने के बारे में पुनर्विचार की आवश्यकता है। यद्यपि भौतिक रूप से यह अपने लक्ष्य की ओर है।

सीमेंट उद्योग

सीमेंट उद्योग ने योजनाबद्ध विकास के दौर में काफी उतार-चढ़ाव देखा है। पहली पंचवर्षीय योजना में सीमेंट का 53 लाख की क्षमता तथा 48 लाख टन के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया था। दोनों ही लक्ष्य थोड़ी बहुत कमी के साथ काफी सीमा तक पूरे कर लिये गये। विकास की वार्षिक क्षमता 9 प्रतिशत के लगभग थी जबकि वार्षिक उत्पादन की विकास दर कुछ अधिक थी। लेकिन यह सुखद स्थिति काफी दिनों तक नहीं चली जब से दूसरी योजना में क्षमता और उत्पादन, लक्ष्य से कम रहा था। सीमेंट उद्योग में लक्ष्यों की प्राप्ति एक असाध्य कार्य रहा है। दूसरी योजना में 160 लाख टन का महत्वाकांक्षी लक्ष्य रखा गया जो पहली योजना से तीन गुना अधिक था। लेकिन वास्तविक उपलब्धि 93 लाख टन की थी। इसका अर्थ था 67 लाख टन की कमी अथवा लक्षित क्षमता में 40 प्रतिशत की कमी। उसी प्रकार उत्पादन लक्ष्य 130 लाख टन था जबकि प्राप्ति 80 लाख टन से भी कम थी। इसमें भी क्षमता और उत्पादन में क्रमशः 13.1 प्रतिशत तथा 11.6 प्रतिशत प्रतिवर्ष की वृद्धि थी।

तीसरी योजना में 150 लाख टन की क्षमता तथा 130 लाख टन के उत्पादन का लक्ष्य रखा गया जो एक तरह से मर्यादित ही था।

इन मर्यादित लक्ष्यों के परिणामस्वरूप, इनकी उपलब्धियों में कमी भी संतुलित थी। तीसरी योजना के अन्त तक उपलब्ध वास्तविक क्षमता 120 लाख टन थी। प्राप्त उत्पादन स्तर 108.2 लाख टन था। दूसरी योजना के उच्चस्तरीय उत्पादन तथा क्षमता की विकास दरों में कमी इस तथ्य से स्पष्ट है कि क्षमता में 5.2

प्रतिशत तथा उत्पादन में 6.3 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई।

वार्षिक योजनाओं (सन् 1966-69) में क्षमता अथवा उत्पादन के किसी लक्ष्य की चर्चा नहीं थी। सन् 1968-69 के अंत तक उपलब्ध वास्तविक क्षमता तथा प्राप्त उत्पादन स्तर क्रमशः 149 लाख 60 हजार टन तथा 122 लाख 40 हजार टन था। सन् 1973-74 के अन्त तक, सीमेंट की उपलब्ध क्षमता 197 लाख 40 हजार टन तथा उत्पादन 146 लाख 60 हजार टन था। इस प्रकार योजना अवधि में क्षमता में वृद्धि 5.7 प्रतिशत की दर से तथा उत्पादन में वृद्धि और भी धीमी गति से 3.7 प्रतिशत हुई।

पांचवीं योजना में क्षमता का लक्ष्य 235 लाख टन निर्धारित किया गया। इस तथ्य को देखते हुए कि योजना के प्रारम्भ में 200 लाख टन की क्षमता उपलब्ध थी यह लक्ष्य सीमित ही था। सन् 1978-79 में उपलब्ध वास्तविक क्षमता 227 लाख 50 हजार थी। इस प्रकार क्षमता की वास्तविक विकास दर कम होकर 2.8 प्रतिशत वार्षिक की दर तक आ गयी जो चौथी योजना में प्राप्त विकास दर से भी आधी थी। पांचवीं योजना का उत्पादन लक्ष्य 208 लाख टन था। प्राप्त स्तर 194 लाख 20 हजार टन था जिससे विकास दर 5.8 प्रतिशत वार्षिक हो गयी। सन् 1979-80 में उत्पादन बिजली और वैगन की वजह से गिरकर 177 लाख टन तक आ गया।

पहली तीन पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान, विकास की दरें काफी ऊंची थीं और क्षमता और उत्पादन दोनों में ही वृद्धि हुई। लेकिन चौथी योजना से, यह स्पष्ट हो गया कि क्षमता और उत्पादन में समय अंतराल आ गया। इसी से स्पष्ट है कि क्षमता और उत्पादन विकास दरों में हर वर्ष अदल-बदल कर वृद्धि होती रही है। एक साथ नहीं। इसका यह भी अर्थ है कि पैदा की गयी नयी क्षमता अधिक उत्पादन देने में आवश्यकता से अधिक समय ले रही हैं। हाल के वर्षों में, क्षमता उपयोगिता में गिरावट का अनेक कारणों में यह भी एक कारण होना चाहिए।

पहली और दूसरी पंचवर्षीय योजनाओं के सबसे अच्छे समय में क्षमता उपयोगिता 90 प्रतिशत थी। तीसरी योजना के शुरू के वर्षों में, यह घटकर 85 प्रतिशत रह गया। बाद के वर्षों में इसमें विकास हुआ और छठे दशक के मध्य 90 प्रतिशत हुआ लेकिन आगामी तीन वार्षिक योजनाओं में इसमें गिरावट आती गयी। सातवें दशक के पहले पांच वर्षों में इसमें और गिरावट आई जब यह 70 प्रतिशत से भी कम रहा।

पांचवीं योजना के अंतिम तीन वर्षों में, यह एक बार फिर बढ़कर 85 प्रतिशत हो गया। लेकिन विकास दिखाने से पूर्व आगामी तीन वर्षों में फिर खिसककर यह 73 प्रतिशत रह गया।

छठी पंचवर्षीय योजना (सन् 1980-85) में उत्पादन का लक्ष्य 340 लाख

टन रखा गया। इसका अर्थ था लगभग 180 लाख टन की अतिरिक्त क्षमता जिससे सन् 1984-85 में कुल क्षमता बढ़कर 430 लाख हो जायेगी। यह देखने में एक बड़ा भारी काम था। हमने पहले भी देखा कि देश के सीमेंट उद्योग के इतिहास में कभी भी पांच वर्ष की समयावधि में इतनी अधिक अतिरिक्त क्षमता नहीं लगायी गयी। सर्वोत्कृष्ट परिणाम चौथी योजना में आये जब लगभग पचास लाख टन की नयी क्षमता सृजित की गयी।

भरपूर अतिरिक्त क्षमता प्राप्त करने के लिये जो योजना सुझायी गयी उसमें था, दस लाख टन के पूर्व भस्मीकरण टेक्नोलौजी पर आधारित आठ आधुनिक संयंत्रों की स्थापना, पिछड़ी सीमेंट इकाइयों की इस्पात संयंत्रों के समीप स्थापना, दक्षिणी केन्द्रीय क्षेत्रों में खंगर इकाइयों की स्थापना, कुछ वर्तमान सीमेंट संयंत्रों में पूर्व भस्मीकरण टेक्नोलौजी पर आधारित खंगर क्षमता की स्थापना तथा छोटे सीमेंट संयंत्रों की स्थापना।

गलत नीतियों के परिणाम

सन् 1955 के बाद के 25 वर्षों में, सीमेंट का लगातार अभाव बना रहा जिसका परिणाम भ्रष्टाचार, अधिक लाभ कमाना और कालाबाज़ारी था। सरकारी नीति अदूरदर्शी, प्रतिबंधात्मक, और कामचलाऊ थी। समय पर और पर्याप्त मात्रा में सीमेंट जैसी महत्वपूर्ण वस्तु के न मिलने से परियोजनाओं की लागत में वृद्धि, तथा विकासात्मक योजनाओं से मिलने वाले लाभ में देरी हुई तथा आवास एवं अन्य व्यक्तिगत निर्माण कार्यों में रुकावटें आयीं। भारतीय सीमेंट जो कभी आयात सीमेंट के मुकाबले सस्ता होता था अब प्रतियोगिता में कहीं नहीं था। दीर्घकालीन अभावों के कारण निर्यात कठिन हो गया उल्टे अधिक आयात की आवश्यकता महसूस की गयी, विशेषकर सातवें दशक के अंत में। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट है–

तालिका 9.4
सीमेंट का आयात (टनों में)

1978	1.3
1979	1.4
1980	2.2
1981	1.5
1982	1.5
1983	3.0
1984	0.5
1985	0.5

नयी क्षमता पैदा करने में निराशाजनक स्थिति बिजली, कोयला तथा यातायात की कठिनाइयों के कारण हुई और उत्पादन में हानि से और भी जटिल होती चली गयी। अनुमान के अनुसार सन् 1970-79 के दशक में सीमेंट उत्पादन की वार्षिक हानि औसतन 35 लाख टन थी। बाद के छह वर्षों (सन् 1980-85) में यह बढ़कर वास्तविक उत्पादन का लगभग एक तिहाई 90 लाख टन हो गयी। एक अकेली सबसे बड़ी कठिनाई बिजली की थी। उत्पादन वृद्धि के किसी भी कार्यक्रम की सफलता, कि वह किसी मात्रा में बढ़ती हुई मांग को पूरा कर सके, जितनी अधिक अतिरिक्त क्षमता के निर्माण पर निर्भर करती है उतनी ही संतोषजनक कच्चे माल की पूर्ति पर भी निर्भर करती है।

इस प्रकार उपलब्ध स्थिति छठी योजना के महत्वाकांक्षी विकासात्मक परिदृश्य के ठीक विपरीत थी। योजना में 180 लाख टन की अतिरिक्त क्षमता का सृजन निश्चित था जो अभी तक के इस उद्योग के इतिहास में सृजन क्षमता के बराबर तथा सन् 1969-79 के दशक में सृजित क्षमता से लगभग दुगुनी थी। फिर भी, योजना निर्माताओं की आशा फलीभूत हुई क्योंकि लक्ष्य वास्तव में पूरा हो गया था। लेकिन उत्पादन लक्ष्य में अभी भी कमी थी। सन् 1984-85 में उत्पादन 125 लाख टन था जो सन् 1979-80 के उत्पादन से कहीं अधिक था।

तालिका 9.5
छठी योजना के लक्ष्य तथा उपलब्धि (टनों में)

	लक्ष्य	*उपलब्धि*
क्षमता	43.2	42.2
उत्पादन	34.5	30.2

आंशिक विनियंत्रण से लाभ हुआ

इस उद्योग में यह सफलता सरकारी नीति में सुखद परिवर्तन के कारण संभव हो सकी जिसकी शुरुआत सातवें दशक के अंत में हुई देखी जा सकती है। टैरिफ कमीशन ने समय-समय पर वितरण के नियंत्रण तथा कीमतों में ढील देने की सिफारिश की थी। ब्यूरो ऑफ इंडस्ट्रियल कौस्ट्स एंड प्राइसेज (बी.आई. सी.पी.) ने सन् 1977 में पूंजी निवेश पर कम से कम लाभ की सिफारिश की थी। सरकार ने इस सिफारिश को मान लिया था और एक नये मूल्य फार्मूले की घोषणा की थी। सीमेंट उद्योग के लिए यह एक नया मोड़ सिद्ध हुआ। सरकार ने उद्योग को पुनर्जीवित करने और इसके विकास की दृष्टि से अल्पकालीन और दीर्घकालीन साधनों की एक मुश्त घोषणा की। एकाधिकारिक कंपनियों को सीमेंट

संयंत्र स्थापित करने की अनुमति दे दी गयी।

एक और महत्वपूर्ण घटना थी सीमेंट उद्योग के विकास पर बैठायी गयी। कमेटी (सन् 1981) की सिफारिश पर फरवरी 1982 से उद्योग के आंशिक विनियंत्रण की नीति को सरकार द्वारा मानना। इससे सीमेंट उद्योग के इतिहास में एक नये युग का सूत्रपात हुआ। नई नीति के अनुसार, कुल जमा पूंजी पर न्यूनतम 12 प्रतिशत लाभ का आश्वासन था। उत्पादन का दो-तिहाई सीमेंट निश्चित किये गये मूल्य पर लेवी के रूप में देना आवश्यक था जबकि शेष सीमेंट निर्माताओं को बाजार में खुली कीमतों पर बेचने के लिए उपलब्ध था।

दोहरी कीमतों तथा आंशिक विनियंत्रण की नीति के कारण उद्योग ने अभूतपूर्व पलटा खाया। सन् 1982-83, 1983-84 तथा 1984-85 के दौरान आंतरिक पूंजी में अच्छी खासी वृद्धि हुई जिससे अच्छे बड़े स्तर पर निवेश और आधुनिकीकरण का काम हाथ में लिया जा सका। परिणामस्वरूप, उद्योग का विस्तार न केवल क्षमता और उत्पादन में हुआ वरन् नये-नये क्षेत्रों में भी हुआ। महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान और मध्यप्रदेश में अनेक नयी इकाइयां स्थापित हुई जिससे उद्योग को अत्यधिक क्षेत्रीय संतुलन मिला।

इसके बाद उद्योग में नयी घटनाएं घटित हुई। जैसे ही छठी योजना की पुरानी अच्छी ऊंची पूंजी निवेश की इकाइयों में उत्पादन शुरू हुआ तथा कोयले, रेल, बिजली की दरों में हुई वृद्धि के कारण कच्चे माल की दर में भी वृद्धि हुई वैसे ही उत्पादन की लागत में अप्रत्याशित वृद्धि हुई। इस पर भी सरकारी दृष्टिकोण उत्साहवर्धक नहीं था और वह भी काफी देर से मिला। सरकार लेवी कीमतों को बढ़ाने की इच्छुक नहीं थी कि कहीं इससे सार्वजनिक क्षेत्र की परियोजनाओं की लागत मूल्यों में वृद्धि न हो जाये। इसलिए, सरकार पर जब भी अत्यधिक दबाव पड़ा, तभी सरकार ने लेवी के कोटे को कहीं-कहीं कम कर दिया जिससे सरकार लेवी के कारण हुए नुकसान की भरपाई बड़े खुले बाज़ार के कोटे से कर सके। यह तरीका भी काम नहीं कर सका क्योंकि बढ़ते हुए सीमेंट के आधिक्य ने खुले बाजार में मंदी का वातावरण पैदा कर दिया। इस प्रकार, सीमेंट की नयी परियोजनाओं में निवेश एक बार फिर से अनाकर्षक हो गया। जहां सातवीं योजना के लक्ष्य कमोवेश निश्चित हैं क्योंकि उन पर निवेश पहले से ही हो गया है, आठवीं योजना का भविष्य अनिश्चित है। एक बार फिर से हम कमी के इस ऐतिहासिक चक्र के लिए तैयार हैं।

जब सीमेंट खुले बाज़ार में उपलब्ध था, उस समय उद्योग के नियमन का कोई औचित्य नहीं था। फिर भी, सरकार ने कुछ समय तक इंतज़ार करने और देखने का रुख अपनाया। अन्ततः सन् 1989-90 के राजस्व वर्ष से सरकार ने सभी नियंत्रण समाप्त कर दिये। उद्योग ने अपनी तरफ से पूर्ण विनियंत्रण का

स्वागत किया लेकिन ऊंची कीमत के बचाव में तथा कमज़ोर इकाइयों को कठिन परिस्थिति से उबरने के लिए कुछ सुरक्षात्मक उपायों की मांग भी की। विनियंत्रण नीति की अपनी कुछ कठिनाइयां थीं। विशेषकर घिसीपिटी, अकुशल, कमज़ोर और पुरानी इकाइयों को पुनर्जीवित करने के लिए किया जाने वाला खर्च। यहां तक कि दस लाख टन की क्षमता वाले आधुनिकतम संयंत्र भी ऊंची पूंजी लागत के कारण विरोधाभास की स्थिति में फंसा पाते हैं और सरकार से विशेष रियायतों की मांग करते हैं। उत्पादन कर में छूट की राहत सरकार द्वारा दी गई थी परंतु उपयोग की दृष्टि से यह राहत अपर्याप्त थी। पूरे तौर पर कहा जाये तो, उभरते परिदृश्य की रूपरेखा काफी कुछ अस्पष्ट थी जो उद्योग की मध्यकालीन संभावनाओं पर प्रश्नवाचक चिन्ह लगाती थी।

अभी तो समस्या उत्पादन आधिक्य से निपटने की है। उद्योग की खरीदारी बाज़ार का अनुभव भी नहीं है। आवास, सड़क, तथा अन्य निर्माण की अत्यधिक शक्तिशाली मांग है।

ग्रामीण बाज़ार की मोटे तौर पर उपेक्षा ही की गयी है। उद्योग के लिए विपणन एक चुनौती है। लागत और गुणवत्ता की महत्ता उपलब्धि के अनुसार बढ़ती जाती है। सरकार को निर्माण कार्य, विशेषकर आवास, को प्रोत्साहन देने के लिए नीति बनाने के लिए काफी कुछ करना है। राष्ट्रीय आवास नीति तथा आवास वित्त के लिए राष्ट्रीय बैक ने तुरंत रूप में कोई विशेष प्रभाव नहीं दिखाया है।

सार्वजनिक क्षेत्र की स्थिति

सन् 1965 में भारतीय सीमेंट निगम की स्थापना की गयी। इसके उद्देश्यों में अन्य के साथ-साथ, योजना के लक्ष्यों की पूर्ति में सहायता देने की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र क्षमता की स्थापना करना मुख्य था। निगम से सर्वेक्षण करने, देश में सीमेंट ग्रेड के चूना-पत्थर भण्डारों की संभावनाओं का पता करने तथा उन्हें प्राप्त करने और उद्योग के विकास तथा विशेषता विकसित करने के लिए सभी आनुषांगिक और सहयोगी गतिविधियों संबंधी सर्वेक्षण करने की अपेक्षाएं थीं। शीघ्र ही, इसे अभावग्रस्त तथा दूरदराज के क्षेत्रों में सीमेंट संयंत्र स्थापित करने का अतिरिक्त कार्यभार भी दिया गया। वास्तव में, निगम द्वारा स्थापित की जाने वाली नयी इकाइयां केवल असम और हिमाचल प्रदेश में ही थीं और यह केवल सन् 1972 में ही था कि निगम को अन्य क्षेत्रों में इकाइयां स्थापित करने की आज्ञा मिली। तदनुसार, आगामी दशक के दौरान, निगम ने सीमेंट के संयंत्र कर्नाटक और मध्यप्रदेश में स्थापित किये। कुल सन् 1981 तक निगम ने दस लाख टन की

क्षमता स्थापित कर ली थी जो कुल क्षमता से 4 प्रतिशत अधिक थी। राज्य सरकारों द्वारा स्थापित कुल इकाइयों को मिलाकर, इस वर्ष में सार्वजनिक क्षेत्र का हिस्सा, क्षमता और उत्पादन में, लगभग दस प्रतिशत था। छठी योजना में इसे 93 लाख टन कुल क्षमता का पांचवां हिस्सा बन सके।

इस दौरान निगम के लक्ष्य काफी ऊंचे थे। इसने अपनी दसवर्षीय संभावित योजना (Perspective Plan) (सन् 1979-89) में अपनी गतिविधियों को बढ़ाने के महत्वाकांक्षी लक्ष्य बनाये। लेकिन सरकार का विचार था कि निगम को अपनी तीन इकाइयों के विस्तार और तकनीकी विकास तथा दस लाख टन के तन्दूर संयंत्र की योजना के क्रियान्वयन पर अपना ध्यान लगाना चाहिए। छठी योजना में निगम की कुल क्षमता को दस लाख से बढ़ाकर 34 लाख टन तक करने का प्रावधान किया गया।

सन् 1982 में, निगम ने 20 वर्षीय संभावित योजना (Perspective Plan) तैयार की जिसमें 33 प्रतिशत की न्यूनतम भागीदारी अथवा सन् 2000 तक 400 लाख टन की क्षमता के साथ अपने लिए एक प्रमुख भूमिका निश्चित की। लेकिन, निगम के साथ सभी कुछ ठीक नहीं था। यहां तक कि छठी योजना की परियोजनाएं भी पिछड़ रही थीं। यद्यपि सार्वजनिक क्षेत्र में नयी क्षमता की वृद्धि लक्ष्य के अनुसार (100 लाख टन) ही थी, फिर भी निगम की क्षमता में केवल 16 लाख टन अथवा लक्ष्य के आधे से भी कम की वृद्धि हुई थी। धन की कमी के कारण निगम को अपनी चलती हुई परियोजनाओं को भी टुकड़ों में पूरा करना पड़ा, नयी परियोजनाओं का तो प्रश्न ही नहीं था।

इसी दौरान, निगम की कार्यप्रणाली में भी गिरावट आ रही थी, उत्पादन गिर रहा था और नुकसान बढ़ रहे थे। इसलिए सरकार ने इसकी कार्यप्रणाली की जांच के लिए सन् 1982 में एक कमेटी बनायी। कमेटी ने देखा कि निगम की इकाइयों का उत्पादन 80 के दशक के प्रारंभ में ही गिर रहा था। निगम को पुनर्जीवन देने के लिए, कमेटी ने कुछ राहतों की सिफारिश की जिनमें ब्याज से छूट तथा कर्जों का इक्विटी शेयरों में परिवर्तन शामिल था।

लेकिन, कमेटी ने मूल बीमारी का निदान नहीं किया जिससे निगम जकड़ा हुआ था। तत्कालीन वित्त निदेशक (सन् 1985 में) के अनुसार, इसकी चार नई इकाइयों में लगाये घटिया दर्जे के उपकरण बार-बार होने वाली खराबियों (ब्रेक डाउन) तथा रखरखाव में अधिक खर्चे के लिए जिम्मेदार थे। उन्होंने आरोप लगाया था कि खरीदारी में भ्रष्टाचार, गलत तरीके, गम्भीर विपणन अव्यवस्था व्याप्त थी।

निगम, यदि पूरी तरह **भ्रष्टाचार नहीं तो कुप्रबंधन की शिकार अवश्य रही है। उद्योग में इसका प्रमुख शक्ति बनकर उभरने का सपना चकनाचूर हो गया**

था। सरकार को यह बात सुनिश्चित करनी चाहिए कि कहीं निगम का नाम भी अस्वस्थ सार्वजनिक इकाइयों की सूची में न जुड़ जाये।

ढांचागत समस्याएं

उद्योग के सामने अनेक ढांचागत समस्याएं हैं जिन पर समय से ध्यान दिया जाना आवश्यक है। अधिकांश इकाइयों में पुरानी टैक्नोलौजी है। यह सच है कि गत वर्षों में कुल क्षमता में आर्द्र प्रक्रिया इकाइयों का हिस्सा अच्छा खासा कम होता चला गया है। सन् 1950 में कुल क्षमता लगभग पूरी (97 प्रतिशत) ही थी। सन् 1985 में, इनका हिस्सा 34 प्रतिशत था जो अभी ठीक ही था। ऊर्जा संरक्षण तथा लागत में कमी के लिए, परिवर्तन की प्रक्रिया को गति देनी होगी।

दूसरे, उद्योग के संरचनात्मक आकार का अधिक क्षमता वाली इकाइयों के पक्ष में परिवर्तित किया जाना चाहिए। शुरू की इकाइयां आर्द्रता प्रक्रिया पर आधारित 60-100 टी पी डी इकाइयां थीं। बाद में 300-600 टी पी डी इकाइयां उभर-उभर कर आयीं। सातवें दशक के प्रारम्भ में, शुरू में अर्ध शुष्क और बाद में पूर्णतया शुष्कता प्रक्रिया टेक्नोलॉजी से क्षमता में वृद्धि 600 से 1200 टी. पी. डी. तथा 1500 टी. पी. डी. तक बढ़ाना संभव हो सका। पूर्व भस्मीकरण की प्रक्रिया के शुरू करने से क्षमता को 3200 टी. पी. डी. अथवा दस लाख टन प्रति वर्ष बढ़ाने में मदद मिली। यहां पर भी वर्षो के दौरान हुए परिवर्तन काफी महत्वपूर्ण हैं। लेकिन गुणवत्ता में वृद्धि करने की अभी भी काफी गुंजाइश है। सन् 1950 में, क्षमता लगभग 72 प्रतिशत 400 टी. पी. डी. इकाइयों से कम पर आधारित थी और शेष 400-1000 टी. पी. डी. इकाइयों पर आधारित थी। सन् 1986 में उपरोक्त में पहली इकाइयों का हिस्सा 15 प्रतिशत से भी कम था। जबकि बाद की इकाइयों का हिस्सा 39.3 प्रतिशत था और शेष 1000 टी. पी. डी. संयंत्रों से ऊपर के नये उत्पादनों से आया। दस लाख टन की क्षमता की इकाइयां सातवीं योजना में शुरू की जा रही हैं।

परिदृश्य के दूसरे छोर पर 200 टी. पी. डी. क्षमता से भी कम के छोटे सीमेंट संयंत्र हैं। सन् 1986 में 17 लाख 30 हजार टन की संस्थापित क्षमता के ऐसे 40 संयंत्र थे। जब सीमेंट की देश में कमी थी तब मूल्य और वितरण व्यवस्था के नियंत्रण में स्वतंत्रता तथा उत्पादन शुल्क में रियायत देकर सरकार ने छोटे सीमेंट संयंत्रों की स्थापना को प्रोत्साहन दिया। यद्यपि सीमेंट की उपलब्धता अब काफी अच्छी हो गयी है जबकि रियायतें समाप्त कर दी गयी हैं। छोटे संयंत्रों को बड़ी इकाइयों से प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। इस प्रकार, अब इनके भविष्य के प्रति विचार करने का समय आ गया है।

जैसे-जैसे प्रतिस्पर्धा बढ़ती है वैसे-वैसे ही अक्षम इकाइयों की समस्या बढ़ती जाती है। स्वतंत्र बाज़ार का सामना करने की दृष्टि से उद्योग की संरचना में बदलाव लाने की तुरंत आवश्यकता है। उद्योग का लागत मूल्य कम करने तथा कार्यक्षमता बढ़ाने के रास्ते खोजने होंगे। यह वैकल्पिक कच्चे माल अर्थात् वात भट्‌टी से निकाले धातुकण, उड़ती हुई राख जैसे औद्योगिक अपशिष्ट पदार्थों, तथा धान भूसी और घटिया स्तर के चूना पत्थर जैसे कृषि अपशिष्ट पदार्थों के उपयोग की संभावनाओं में हो सकता है। उद्योग को काफी मात्रा में सीमेंट का लाना ले जाना बढ़ाना चाहिए, प्रीमिक्स कंकरीट के प्रयोग को लोकप्रिय करना चाहिए तथा परिवहन पर बचत करने की दृष्टि से संयंत्रों की स्थापना अनेक स्थानों पर की जानी चाहिए। रोकथाम की दृष्टि से शुरू से रखरखाव करने से उद्योग के उत्पादन में होने वाले बड़े भारी नुकसान को रोका जा सकता है। इसके साथ ही, उपभोक्ता में विश्वास बनाने की दृष्टि से गुणवत्ता नियंत्रण को बनाकर रखना अत्यंत आवश्यक है। सन् 1986 में चल रहे 161 में से 48 भट्टे तीस वर्ष या इससे भी अधिक पुराने थे। इनमें 46 आर्द्रता प्रक्रिया आधारित इकाइयां थीं तथा शेष दो अर्ध शुष्कता प्रक्रिया आधारित इकाइयां। ये 48 भट्टे कुल क्षमता के लगभग आठवें हिस्से थे। सभी 63 शुष्कता प्रक्रिया इकाइयां तीस साल से भी कम पुरानी थीं और ये कुल क्षमता का 65 प्रतिशत थीं। लेकिन आर्द्रता प्रक्रिया की ये 91 इकाइयां, जो कुल क्षमता का केवल एक-तिहाई है, छोटे आकार की और अकुशल इकाइयां हैं। 35 आर्द्रता प्रक्रिया, एक अर्ध शुष्क, तथा आठ शुष्क प्रक्रिया के भट्ठों की क्षमता 300 टी. पी. डी. अथवा इससे भी कम थी। ये कुल क्षमता का लगभग दस प्रतिशत थीं। इनमें से अधिकांश 30 साल से भी अधिक पुरानी थीं। 91 में से 85 आर्द्रता प्रक्रिया के भट्टे 600 टी. पी. डी. से भी कम की क्षमता के थे लेकिन इनकी क्षमता नगण्य (3 प्रतिशत) ही थी। दूसरी तरफ 63 शुष्कता प्रक्रिया में से 46 भट्‌ठों का हिस्सा कुल क्षमता का 58 प्रतिशत था तथा इनमें से प्रत्येक की 600 टी.पी.डी क्षमता थी और ये सब 20 साल से भी कम पुराने थे। इस प्रकार मूलतः अधिक पुराना होने का प्रश्न तथा अनार्थिक आकार का सम्बन्ध आर्द्रता प्रक्रिया भट्ठों से था। संभवतः इनमें से कुछ भट्टे अब परिशोधन की सीमा से बाहर हैं तथा इनको बंद कर देना चाहिये। शेष में से, सक्षम इकाइयों की पहचान कर उनमें आधुनिकीकरण/नवीनीकरण की योजनाएं लागू की जानी चाहिएं। शुष्कता प्रक्रिया की इकाइयों में छोटे भट्ठों का विस्तार कर उन्हें अधिक कार्यकुशल बनाया जाना चाहिए।

सातवीं योजना के लक्ष्य तथा प्रगति

सातवीं योजना में क्षमता और उपयोगिता का लक्ष्य क्रमशः 600 लाख टन तथा 490 लाख टन है। योजना में अनुमान लगाया गया कि योजना के दौरान ही मांग और उत्पादन में बाद के वर्षों में तालमेल हो जायेगा। जैसा कि हमने देखा, इसकी शुरुआत हो चुकी है। मध्यकालिक समीक्षा में देखा गया है कि उद्योग के विकास में मांग सम्बन्धी अड़चनें आ सकती हैं जो पहले ही अनुभव की जा रही हैं। क्षमता वृद्धि की गति काफी तेज है और यह 600 लाख टन के लक्ष्य से आगे जा सकती है। उत्पादन का लक्ष्य भी काफी आगे जा सकता है बशर्ते कि कच्चे माल तथा मांग सम्बन्धी अड़चनें न हों। सीमेंट के निर्यात की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। सरकार ने सन् 1988-89 में 44,000 टन की सीमित योजना अनुमोदित की है तथा निर्यात में और सुविधाएँ भी देने का वायदा किया है। उद्योग की इच्छा है कि निर्यात योजना का विस्तार 3-4 लाख टन की अच्छी खासी मात्रा तक किया जा सके। समस्या के मूल में निर्यात में निहित अनुग्रह राशि का भार है। जैसी कि ऊपर चर्चा की गयी, उद्योग की समस्याओं का दीर्घकालीन हल उपरोक्त ढांचागत समस्याओं के प्रभावपूर्ण निदान से ही सम्भव हो सकता है।

अध्याय 10

आत्मनिर्भरता के लिए नियोजन

आधारभूत तथा भारी उद्योग

सन् 1950 के बाद और विशेषतः सन् 1960 से सबसे अधिक विस्मयकारी विकास प्रारंभिक धातुओं, औद्योगिक मशीनों, भारी विद्युत उपकरणों, उर्वरकों तथा भारी रासायनिक उद्योग, पैट्रोकैमिकल तथा इलैक्ट्रोनिक के क्षेत्र में हुआ है। इन सब उद्योगों का विकास एक सुविचारित सामरिक नीति, जिसको शीघ्रातिशीघ्र आत्मनिर्भरता प्राप्त करने की दृष्टि से अपनाया गया था, का परिणाम था।

इस्पात

इस्पात उद्योग निश्चित रूप से सबसे अधिक मौलिक उद्योग है जो आत्मनिर्भरता के आधार पर औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया का प्रारंभिक बिंदु समझा जाता है। यद्यपि इसके विकास पर मुख्य ज़ोर दूसरी योजना में दिया गया था, फिर भी, जैसा कि हमने पहले के अध्यायों में देखा, यह उद्योग इस शताब्दी के बराबर पुराना है। इसका प्रारम्भ सीमित था और विकास भी मंद गति से था। इस्पात की मांग आर्थिक गतिविधियों की प्रचलित धीमी गति को देखते हुए कम थी।

वर्तमान शताब्दी के प्रथम पचास वर्षों के दौरान भारत में इस्पात की खपत एक प्रकार से गतिहीन रही। सन् 1914 में 17 लाख टन से घटकर सन् 1920 में 8 लाख टन तक आ गयी, सन् 1928 में एकदम 22 लाख टन तक चढ़ी और मन्दी के दिनों में फिर से 10 लाख टन तक नीचे आ कर, सन् 1940 में 16 लाख टन तक सुधरी और इसी स्तर पर चौथे दशक के सर्वोत्तम समय में

बनी रही। प्रथम योजना से पूर्व, देश की सामान्य आवश्यकताओं अर्थात् दस लाख टन की क्षमता तथा 9 लाख 80 हजार टन के उत्पादन की तुलना में, 20 लाख टन तक आंकी गयी। इस प्रकार दस लाख टन की पहले से ही कमी थी। इसके अतिरिक्त, पंचवर्षीय योजनाओं के परिणामस्वरूप होने वाले औद्योगिकीकरण के प्रभाव से इस्पात की मांग में तेजी से वृद्धि होने की निवेशकों को आशा थी। जैसा कि इस्पात संयंत्र पर काम शुरू होने के बाद उसके पूरा होने और क्षमता के अनुसार उत्पादन करने में 6 से 7 वर्ष लग गये, यह आवश्यक था कि आने वाले पांच वर्षों के लिये ही नहीं वरन् एक दशक बाद तक के लिए बढ़ती मांग को पूरा करने के लिए, अग्रिम कार्यवाही करनी आवश्यक थी। जहां, सन् 1955-56 से आगे तक देखने का कोई प्रयास नहीं किया गया था, वहां वर्तमान कमियों तथा सन् 1955-56 तक की अतिरिक्त मांग को, वर्तमान संयंत्रों की क्षमता को बढ़ाकर तथा सार्वजनिक क्षेत्र में समेकित लौह और इस्पात के नये संयंत्र स्थापित कर पूरा करने के प्रयत्न किये गये। जहां निजी क्षेत्रों के विस्तार कार्यक्रमों से अतिरिक्त मांग के पूरा होने की आशा थी, पहले से चली आ रही मांग तभी पूरी हो सकती थी जब नया इस्पात मिल उत्पादन शुरू कर दे और इसकी आशा 1958 से पहले बिल्कुल नहीं थी, यदि सभी कुछ ठीक से चलता रहे। इस प्रकार, पांचवें दशक के सबसे अच्छे समय में भी इस्पात की कमी होने की आशा थी।

प्रस्तावित सार्वजनिक क्षेत्र परियोजना पर कोई काम तैयारी का नहीं हुआ था। विदेशी सहायकों, जर्मन कंबाइन ऑफ क्रूप्स डिमेग (German Combine of Krupps Demag) के साथ बातचीत और समझौते में समय लग गया जिसका अनुमान पहले से होना चाहिए था और प्रथम गर्म धातु का उत्पादन जिसकी आशा राउरकेला के इस संयंत्र से निकलने की योजना के अंतिम वर्ष में थी, सन् 1958 तक खिंचता चला गया। यह विलंब अनेक संशोधनों के कारण हुआ। इन संशोधनों की आवश्यकता, 8,00,000 टन ढलवां लोहे और 3,50,000 टन तैयार इस्पात की क्षमता को दस लाख टन इस्पात पिंड की क्षमता तक बढ़ाने के निर्णय के परिणामस्वरूप हुई। राउरकेला का योगदान इसलिए तीसरी योजना में ही समझा जा सका।

इसी दौरान, टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी (टिस्को), इंडियन आयरन एंण्ड स्टील कंपनी (इस्को) और मैसूर आयरन एण्ड स्टील वर्क्स (मिस्व) के विस्तृत कार्यक्रमों को क्रियान्वित किया जा सका। टिस्को के आधुनिकीकरण और विस्तृत कार्यक्रम में, पहले की भांति, विक्रय योग्य इस्पात की क्षमता को 7,80,000 टन से बढ़ाकर 9,31,000 टन करने की योजना रखी। इस कार्यक्रम में, अन्य विस्तार कार्यक्रमों की तरह ही, सन् 1955 में संशोधन किये गये। दूसरी योजना में एक अनूठा इस्पात कार्यक्रम बनाया गया और इसके क्रियान्वयन के प्रयासों के रूप

में, निजी क्षेत्रों के प्रमुख उत्पादकों को अपने विस्तार कार्यक्रमों को आगे बढ़ाने के लिए प्रोत्साहित किया गया। परिणामस्वरूप टाटा ने अपने कार्यक्रम को विशाल 20 लाख टन कार्यक्रम में संवर्द्धित कर दिया।

इंडियन आयरन के विस्तार कार्यक्रम में इसकी क्षमता को 7,00,000 टन विक्रय योग्य इस्पात और 4,00,000 टन ढलवां लोहे तक बढ़ाने की योजना बनायी गयी, अथवा, विकल्प के रूप में 6,20,000 टन इस्पात और 5,00,000 टन ढलवां लोहा। और मिस्व (MISW) की योजना अपनी क्षमता को 1,00,000 टन तैयार इस्पात तक करने की थी। बाद में, सन् 1955 में किये गये इन योजनाओं में संशोधन अंतिम तैयार माल के सम्बन्ध में थे, मिस्व में जोर अब ऊंची कीमत के विशेष इस्पात पर हो गया था।

सभी विस्तार कार्यक्रम दूसरी योजना के प्रारंभिक वर्षों में लागू किये गये।

प्रथम, योजना के अन्त में, यह अनुभव किया गया कि विकास की संभावनाओं के लिए आवश्यकता थी, देश के इस्पात कार्यक्रम को आगे बढ़ाने की और इसमें तेजी से काम करना और भी आवश्यक था और जैसा कि कुछ वर्षों के अनुभवों ने सिखाया था कि इस्पात का अभाव सुधरती अर्थव्यवस्था के लिए रोड़ा नहीं होना चाहिए। सन् 1955 में प्रत्येक दस लाख टन क्षमता (इस्पात पिण्ड) के दो और इस्पात संयंत्र, एक रूसी सहायता से मध्यप्रदेश में भिलाई में और दूसरा पश्चिमी बंगाल के दुर्गापुर में ब्रिटेन की प्रमुख इस्पात तथा अन्य फर्मों के संघ की तकनीकी सहायता से स्थापित करने का निश्चय किया गया।

राउरकेला के इस्पात संयंत्र का प्रबन्ध करने के लिए सन् 1953 में एक राजकीय कंपनी, दी हिंदुस्तान स्टील लि. की स्थापना की गयी। भिलाई और दुर्गापुर का प्रबन्ध भी इसे सन् 1957 में दे दिया गया। इसके पास प्रारंभ में 100 करोड़ रुपये की अधिकृत पूंजी तथा 5 लाख रुपये की प्रदत्त पूँजी थी–जिसमें से 4 लाख सरकारी योगदान और शेष जर्मन कम्बाइन से मिला था।

अधिकृत पूंजी और अंश पूंजी को बाद में बढ़ाकर क्रमशः 600 करोड़ रुपये तथा 300 करोड़ रुपये कर दिया गया–अंश बाद में पूरी तरह से सरकार द्वारा खरीदे गये थे।

राउरकेला और भिलाई संयंत्रों का एक साथ ही सन् 1959 के प्रारंभ में तथा दुर्गापुर संयंत्र का उसी वर्ष दिसंबर में पूरा होना यह दिखाता है कि नये संयंत्रों की स्थापना कितनी शीघ्रता से की गयी। इस पर भी ये तय की गयी तारीख से पीछे हैं। यद्यपि सन् 1959-60 में इन्होंने इस्पात-निर्माण कार्य शुरू कर दिया, इनके संचालन में सन् 1962 तक भी स्थिरता नहीं आयी। परिणामस्वरूप, उत्पादन के नियोजित लक्ष्य पूरा होने में काफी कमी रही। वास्तविक उत्पादन 43 लाख टन के लक्ष्य की तुलना में केवल 24 लाख टन

ही हो सका। लेकिन ऐसे देश के लिये, जिसने पचास वर्षों में दस लाख टन की क्षमता ही बनायी थी, लगभग पांच वर्ष की अवधि में 30 लाख टन की क्षमता प्राप्त करना एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। यह जोखिम की जटिलता तथा नयेपन को देखते हुए, एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी।

तीनों सार्वजनिक क्षेत्र के संयंत्रों की लागत का मौलिक अनुमान 353 करोड़ रुपये (आवासीय कॉलोनी, कच्चे लोहे की खानें तथा खदान मज़दूरों के खर्च को निकालकर) का था जिसमें 228.5 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा भी सम्मिलित थी। सहायक उद्योगों के लागत मूल्यों को मिलाकर यह अनुमान 425 करोड़ रुपये (290 करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा) हो गया था। इसे, सन् 1956 में, अन्तिम विस्तृत परियोजना रिपोर्टों के आधार पर, संशोधित कर, 559 करोड़ रुपये (विदेशी मुद्रा 299.64 करोड़ रुपये) कर दिया गया। निजी क्षेत्र की योजनाओं के खर्च में लागत अनुमानों की तुलना में काफी अधिक वृद्धि हुई। टाटा को प्रारंभिक अनुमान से लगभग 30 करोड़ रुपये अधिक का निवेश विनियोग करना पड़ा।

भारत के इस्पात कार्यक्रमों की लागत की चर्चा काफी हो चुकी है और इसके विशेष कारण भी हैं। लेकिन इसके साथ राष्ट्रीय बचत भी आवश्यक है। सन् 1951-55 के पांच वर्षों में लोहे और इस्पात का आयात, पहले वर्ष में 1,78,000 से प्रारंभ हो कर तथा अंतिम वर्ष में 9,04,000 तक पहुंच कर, 19 लाख टन हो गया था। इसके बाद अचानक मांग में वृद्धि हुई और आयात सन् 1956 में 17 लाख टन से भी अधिक हो गया। सन् 1957-58 की विदेशी मुद्रा की कठिनाइयों के बावजूद, इस्पात के आयात की आज्ञा देनी पड़ी जिससे देश में आयी औद्योगिक लहर कहीं व्यर्थ न चली जाये। सन् 1956-60 के दौरान, कुल आयात 66 लाख टन हुआ अर्थात् प्रतिवर्ष दस लाख टन से भी अधिक। इसमें देश की 519 करोड़ रुपये की मूल्यवान विदेशी मुद्रा लगी जो देश के दस लाख टन क्षमता के तीन संयंत्रों के लागत मूल्य के बराबर थी। इस संदर्भ में दूसरी योजना के इस्पात कार्यक्रमों की प्रशंसा होनी चाहिए, जिनसे इस्पात पिंडों की क्षमता 4 गुनी अर्थात् 60 लाख टन तक बढ़ा दी गयी और यह तभी संभव हो सका क्योंकि सरकार ने इस कार्य में पूरे जोर-शोर से प्रवेश किया। उत्पादन की कीमत, नई क्षमता के अनुसार 750 करोड़ रुपये की लागत से 1956-61 के दौरान बनायी गयी जो प्रतिवर्ष 200 करोड़ रुपये आंकी गयी।

एक दशक के अंदर ही, इस उद्योग की अर्थव्यवस्था की ऊंचाइयों को, जिस पर पांच दशकों से टाटा का आधिपत्य था, सार्वजनिक क्षेत्र ने अपने नियंत्रण में कर लिया। लेकिन टाटा ने इस दौरान अपनी क्षमता को दुगुना कर लिया था और इन्ही दिनों में, अपने साम्राज्य में, इण्डियन ट्यूब कम्पनी, देश की सबसे बड़ी ट्यूब निर्माण कंपनी, की स्थापना की।

तीसरी योजना में, पूंजीगत माल तथा उत्पादक माल उद्योगों में निवेश पर जोर देते हुए, त्वरित औद्योगिकीकरण पर ज़ोर दिया जाता रहा। इस्पात में, देश अब त्वरित विकास का केन्द्र बन चुका था। दूसरी योजना में, इस्पात उत्पादन में प्राप्त सफलता से प्रोत्साहित होकर, सरकारी और गैरसरकारी संस्थाएँ, आने वाले वर्षों में इस्पात की मांग का मूल्यांकन तथा पुनर्मूल्यांकन करने में व्यस्त हो गयीं। इस पर चारों ओर एक तर्कपूर्ण हर्ष की लहर थी जिसमें निवेशकों और विशेषज्ञों का विवेकपूर्ण निर्णय झलकता था। क्योंकि उनमें से अधिकांश अपना लक्ष्य उससे भी अधिक निश्चित करना चाहते थे जितना कि बाद की गतिविधियों से ठीक उतरा।

तीसरी योजना में लगभग सभी अतिरिक्त क्षमता सार्वजनिक क्षेत्र को देते हुए इस्पात पिंडों का लक्ष्य 102 लाख टन पर निश्चित किया गया। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए निम्न तरीका प्रस्तावित किया गया।

कम लागत पर अधिक और शीघ्र परिणाम प्राप्त करने की दृष्टि से सार्वजनिक क्षेत्र के वर्तमान संस्थानों के विस्तार पर जोर दिया गया। यह आशा की जाती थी कि ये विस्तार कार्यक्रम तैयार इस्पात में प्रति टन निवेश की दर 2000 रुपये से घटाकर 1500 रुपये तक कर देंगे। चूंकि, अभी भी उपलब्धि में दस लाख टन की कमी थी, इसको बोकारो में नया संयंत्र स्थापित कर पूरा करने का निश्चय किया गया। नेवेली पिग आयरन प्रोजेक्ट भी योजना में सम्मिलित किया गया, जिससे आशा थी कि यह दक्षिण भारत में इस्पात संयंत्र के लिए अवसर मिलेगा। लेकिन योजना में इसको सम्मिलित करने के पूर्व कोई प्रारंभिक सर्वेक्षण नहीं किया गया।

बोकारो की योजना अंततः 20 लाख टन उत्पादन क्षमता के लिए बनायी गयी थी विशेषकर सपाट उत्पादों के लिए जिनकी अभी, राउरकेला के उत्पादों–मुख्यतः चद्दरों और पतरों–को मिलाकर भी कम थी। बोकारो से सन् 1965-66 में 3 लाख टन विक्रय योग्य इस्पात के योगदान की आशा थी।

तीसरी योजना के प्रारंभिक वर्षों में, सपाट उत्पादों, जिनको आयात करना पड़ता था और प्राथमिक स्तर पर वितरण करना पड़ता था, की पूर्ति में कमी होने की आशा थी।

विलंब और विघ्न-बाधा

तीसरी योजना पांच वर्षों में दो युद्धों और तीन खराब मानसूनों के कारण, दुर्भाग्यपूर्ण था और इस्पात कार्यक्रम गड़बड़ा गया। बोकारो अभी पूरी तरह जमा नहीं था और राउरकेला तथा दुर्गापुर विस्तार कार्यक्रमों में कम से कम दो वर्षों का विलंब हो गया था क्योंकि इनको विदेशी सहायता से जोड़ने में कठिनाइयां

आ रही थीं। यद्यपि भिलाई का विस्तार सन् 1965-66 में पूरा हो चुका था, इससे इस्पात का उत्पादन 68 लाख टन के लक्ष्य की तुलना में केवल 46 लाख टन ही था। तालिका 10.1 में दर्शाये गये आंकड़ों से लक्ष्य प्राप्ति में कमी स्पष्ट है–

तालिका 10.1
लक्ष्य और उपलब्धियां : 1965-66 (लाख टनों में)

	क्षमता		*उत्पादन*	
	लक्ष्य	*वास्तविक*	*लक्ष्य*	*वास्तविक*
इस्पात पिंड	102	70	92	62
तैयार इस्पात	76	52	68	46
विक्रय के लिये ढला लोहा	15	12	15	12

यदि सन् 1961-66 के वर्षों में आयात इतने अधिक नहीं थे जितने कि उत्पादन में कमी के बावजूद गत पंचाब्द में, यह तो बाद के वर्षों में आर्थिक विकास की धीमी पड़ती गति के कारण थी। इस पर भी इनका औसत 100 करोड़ रुपये (अवमूल्यन से पूर्व) प्रति वर्ष रहा।

बोकारो को औपचारिक रूप से तीसरी योजना में सम्मिलित कर लिया गया और यहां तक कि यह सोचे बिना कि इसके लिए आवश्यक उपकरण तथा तकनीकी सहायता कहां से आयेगी, सन् 1965-66 में इसके उत्पादन के लिए ऋण भी ले लिया गया। यह मई 1962 तक भी नहीं था जब दृढ़ विकास का प्रथम कदम उठाया गया क्योंकि तभी यू.एस.एड. ने बोकारो के एक तकनीकी-आर्थिक अध्ययन के लिए यू. एस. स्टील कारपोरेशन को जिम्मेदारी सौंपी। तकनीकी आर्थिक अध्ययन की रिपोर्ट सरकार को सन् 1963 में मिली और सहायता का प्रस्ताव समाप्त हो गया। इसके बाद सोवियत संघ सरकार के साथ बातचीत के दौर चले। अन्त में सन् 1966 के प्रारंभ में, बोकारो पर विस्तृत परियोजना रिपोर्ट के स्वीकृतिपत्र (मेमोरेंडम ऑफ एक्सेप्टेंस) पर हस्ताक्षर हुए। इस प्रकार बोकारो की स्थिति निरकुंश सी थी। संयोगवश, यदि यू.एस. एड. प्रस्ताव असफल न होते, अमेरिका भी, इंग्लैंड, पश्चिमी जर्मनी तथा रूस के साथ, भारत के इस्पात-विकास कार्य में भागीदार हो सकता था। (लेकिन, पचास वर्ष पूर्व, अमेरिकी इंजीनियरों ने टिस्को के निर्माण और संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी।)

यदि बोकारो में काफी विलंब हुआ, दूसरे भी प्रस्ताव थे–सभी निजी क्षेत्र में–जो अनेक कारणों से क्रियान्वित नहीं हुए। इनमें टाटा का विस्तार कार्यक्रम भी था। सरकार ने, पहले अप्रैल 1963 में टाटा की (पुरानी) चौथी पंचवर्षीय

योजना (सन् 1966-71) के दौरान दस लाख टन के विस्तार के कार्यक्रम को अनुमोदित कर दिया और बाद में सन् 1965 में, इसके 40 लाख टन के विस्तार के लिए सहमत हो गयी। लेकिन कंपनी ने 1966 में वित्तीय अभाव को देखते हुए अपने 40 लाख टन के विस्तार कार्यक्रम को आगे न बढ़ाने का निश्चय किया।

इस प्रकार, तीसरी और चौथी योजना के मध्य के अवकाश काल में क्रियान्वित होने वाले जो विस्तार कार्यक्रम थे : भिलाई–32 लाख टन; टाटा–30 लाख टन; तथा इंडियन आयरन–3 लाख टन का (सब इस्पात पिंडों में)।

ठहराव

चौथी योजना में इस्पात लक्ष्यों द्वारा समेकित इस्पात संयंत्रों की कुल क्षमता को, सन् 1968-69 के लिए 89 लाख टन (इस्पात पिंड में) तथा 67 लाख टन (विक्रय योग्य इस्पात में) से बढ़ाकर 120 लाख टन (इस्पात पिंड में) तथा 190 लाख टन (विक्रय योग्य इस्पात में) रखा गया। ऐसे में, इस्पात उत्पादन का कार्यक्रम इस प्रकार बनाया गया जिससे चौथी योजना की समयावधि में 33 लाख टन की अतिरिक्त क्षमता बढ़ सके। इसे बहुत अधिक महत्वाकांक्षी योजना नहीं कहा जा सकता, विशेषकर इस बात को देखते हुए कि देश की दूसरी और तीसरी योजना के दशकों में अतिरिक्त क्षमता 70 लाख टन हो गयी थी। इसमें और अधिक योगदान भिलाई और इस्को संयंत्रों के विस्तार कार्यक्रमों के पूरा हो जाने से तथा बोकारो के बन जाने से होना था जो 25 लाख टन की क्षमता का योगदान था। विक्रय योग्य इस्पात के 23 लाख टन अतिरिक्त उत्पादन की आशा सुविधाओं के संतुलन और तकनीकी सुधारों के परिणामस्वरूप हुए अच्छे काम द्वारा इन्हीं योजनाओं तथा देश में लगे इस्पात संयंत्रों से की जा सकती थी।

फिर भी, जैसा कि देखने में आया, सन् 1969 तथा 1974 के दौरान कोई नई क्षमता नहीं बनायी जा सकी। बोकारो के प्रथम चरण के क्रियान्वयन में भी अनेक समस्याओं जैसे देश के निर्माताओं तथा सप्लायरों द्वारा समय पर उपकरणों का न देना, इस्पात की कमी तथा श्रम समस्या आदि के कारण विलंब हुआ। भिलाई की क्षमता को 32 लाख टन की अपेक्षा 40 लाख टन करने का निश्चय किया गया। जहां इस कार्य के लिए सन् 1971 में लोहा-निर्माण संबंधी सुविधाओं की संस्थापना हुई, वहां चौथी योजना के अंत तक भी इस्पात-निर्माण संबंधी सुविधाओं में कोई प्रगति नहीं हुई। न ही इस्को के विस्तार कार्यक्रम में कोई प्रगति हुई।

इस प्रकार चौथी योजना में इस्पात की क्षमता और उत्पादन दोनों ही में ठहराव आ गया। वास्तव में, मुख्य उत्पादकों का उत्पादन कार्य, उपलब्ध क्षमता सीमाओं में भी, संतोषजनक नहीं था। सन् 1969-70 में कुछ सुधार (48 लाख

टन) के बाद भी इस्पात का उत्पादन बाद के वर्षों में सामान्यतः गिरता रहा, यहां तक कि सन् 1973-74 में यह सबसे कम 44 लाख टन तक आ गया। क्षमता का उपयोग भी 1968-69 के 70 प्रतिशत से गिरकर 1973-74 में 65 प्रतिशत से नीचे तक आ गया। सार्वजनिक क्षेत्र के संयंत्र विशेष रूप से किसी न किसी रोग से ग्रस्त थे। श्रम असंतोष तथा अच्छे किस्म के अपवर्तकों की कमी के अतिरिक्त सन् 1971 में कोक चूल्हा बैट्रियों में आये एक बड़े व्यवधान ने भिलाई की कार्यगति में गम्भीर रूप से रुकावट डाली। दुर्गापुर संयंत्र को अन्य कारणों के अतिरिक्त, अशान्त औद्योगिक सम्बन्धों के कारण भी लगातार पीड़ित रहने से अकेली विशेष रूप से दुर्भाग्यपूर्ण इकाई माननी चाहिए। बंद और हड़तालों के द्वारा संयंत्र को लगभग 35 लाख श्रम-घण्टों की हानि हुई, जिसके परिणामस्वरूप, चार वर्षों में, सन् 1969-70 से सन् 1972-73 तक, 36 करोड़ रुपये की उत्पादन-हानि हुई।

राउरकेला संयंत्र भी इस तरह की कठिनाइयों से बचा नहीं था। यदि यहां पर श्रम समस्या नहीं थी, बिजली कटौती के कारण कोक चूल्हों की खराब स्थिति, अथवा खराब उपकरणों के कारण व्यवधान थे। सन् 1971 में मेल्टिंग कार्यशाला की छत का गिर जाना एक बड़ी दुर्घटना थी जिससे पूरे संयंत्र का संचालन महीनों तक प्रभावित रहा।

एच.एस.एल. संयंत्रों ने पूरी चौथी योजना की अवधि में अपनी क्षमता से कम काम किया। इसमें भिलाई एक अपवाद था जिसने 75 प्रतिशत उपयोगिता दिखायी। राउरकेला ने भी 60 से 65 प्रतिशत तक काम किया। लेकिन यह दुर्गापुर का खराब रिकार्ड था जिसके कारण एच.एस.एल. संयंत्रों की पूर्ण क्षमता को काफी कम कर दिया। दुर्गापुर इकाई ने अधिकांश वर्षों तक अपनी क्षमता से अच्छा काम किया तथा खराब से खराब वर्षों में 40 प्रतिशत काम दिया।

इस्को, जो कभी अन्य संयंत्रों के लिए आदर्श माना जाता था, भी अब अच्छी स्थिति में नहीं था। इसका उत्पादन सन् 1965-66 के 7 लाख, 23 हजार टन से एकदम गिरकर सन् 1971-72 में 5 लाख टन रह गया। इसका कारण था प्रबन्धकों द्वारा लम्बे समय तक ध्यान न देने के कारण मशीनों और संयंत्रों की हालत में गिरावट। श्रम समस्याओं ने स्थिति को और बिगाड़ दिया। इसलिए सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ा और इसकी अधिक गिरावट को रोकने तथा अंततः नया जीवन प्रदान करने की दृष्टि से इसका प्रबंध अपने हाथ में लेना पड़ा। फिर भी, इससे कोई तुरन्त जीवनदान नहीं मिला। उत्पादन फिर सन् 1972-73 में गिरकर 3 लाख 47 हजार टन तक आ गया तथा बाद के वर्ष में कुछ सुधर कर 3 लाख 58 हजार टन तक आ गया। क्षमता की उपयोगिता सन् 1968-69 की 80 प्रतिशत से घटकर सन् 1973-74 में 45 प्रतिशत आ गयी।

इसके विपरीत टिस्को का कार्य कुछ संतोषजनक था, यद्यपि बाद के वर्षों में इसे भी थोड़ी-बहुत समस्याएं आयीं। विक्रययोग्य इस्पात का इसका उत्पादन सन् 1968-69 के 14.65 लाख से घटकर सन् 1973-74 में 12 लाख टन आ गया। इसी के समान क्षमता उपयोग भी लगभग 98 प्रतिशत (तैयार इस्पात के मामले में) के उच्च स्तर से घटकर 80 प्रतिशत रह गया।

चौथी योजना में इस्पात विकास कार्यक्रम में कुल निवेश 1903 करोड़ रुपये का था जैसाकि तालिका 10.2 में दर्शाया गया है।

तालिका 10.2
इस्पात में निवेश 1969-74 (करोड़ रुपयों में)

संयंत्र	*विनियोजन*
1. भिलाई	311
2. दुर्गापुर	157
3. राउरकेला	278
हिन्दुस्तान स्टील लि. (कुल)	746
4. बोकारो	893
5. टिस्को (TISCO)	151
6. इस्को (IISCO)	113
कुल जोड़	1903

वित्तीय दृष्टि से, इस निवेश से लाभ, नगण्य ही रहा है। सन् 1973-74 में भिलाई, राउरकेला और टिस्को ने बचत दिखायी। जबकि शेष समस्याग्रस्त थे। इन संयंत्रों में दो लाख से भी अधिक व्यक्ति कार्यरत थे, अकेले एच.एस. एल. में 1.15 लाख से भी अधिक थे।

बोकारो इस्पात परियोजना

पहले हम यह देख चुके हैं कि चौथी योजना के दौरान कोई नयी इस्पात क्षमता नहीं जोड़ी गयी। यह अनुचित होगा यदि यहां स्वीकृत क्षमता की चर्चा न हो, अर्थात् उस क्षमता की चर्चा जो योजना के दौरान शुरू हो जानी चाहिए थी लेकिन विलंब का शिकार थी। सन् 1966 में बनी प्रारंभिक निर्माण योजना में बोकारो के प्रथम चरण (17 लाख टन) का निर्माण सन् 1970 के अन्त तक पूरा होने का प्रावधान था। बिहार में सूखा पड़ने के कारण भवन निर्माण कार्य शुरू करने में ही 9 महीने का विलम्ब हो गया। इसके बाद विलंब संयंत्र और उपकरण के देशी सप्लायरों के सामने आयी कठिनाइयों, ठेकेदारों द्वारा भुगती गयी श्रम

समस्याओं, तथा आवश्यक निर्माण सामग्री के अभाव के कारण हुआ। सन् 1974 में संशोधित निर्माण अनुसूची के अनुसार, प्रथम चरण, कोल्ड रोलिंग मिल के सिवाय, सन् 1975 के अन्त तक पूरा करने की योजना बनायी गयी।

इसी दौरान, बोकारो के दूसरे चरण का 40 लाख टन का विस्तार कार्यक्रम सन् 1970 में स्वीकृत हुआ था जो फिर रूस की सहायता से प्रथम चरण की ही कड़ी में था। मेटालर्जिकल एण्ड इंजीनियरिंग कंसल्टेंट्स इंडिया लिमिटेड (मेकोन) विस्तार कार्यक्रम के प्रमुख सलाहकार नियुक्त किये गये।

बोकारो परियोजना में अनेक विशेषताएं थीं जो सम्भवतः कुछ इसकी समस्याओं के लिये भी उत्तरदायी थीं। प्रथम चरण से लेकर 17 लाख टन तक की क्षमता में भावी विस्तार के लिए बहुत अधिक सम्भावनाएँ निहित हैं। इसलिए इसकी लागत और काम का मूल्यांकन परियोजना से होने वाले तुरन्त लाभों के आधार पर नहीं किया जा सकता है। बोकारो की अवधारणा भी शुरू से ही अधिकतम देशी कौशल और निर्माण सम्बन्धी सुविधाओं पर आधारित परियोजना के रूप में की गयी थी। भारतीय फर्म–मै. एन. एन. दस्तूर एण्ड कं. की सेवाएँ, इसलिए रूसी सलाहकारों के साथ प्रथम चरण के डिज़ाइन और अभियांत्रिकी में ली गयी थी। स्वदेशी संसाधनों पर आधारित 17 लाख टन के चरण के लिए भवन संरचना का लगभग 90 प्रतिशत, टैक्नोलौजिकल संरचना का 100 प्रतिशत, मशीनी उपकरण का 65 प्रतिशत, विद्युत उपकरणों का 48 प्रतिशत, माध्यम उपकरणों का 80 प्रतिशत, तथा उपवर्तकों का लगभग 60 प्रतिशत की योजना बनायी गयी है। इससे हमारे उपकरण निर्माताओं को अनेक परिष्कृत वस्तुओं के बनाने के लिए अपने कौशल विकास का अवसर मिला है। विस्तार के दूसरे चरण में, स्वदेशी तत्व लगभग 100 प्रतिशत होने की आशा है। यह याद करने की बात है कि भिलाई (प्रथम चरण) का आयात तत्व 87 प्रतिशत तक अधिकतम था और विस्तार के चरण में (25 लाख टन) यह कम किंचित 77 प्रतिशत था।

प्रथम चरण की स्वीकृत लागत पूंजी 758 करोड़ रुपये थी फिर भी उपकरण कीमतों और निर्माण लागत में वृद्धि को देखते हुए सन् 1975 में अनुमानित खर्च को संशोधित कर 941 करोड़ तक बढ़ाना पड़ा। इस तथ्य को भी स्वीकार किया जाना चाहिए कि राउरकेला की भांति बोकारो की अवधारणा सपाट उत्पादनों के लिए थी जिनमें अधिक निवेश की आवश्यकता होती है।

पांचवीं योजना में प्रगति

पांचवीं योजना के प्रारूप में इस्पात पिंडों का क्षमता-लक्ष्य 151.5 लाख टन तथा उत्पादन-लक्ष्य 127.5 लाख टन रखा गया। इसका अर्थ था योजना के दौरान

क्षमता और उत्पादन में महत्वपूर्ण प्रगति। इस्पात पिंड का उत्पादन दुगुने से अधिक, सन् 1973-74 के 63.2 लाख टन से सन् 1978-79 में 127.7 लाख टन होने की आशा थी। तुलना के लिए यह कहा जा सकता है कि इस्पात संयंत्रों की क्षमता और उत्पादन का प्राप्त स्तर सन् 1973-74 में क्रमशः 89.0 लाख टन और 57.2 लाख टन था। अतिरिक्त क्षमता की आशा भिलाई के 40 लाख टन तक किये गये विस्तार, बोकारो का 47.5 लाख टन तक होता लगातार विस्तार तथा विशाखापटनम और विजयनगर इस्पात संयंत्रों के क्रियान्वयन में महत्वपूर्ण प्रगति से थी। यह भी प्रस्ताव था कि टिस्को के विस्तार पर विचार किया जाये जिसके लिए तकनीकी-आर्थिक अध्ययन शुरू किया गया। वर्तमान संयंत्रों में उन्नत उत्पादनशीलता तथा उत्पादन के लिए टेक्नोलौजिकल सुधार भी किये जायेंगे। संबंधित उत्पादन के लिए क्षमता के और अधिक बेहतर उपयोग के लिए कदम उठाने पर भी विचार किया गया।

अंतिम पांचवीं योजना (सितंबर 1976) में सन् 1978-79 के लिए क्षमता लक्ष्य को दस लाख टन से भी अधिक बढ़ाकर 164.0 लाख टन तक किया गया जबकि उत्पादन लक्ष्य को कम कर 14.5 लाख टन कर दिया गया। इसी प्रकार तैयार इस्पात के लिए क्षमता लक्ष्य 117 लाख टन से बढ़ाकर 130.2 लाख टन किया गया जबकि उत्पादन का लक्ष्य 94 लाख टन से घटाकर 88 लाख टन किया गया। इस पर भी, इसका अर्थ था सन् 1973-74 के उत्पादन स्तर के 48.9 लाख टन के ऊपर प्रतिवर्ष अतिरिक्त 40 लाख टन तैयार इस्पात।

सौभाग्य से, एकीकृत इस्पात संयंत्रों में पांचवीं योजना में निरन्तर प्रगति हुई है। बिजली की कमी और इसके परिणामस्वरूप कोयले की कमी ने सन् 1973-74 में उत्पादन को प्रभावित किया है। भारतीय इस्पात प्राधिकरण ने जिसकी स्थापना सन् 1973 में समेकित इस्पात संयंत्रों के समन्वित कार्य-संचालन के लिए की गयी थी, सन् 1974-75 में अच्छे परिणाम सुनिश्चित करने के लिए एक कार्य योजना बनायी। विक्रय योग्य इस्पात का 49 लाख टन का उत्पादन एक रिकार्ड था जिसने अपने पहले के सन् 1966-67 के 48.4 लाख टन के सर्वोत्तम उत्पादन को पछाड़ दिया। लेकिन यदि सन् 1974 की रेलवे हड़ताल तथा दामोदर घाटी निगम से बिजली कटौती न होती तो उत्पादन और अधिक हुआ होता।

विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन सन् 1975-76 में 57.8 लाख टन तक बढ़ गया जो गत वर्ष के मुकाबले में लगभग 9 लाख टन अधिक था। इसमें क्षमता का उपयोग भी लगभग 84 प्रतिशत हुआ। भिलाई और दुर्गापुर जैसी वैयक्तिक इकाइयों ने उत्पादन और क्षमता-उपयोगिता में अपने-अपने रिकार्ड कायम किये। यह सब अधिक निवेश की उपलब्धता, अच्छे औद्योगिक संबंधों और बेहतर अनुशासन से संभव हो सका।

सन् 1976-77 का वर्ष और भी अधिक अच्छा सिद्ध हुआ। 69.2 लाख टन पर, समेकित संयंत्रों द्वारा विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन पूरे तौर पर 11.4 लाख टन गत वर्ष के रिकार्ड स्तर की अपेक्षा 11.4 लाख टन बेहतर था। इस वर्ष में क्षमता उपयोगिता में भी 90 प्रतिशत की वृद्धि हुई। भट्ठियों द्वारा 6 लाख टन के उत्पादन के साथ, सन् 1976-77 में कुल तैयार इस्पात उत्पादन 75.2 लाख टन अथवा पहले वर्ष की अपेक्षा लगभग पांचवां हिस्सा अधिक हुआ। सन् 1977-78 में उत्पादन में फिर वृद्धि हुई, यद्यपि यह वृद्धि उतनी अच्छी नहीं थी जितनी कि पहले वर्ष में थी। यह 76 लाख टन से भी अधिक थी, यूं इसका कारण मुख्य रूप से लघु इस्पात संयंत्रों द्वारा उत्पादित 9 लाख टन का अधिक योगदान था।

आंशिक रूप से खराब रखरखाव के परिणामस्वरूप, लेकिन मुख्यतः कोयले और बिजली की अपर्याप्त पूर्ति के कारण, मुख्य संयंत्रों का उत्पादन बाद के वर्षों में काफी कम रहा। तैयार इस्पात का उत्पादन सन् 1977-78 के 69 लाख टन से घटकर सन् 1978-79 में 66 लाख टन रह गया और सन् 1979-80 में और अधिक घटकर 60 लाख टन रह गया। मांग भी काफी कम रही लेकिन उत्पादन में आयी तीव्र गिरावट ने अभाव की स्थिति पैदा कर दी। सन् 1977-78 में भण्डार 12.5 लाख टन के लगभग थे। यह 1975-76 के 5 लाख टन से 1976-77 में 15 लाख टन तक की आयात में वृद्धि होने के बावजूद था। इस प्रकार चाहे इस्पात हो अथवा सीमेंट, अर्थव्यवस्था निम्नस्तरीय असंतुलन से लड़खड़ा रही थी।

अतिरिक्त क्षमता की निकट सम्भावनाएं बोकारो और भिलाई विस्तार परियोजनाओं के शुरू होने पर निर्भर करती थीं। कहा गया था कि 17 लाख का चरण सन् 1976 के अन्त तक पूरा हो जायेगा लेकिन यह सन् 1977-78 के दौरान ही पूरी तरह से शुरू किया जा सका। पूरा होने के समीप 40 लाख का चरण तथा निर्माणाधीन 40 लाख टन का भिलाई विस्तार, जो सन् 1981 दिसंबर तक पूरा होना निश्चित था, इनसे उत्पादन में योगदान की आशा छठी योजना के बाद के वर्षों में ही थी।

नये इस्पात संयंत्र

इस्पात संयंत्रों की स्थापना में निहित लंबी कार्यावधि को देखते हुए, नयी इकाइयों के लिए संभव स्थानों के चयन के लिए प्रयत्न लगातार जारी थे। सन् 1965 में छः स्थानों जैसे होस्पेट, गोवा, सेलम, नेवेली, बेलाडिला और विशाखापट्टनम् के लिए एक व्यापक अध्ययन ब्रिटिश और अमेरिकन स्टील कन्सोर्टियम द्वारा

किया गया था। इसे बाद में एच.एस.एल. के सी.ई.डी.वी. द्वारा पूरा कर लिया गया था। संशोधित अध्ययन के आधार पर सरकार ने सन् 1970 में तीन स्थानों, सेलम, विशाखापट्टनम् और विजयनगर में तीन नये संयंत्रों की स्थापना का निश्चय किया। यह निश्चित किया गया कि सेलम का डिजाइन व निर्माण 2,20,000 टन विशेष इस्पात के उत्पादन के लिए होगा जबकि अन्य दो संयंत्र मूलरूप से हल्के इस्पात के उत्पादन के लिए होंगे।

दो प्रस्तावित हल्के इस्पात संयंत्रों में से, यह केवल विज़ाग संयंत्र ही है जो क्रियान्वयन के लिए हाथ में लिया गया है। मूलरूप से इस संयंत्र की अवधारणा पूरा होने की स्थिति में 30 लाख टन इस्पात उत्पादन की थी। विस्तृत परियोजना की रिपोर्ट मैसर्स दस्तूर एण्ड कंपनी द्वारा बनायी गयी थी जिन्होंने परियोजना की लागत 2000 करोड़ रुपये आंकी थी सरकार ने अब रूसी सहायता से संयंत्र की स्थापना का अनुमोदन किया है।

छठी योजना के कार्य परिणाम

छठी योजना में अनुमान लगाया गया कि तैयार इस्पात की मांग सन् 1979-80 की 80 लाख टन से सन् 1984-85 में बढ़कर 129 लाख टन हो जायेगी। योजना में उत्पादन लक्ष्य 115 लाख टन रखा गया–81 लाख टन सार्वजनिक क्षेत्र से तथा 34 लाख निजी क्षेत्र से। परिणामस्वरूप, क्षमता लक्ष्य 145 लाख टन का था– 98 लाख टन सार्वजनिक क्षेत्र से तथा शेष निजी क्षेत्र से। योजना की अवधि में बढ़ी हुई मांग की पूर्ति निश्चित की गयी अधिक क्षमता, बेहतर क्षमता उपयोगिता, लघु इस्पात संयंत्रों से अधिक उत्पादन, तथा आयात से करने का अनुमान था।

लेकिन लक्ष्यों की प्राप्ति में काफी कमी रह गयी थी। सन् 1984-85 में कुल प्राप्त क्षमता केवल 125.4 लाख टन अर्थात् लक्ष्य से 20 लाख टन कम तथा कुल प्राप्त उपयोगिता 88 लाख टन अर्थात् लक्ष्य से 27 लाख टन कम था। यह कमियां सार्वजनिक क्षेत्रों के संयंत्रों के निराशाजनक कार्य परिणाम के कारण थीं। क्षमता उपयोगिता में वृद्धि हुई जो योजना के प्रारंभ में प्राप्त आधारभूत ढांचे में हुई वृद्धि के कारण थी। वास्तव में, योजना के पहले दो वर्षों में आयात में उदारीकरण तथा वर्गानुसार मांग और पूर्ति में गलत तालमेल के कारण सार्वजनिक क्षेत्र की इकाइयों में इस्पात के अत्यधिक भंडार हो गये थे। योजना के मध्य, सरंचनात्मक अवरोधों, विशेषकर कोकिंग कोयले की कमी ने उत्पादन को बुरी तरह से प्रभावित किया। कोयले और बिजली की असंतोषजनक आपूर्ति ने जहां क्षमता उपयोगिता को प्रभावित किया, भिलाई और बोकारो की विस्तार

योजनाओं में भी देरी हुई। यहां तक कि कैपिटव पावर संयंत्रों जैसी छोटी परियोजनाएं भी समय पर पूरी न हो सकीं। उत्पादकों को उचित विपणन सम्बन्धी जानकारी न होने के कारण उत्पादन और मांग में गलत तालमेल होता गया। पूरे तौर पर, प्रबन्धकों ने प्रतिबंधात्मक अथवा सुधारात्मक कदम उठाने में कोई कल्पना अथवा पहल नहीं दिखायी।

परिणामस्वरूप, सार्वजनिक क्षेत्र में इस्पात के उत्पादन में गिरावट आयी और उत्पादन लक्ष्य से काफी नीचे था। सन् 1984-85 में उत्पादन स्तर न केवल योजना के प्रारंभिक स्तर से कम था वरन् सन् 1976-77 के स्तर से भी काफी कम था जबकि क्षमता में अच्छी खासी वृद्धि हो चुकी थी। इसलिए ऊंचे स्तर पर आयात का सहारा लिया जायेगा। तालिका 10.3 में छठी योजना में इस्पात क्षेत्र के पूरे कार्यनिष्पादन को संक्षिप्त रूप में दिखाया गया है।

तालिका 10.3
विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन ('000 टन)

	1979-80	*1980-81*	*1981-82*	*1982-83*	*1983-84*	*1984-85*
समेकित संयंत्र	6039	6283	7257	7291	6397	6997
(सार्वजनिक क्षेत्र)	–	(4750)	(5650)	(5670)	(4770)	(5283)
लघु इस्पात संयंत्र	1121	1560	1625	1880	1930	1790
कुल	7160	7843	8882	9171	8327	8787

संसाधनों की कठिनाइयों के कारण विज़ाग संयंत्र के क्रियान्वयन में परिवर्तन करना पड़ा और फेज़ दो को स्थगित करना पड़ा।

निराशाजनक उत्पादन इस्पात प्राधिकरण की खराब वित्तीय व्यवस्था में प्रतिबिंबित हो रहा था। कंपनी ने सन् 1980-81 में करोड़ रुपये मात्र का सामान्य लाभ कमाया था। अगले वर्ष में लाभ राशि बढ़कर 39 करोड़ रुपए हो गयी। लेकिन योजना के शेष तीन वर्षों में, इसने लगातार नुकसान उठाया–सन् 1982-83 में 106 करोड़ रुपयों का, सन् 1983-84 में 215 करोड़ रुपयों का, तथा सन् 1984-85 में 304 करोड़ रुपयों का।

परियोजनाओं को लागू करने के दौरान समयावधि तथा लागत मूल्य में वृद्धि काफी गंभीर थी। भिलाई और बोकारो के विस्तार कार्यक्रम जो छठी योजना के प्रारंभ में शुरू किये जाने थे, सातवीं योजना तक पूरे किये गये। तालिका 10.4 समय में देरी और लागत मूल्य में वृद्धि का एक जायजा देती है–

तालिका 10.4
लागत मूल्य तथा समयावधि में देरी

(करोड़ रुपयों में)

	अनुमानित लागत			*शुरू करने की तारीखें*		
	मौलिक	*संशोधित*	*सातवीं योजना*	*शुरुआत*	*छठी योजना*	*सातवीं योजना*
भिलाई						
4 एम.टी. विस्तार	938	1600	2136			
पहला चरण				3/81	6/82	3/86
दूसरा चरण				3/83	3/84	0/87
बोकारो						
4 एम. टी. विस्तार	947	1638	1931	12/76	6/82	1/86
विजाग						
	2256	3847	8330			
पहला चरण						
(12 लाख टन तरल इस्पात)				1/86	5/87	12/87
दूसरा चरण						
(34 लाख टन तरल इस्पात)				12/87	12/87	7/91

सातवीं योजना के लक्ष्य

छठी योजना के अन्तर्गत इस्पात की मांग सन् 1984-85 में 129 लाख टन तथा 1989-90 में 184 लाख टन आंकी गयी। सन् 1984-85 में उत्पादन लक्ष्य 115 लाख टन रखा गया। लेकिन, जैसा कि ऊपर देखा गया, वास्तविक उत्पादन केवल 82 लाख टन था। उत्पादन में गिरावट का परिणाम अत्यधिक कमी हो सकती थी परन्तु वास्तविकता यह थी कि मांग में भी कमी होती गयी और इसमें वृद्धि आशानुकूल नहीं हुई। परिणामस्वरूप उत्पादकों के पास अत्यधिक भंडार हो गया। सन् 1984-85 में वास्तविक खपत 109 लाख टन की थी, योजना के अनुमान से 20 लाख टन से भी कम।

इस्पात की मांग के स्तर तथा अर्थव्यवस्था की आंकी गयी विकास दर पर आधारित, सातवीं योजना (सन् 1985-90) में इस्पात की मांग का अनुमान 1989-90 में 138.6 लाख टन, सन् 1994-95 में 177.6 लाख टन तथा शताब्दी के अंत में 220 लाख टन लगाया गया।

सातवीं योजना का समय इस्पात उद्योग में स्थायित्व का समय होगा। इस दौरान आधुनिकीकरण, बढ़ी हुई उत्पादकता, तथा चल रही परियोजनाओं के शीघ्रातिशीघ्र क्रियान्वयन पर जोर रहेगा। इस योजना के दौरान कोई नयी

परियोजना शुरू करने का प्रस्ताव नहीं है। इसी दौरान, यह माना गया कि नयी इस्पात क्षमता को संस्थापित करने में चूंकि काफी समय लगता है और काफी भारी निवेश करना होता है और इसलिए नये संयंत्र की योजना काफी समय रहते तथा सावधानीपूर्वक करनी होती है। यह आशा की जाती है कि योजना की पूरी अवधि के दौरान 15 लाख टन इस्पात का वार्षिक घाटा होगा और सन् 1990 के दशक में इसमें वृद्धि ही होगी।

मध्यकालिक समीक्षा

सातवीं योजना की मध्यकालिक समीक्षा से संकेत मिलते हैं कि इस्पात प्राधिकरण के पांचों संयंत्रों का उत्पादन सन् 1985-86 में बढ़ा लेकिन सन् 1986-87 में घट गया। आधुनिकीकरण की योजना तथा विकास कार्यक्रम के बावजूद, प्राधिकरण अपने योजना लक्ष्यों को संभवतः प्राप्त न कर सके। फिर भी, विज़ाग संयंत्र के काम में तेजी आ रही है और टिस्को की क्षमता उपयोगिता में भी विकास हो रहा है। परिणामस्वरूप, योजना के लक्ष्यो को प्राप्त करने की आशा है जैसा कि तालिका 10.5 से देखा जा सकता है–

तालिका 10.5
विक्रय योग्य इस्पात का उत्पादन (लाख टनों में)

1984-85	*1985-86*	*1986-87*	*1989-90*	
			लक्ष्य	*अनुमानित*
87.9	99.8	104.2	126.4	128.0

शेष बचे मुद्दे

इस्पात उद्योग की प्रमुख समस्या पुरानी टेक्नोलौजी तथा उपकरण हैं। उद्योग में अभी भी खुली भट्टी प्रक्रिया का इस्तेमाल किया जाता है जिसे पूरे विश्व में काफी पहले छोड़ दिया गया था। अब काफी संख्या में नयी टेक्नोलौजी विकसित की जा चुकी है जिसका हमारे उद्योगों में अभी प्रयोग किया जाना तथा अपनाया जाना है। सातवीं योजना में दुर्गापुर तथा राउरकेला में आधुनिकीकरण कार्यक्रम के क्रियान्वयन को गति देने का सोचा गया है जबकि भिलाई तथा बोकारो में अवरोधों को समाप्त करने की योजना है। इन कार्यक्रमों को अभी अंतिम रूप देना है। टिस्को के आधुनिकीकरण की योजना भी अभी निर्माणाधीन है। इस प्रकार सातवीं योजना का आधुनिकीकरण पर जोर देने के कार्यक्रम को अभी धक्का लगा है जबकि आने वाले वर्षों में उद्योग की समस्याएं अभी और बढ़ने

की आशंका है।

मध्यकालिक समीक्षा में देखा गया कि विशेष कोष बनाये जाने मात्र से ही आधुनिकीकरण पक्का नहीं हो जाता इसकी प्रेरणा प्रबन्धकों की तरफ से आनी चाहिए। इसके लिए उचित पर्यावरण तैयार किया जाना चाहिए। प्रबंधन, चाहे वह सार्वजनिक क्षेत्र का हो अथवा निजी क्षेत्र का, इस प्रकार के दबावों के प्रति लापरवाह रहा है जो टेक्नोलौजी में विकास और उच्च स्तर ला सके। अतिरिक्त सामाजिक-राजनैतिक अवरोधों के साथ जो सार्वजनिक क्षेत्र इकाइयों को झेलने पड़ते हैं, और परोक्ष रूप में जिनकी चर्चा मध्यकालिक समीक्षा में की गयी है, निकट भविष्य में ऐसी प्रेरणा की कोई आशा नहीं है। प्रशासनिक दृष्टि से बनाये गये तथा चलाये गये आधुनिकीकरण कार्यक्रमों को, चाहे वे जैसे भी हों, यथासंभव तेज़ी से लागू किया जाना आवश्यक है।

इस्पात : परिरूप तथा परामर्शदायी सेवा

गत दो दशकों में देश ने जो महत्वपूर्ण प्रगति की, वह थी डिज़ाइन विस्तृत अभियांत्रिकी तथा तकनीकी परामर्शदायी सेवाओं के क्षेत्र में दक्षता का विकास। हिंदुस्तान स्टील लि. का तकनीकी परामर्श सेवा विभाग, भिलाई, दुर्गापुर तथा राउरकेला में तीन इस्पात संयंत्रों के काम की शुरुआत के साथ-साथ सन् 1959 में स्थापित किया गया। बाद के वर्षों में, सी.ई.डी.बी. के तत्वावधान में अभियांत्रिकी डिजाइन के क्षेत्र में महत्वपूर्ण प्रगति हुई। लेकिन, विस्तृत परियोजना अभियांत्रिकी के क्षेत्र में अधिक प्रगति नहीं हुई। यह सामान्यतः संयंत्र और मशीनों के विदेशी सप्लायरों द्वारा नियंत्रित होती थी।

इस कमी को पूरा करने की दृष्टि से सन् 1969 में सोवियत रूस के साथ एक समझौता किया गया जो लौह तथा इस्पात संकुलों के लिए सी.ई.डी.बी. को डिज़ाइन और विस्तृत अभियांत्रिकी का काम करने में मदद और तकनीकी सहायता के लिए था। उसी वर्ष सी.ई.डी.बी. ने अमेरिका की यूनाइटेड इंजीनियरिंग तथा फाउंड्री कंपनी (अब वीन यूनाइटेड के नाम से प्रसिद्ध) के साथ, गर्म और ठंडे रोलिंग मिलों के परिरूप, आपूर्ति तथा निर्माण के लिए उचित दक्षता प्राप्त करने की दृष्टि से समझौता किया।

सी.ई.डी.बी. गतिविधियां न केवल इस्पात उद्योग वरन् अन्य क्षेत्रों तक भी विकेन्द्रित की गयीं। इसलिए यह सोचा गया कि इस संगठन को एक पूर्ण स्वतंत्र कंपनी के रूप में बदल दिया जाये। जब सन् 1973 में भारतीय इस्पात प्राधिकरण लि. (प्राधिकरण) की स्थापना हुई, सी.ई.डी.बी. को मैटालर्जिकल एण्ड इंजीनियरिंग कंसल्टेंट (इंडिया) लि. अथवा संक्षेप में 'मेकोन' प्राधिकरण की एक स्वायत्त सहायक

संस्था, में बदल दिया गया।

'मेकोन' ने इस प्रकार सी.ई.डी.बी. से विभिन्न इस्पात विस्तार कार्यक्रमों तथा इस्पात उद्योग में अन्य अनेक महत्वपूर्ण विकास कार्यक्रमों को चलाने की जिम्मेदारी मिली। अलौह मैटालर्जी में 'मेकोन' का प्रवेश 'भारत अल्मुनियम' के 'कोरबा स्मेल्टर कांप्लेक्स' के लिए इंजीनियरों और सलाहकारों के रूप में उनकी नियुक्ति से जाना गया। 'मेकोन' को आंध्रप्रदेश में बाक्साइट भण्डारों की उपयोगिता के लिए क्रियान्वयन रिपोर्ट तैयार करने तथा अध्ययन पर काम करने का तथा केरल के प्रस्तावित टिटेनियम डायाक्साइड पिगमेंट प्लांट के लिए परामर्श सेवा और विस्तृत अभियांत्रिकी सेवा के लिए रिपोर्ट तैयार करने का काम सौंपा गया।

यह संस्था लोहे तथा इस्पात की प्रगतिशील टेक्नोलौजी से पूरी तरह परिचित रहने के लिए भी आवश्यक कदम उठा रही है। सीधी ह्रास प्रक्रिया, वर्तमान विस्फोट भट्ठियों का सर्वोत्तम उपयोग, गर्म धातु उत्पादन में वृद्धि के लिए (पैरामीटर) संचालन तथा स्वदेशी जानकारी से अपवर्तकों और उपकरणों के निर्माण के विकास पर आधारित स्पंज लोहे और इस्पात संयंत्रों के लिए तकनीकी ज्ञान का विकास, आदि कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिनमें यह संस्था अनुसंधान और विकास के कार्य कर रही है।

यहां पर देश की सबसे पुरानी परामर्शदात्री सेवा मै. एम. एन. दस्तूर एण्ड कम्पनी की चर्चा करनी आवश्यक है। ये शुरू में दुर्गापुर के मिश्रित इस्पात संयंत्र परियोजना में सलाहकार थे। इन्होंने बोकारो परियोजना में भी काम किया। इस समय ये सेलम स्टील परियोजना के सलाहकार हैं तथा इन्होंने विशाखापट्टनम् स्टील प्लांट के लिए एक क्रियान्वयन रिपोर्ट तैयार की है।

लोहा और इस्पात तकनीक में बहुत जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते रहते हैं। इसलिए यह अत्यधिक महत्ता की बात है कि अनुसंधान और विकास के लिए पर्याप्त प्रयत्न लगातार चलते रहते हैं जिससे लगातार तकनीकी प्रगति सम्भव हो जाती है। इसी बात को ध्यान में रखकर सरकार ने रांची में हिंदुस्तान स्टील लिमिटेड के अंतर्गत अनुसंधान और विकास संगठन बनाया। इस संगठन को अनेक दिशाओं में तकनीकी विकास में अत्यधिक प्रगति करने में सफलता मिली है। इसकी सफलता की चर्चा उन क्षेत्रों में भी की जा सकती है जैसे एल. डी. लाइनिंग के जीवन को उन्नत करना, उच्च शक्ति के मिश्रित इस्पात का विकास, कच्चे लोहे की धुलाई, कम कार्बनयुक्त इस्पात का विकास आदि-आदि।

इस्पात उद्योग में संयुक्त तकनीकी विकास में पहल करने की दृष्टि से सलाह देने के लिए एक 'वैज्ञानिक सलाहकार समिति' का गठन किया गया। इसमें सुविख्यात धातु वैज्ञानिकों तथा विशेषज्ञों को रखा गया। यह समिति लौह तथा

इस्पात प्रक्रियाओं में घरेलू योग्यताओं, डिज़ाइन अभियांत्रिकी तथा शोध के विकास के लिए सलाह मशविरा देगी।

लघु इस्पात संयंत्र तथा स्पंज आयरन

लघु इस्पात संयंत्र के नाम से प्रसिद्ध, विद्युत भट्टी इकाइयां, सातवें दशक के प्रारंभ में इस्पात की अत्यधिक कमी के दौरान काफी विख्यात हो गयीं। ये इकाइयां लोहे के स्क्रेप को मुख्य कच्चे माल के रूप में प्रयोग तथा मुलायम इस्पात पिण्डों का निर्माण करते हुए, पहले फाउंड्रियों की मांग को मुख्यतः पूरा करती थी। लेकिन सन् 1970 में इस्पात की मांग फिर से हो जाने के कारण इन संयंत्रों को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। सरकार ने भी स्क्रेप के प्रयोग से, स्क्रेप वैसे अभी तक निर्यात होता था, उत्पादन के विस्तार के लिए प्रोत्साहन दिया। परिणामस्वरूप, सातवें दशक के लघु इस्पात संयंत्रों की संख्या बढ़ती ही गयी।

सन् 1972 में केवल 32 इकाइयां अनुमोदित और पंजीकृत थीं। लेकिन अगले वर्ष 121 इकाइयां जुड़ गयीं। सन् 1976 के प्रारंभ में 202 विद्युत भट्ठियां थीं जो पंजीकृत थीं, अथवा जिन्हें उद्देश्यपत्र अथवा आज्ञापत्र (लाइसेंस) दे दिये गये थे। इनमें से कहा गया कि 100 ने उत्पादन आरंभ कर दिया था।

लघु इस्पात संयंत्र की वृद्धि अधिक दिन नहीं चली। शीघ्र ही उनके सामने अनेक कठिनाइयां आ गयीं जैसे बिजली में कटौती, स्क्रेप की कमी तथा इनसे भी ऊपर मांग में कमी। प्रारंभिक आशावाद, जिसके आधार पर एक भूतपूर्व इस्पात मंत्री ने सन् 2000 तक एक हजार लघु इस्पात संयंत्रों की कल्पना की थी, के स्थान पर इन इकाइयों की सम्भावनाओं का एक गंभीर पुनर्मूल्यांकन करना पड़ा।

लघु इस्पात संयंत्रों के पक्ष में जो तथ्य हैं वे हैं कम निवेश, थोड़ी कार्य अवधि, तथा क्षेत्रीय विकेंद्रीकरण। ब्यूरो ऑफ इंडस्ट्रियल कौस्ट्स एण्ड प्राइसेज़ ने पाया कि विद्युत द्वारा मुलायम इस्पात का उत्पादन एक महंगा सौदा था। इसलिए इस प्रकार की भट्ठियों का प्रयोग मुख्यतः औद्योगिक देशों में मिश्रित तथा विशेष इस्पात के उत्पादन के लिए किया जाता रहा। सरकार ने भी सोचा कि लघु इस्पात संयंत्रों के भावी विकास की धारा निश्चित करने से पहले इनकी समस्याओं का गहन अध्ययन करना आवश्यक है। 'मेकोन' तथा 'दस्तूर एंड कंपनी' से इस प्रकार के अध्ययन को अपने हाथ में लिया जिसमें उनकी लाइसेंस तथा वर्तमान क्षमता, उचित उत्पादन मिश्रण, तकनीकी योग्यताएं, कच्चे माल तथा बिजली मिलने की संभावनाएं, उत्पादन का लागत मूल्य तथा इकाइयों की वित्तीय परिपक्वता के पहलुओं का अध्ययन करना था।

एक समग्र मूल्यांकन इस प्रकार का था कि लघु इस्पात संयंत्र पूंजी और

विद्युत परक थे। इसके अलावा, उन्हें स्क्रेप की आवश्यकता थी जिसकी कमी थी और जिसे आयात करना पड़ रहा था। इसलिए उनके भावी विकास के लिए एक सावधानी का रास्ता अपनाया गया। छठी योजना में कोई अतिरिक्त क्षमता नहीं सोची गयी फिर भी वर्तमान इकाइयां अपने उत्पादन में वृद्धि कर सकीं।

स्पंज आयरन

लोहे के टुकड़ों (स्क्रेप) की कमी की समस्या का समाधान स्वयं आयरन् की उपलब्धि से दिया जा सकता है। इस दिशा में लौह पिंड को पिघलाकर बनाने की प्रक्रिया से स्पंज आयरन का निर्माण करना एक महत्वपूर्ण कदम था। इसके लिए आंध्र प्रदेश के कोठागुडम् स्थान पर 30,000 टन की वार्षिक क्षमता का एक प्रारंभिक संयंत्र लगाया गया।

इस पिघलान प्रक्रिया में एक लाभ था कि घटिया स्तर के और जलाने के काम न आने वाले कोयले का इस्तेमाल हो सकता था। छठी योजना में इसी प्रक्रिया पर आधारित कुछ और संयंत्र स्थापित करने की योजना बनायी गयी। जिससे कि सन् 1984-85 तक एक लाख टन तक की क्षमता प्राप्त की जा सके। प्राकृतिक गैस उपलब्ध होने के कारण योजना में गैस आधारित स्पंज आयरन संयंत्रों की स्थापना का भी संकेत दिया गया। वास्तव में योजना अवधि में गैस आधारित दो संयंत्र—एक महाराष्ट्र और एक गुजरात में—स्वीकृत किये गये।

छठी योजना के अन्त तक, लघु इस्पात संयंत्रों की संस्थापित क्षमता 30 लाख टन विक्रय योग्य इस्पात तक की तथा इनकी उत्पादन क्षमता 18 लाख टन तक थी। कोठागुडम का कोयला आधारित स्पंज आयरन संयंत्र तकनीकी रूप से सफल सिद्ध हुआ और इसीलिए अनेक नए वाणिज्यिक संयंत्र बनाये गये। सातवीं योजना में निश्चित किया गया कि योजना के आरम्भिक समय में ही देशी टेक्नोलौजी पर आधारित पहला संयंत्र उत्पादन शुरू कर देगा। योजना में यह भी आशा की गयी कि लघु इस्पात संयंत्रों की क्षमता और उत्पादन सन् 1989-90 में क्रमशः 35 लाख टन और 27 लाख टन तक जा सकती है। यह भी आशा की जाती है कि वर्तमान इकाइयां धीरे-धीरे हल्के मिश्रित इस्पात के उत्पादन की ओर परिवर्तित होंगी।

लघु इस्पात उद्योग का भावी विकास स्पंज आयरन की उपलब्धता पर निर्भर करेगा। समन्वित इस्पात मिलों द्वारा निरन्तर कास्टिंग प्रक्रिया को अपनाने का अर्थ होगा कि अपने ही संयंत्रों से निकले टुकड़ों (स्क्रेप) का वे स्वयं उपयोग करेंगे। वास्तव में उन्हें भी अपनी बढ़ती हुई आवश्यकताओं के लिए स्पंज आयरन की आवश्यकता होगी। इस प्रकार आने वाले वर्षों में स्पंज आयरन उद्योग से

अत्यधिक संभावनाएं हैं।

स्पंज आयरन उत्पादन को लाइसेंस मुक्त कर दिया गया है। रिपोर्ट के अनुसार लाइसेंस मुक्ति के निर्णय का सबने स्वागत किया है और अगस्त 1988 तक 27 लाख टन की क्षमता की इकाइयों का पंजीकरण हो चुका है।

यहां यह भी उल्लेखनीय है कि स्पंज बनाने के लिए गैस के प्रयोग का कोई औचित्य नहीं है। क्योंकि गैस के और अधिक अच्छे उपयोग हो सकते हैं जैसे कि फर्टिलाइजर तथा ऊर्जा उत्पादन में। महाराष्ट्र और गुजरात में दो गैस आधारित इकाइयों की स्वीकृति इस आधार पर दोषपूर्ण ही कही जा सकती है।

मिश्र धातु तथा विशेष इस्पात

मिश्र इस्पात में, एक तथा एक से अधिक मिश्रणकारी तत्वों जैसे, मैंगनीज, निकेल, क्रोमियम, टंगस्टन, सिलिकोन आदि के रहने के कारण, विशेष गुण होते हैं। मिश्रणकारी तत्वों के अनुपातों में विभिन्न्ता से विशेष इस्पातों के गुणों में परिवर्तन लाया जा सकता है। विशेष इस्पात का उत्पादन न केवल महत्वपूर्ण औद्योगिक उपयोगों के कारण बल्कि रक्षात्मक आवश्यकताओं के कारण भी सामरिक महत्व का है।

विशेष इस्पात और मुलायम इस्पात की क्षमता में परिवर्तनशीलता के कारण, मिश्र धातु और विशेष किस्म के इस्पात के उत्पादन की क्षमता सुनिश्चित रूप से तय नहीं की जा सकती। फिर भी, विशेष इस्पात के निर्माण के कुछ ही विशेष संयंत्र हैं। इनमें से तीन सार्वजनिक क्षेत्र में हैं–अलॉय स्टील प्लांट दुर्गापुर, भद्रावती में विश्वेश्वरैया (मैसूर आयरन एण्ड स्टील) तथा सेलम इस्पात संयंत्र। निजी क्षेत्र में इसी प्रकार के और संयंत्र हैं। कुछ विद्युत भट्ठी इकाइयां भी हैं जो हल्के मिश्रित इस्पात का उत्पादन करती हैं। इन सब इकाइयों को, यद्यपि प्रारम्भ में हल्के इस्पात उत्पादन का लाइसेंस दिया गया था, सन् 1974 में अपने उत्पादन को कुछ विशेष वर्ग के हल्के मिश्रित तथा विशेष इस्पात के उत्पादन में विकेन्द्रित करने की आज्ञा दी गयी।

60,000 टन की क्षमता का दुर्गापुर संयंत्र जो सन् 1968-69 में पूरा हो गया था, सन् 1969-70 में 41,000 टन विशेष इस्पात का उत्पादन किया। लेकिन बाद के वर्षों में, उत्पादन घटकर 36,000 टन तक रह गया जब तक कि इसने फिर से सन् 1974-75 में 44,000 टन तथा सन् 1975-76 में 58,000 टन तक वृद्धि न कर ली। एक बार फिर इस उत्कर्ष के स्तर से गिरावट आयी। संयंत्र में विस्तार के लिए सन् 1976-77 में 52,000 टन तक और अगले वर्ष 49,000 टन तक क्षमता है। तथापि, उत्पादन की अस्थिर प्रकृति को देखते हुए, विस्तार

का प्रस्ताव स्थगित कर दिया गया था। उत्पादन के हाल ही के सुधारों से प्रोत्साहित होकर 'सेल' ने विस्तार कार्यक्रम पर विनियोजन पूर्व के औचित्य पर अध्ययन करने के लिए 'मेकोन' की सेवाएं लीं। यह अध्ययन रिपोर्ट सन् 1976 के प्रारंभ में प्राप्त हो गयी।

60,000 टन से 1,60,000 तक क्षमता के विस्तार का कार्यक्रम दो चरणों में शुरू किया गया जो क्रमशः सन् 1982 और सन् 1987 में पूरा हुआ। 2,60,000 टन की क्षमता के विस्तार का दूसरा कार्यक्रम जो 66 करोड़ रुपये की अनुमानित लागत का था, जुलाई 1981 में स्वीकृत किया गया। इसके पूरा होने की तिथि दिसम्बर 1984 रखी गयी परियोजना के क्रियान्वयन में बड़े-बड़े अवरोधक आने से कार्य के शुरू होने में देरी होती गयी। इस तरह कार्य की शुरुआत काफी देर बाद संभव हो सकी। परियोजना का लागत मूल्य भी बढ़कर 106 करोड़ रुपये हो गया।

मैसूर आयरन एंड स्टील वर्क्स, जो पहले केवल हल्के इस्पात का उत्पादन कर रहा था, का नामकरण अब विश्वेश्वरैया आयरन एंड स्टील वर्क्स हो गया और इसे विशेष इस्पात उत्पादन इकाई में परिवर्तित कर दिया गया। कम्पनी ने कुछ उच्चगतीय और अत्यधिक लाभप्रद किस्म के विशेष इस्पात के निर्माण के लिए एक गढ़ाई संयंत्र की स्थापना की है। 77,000 की क्षमता के संयंत्र ने छठे दशक के बाद के वर्षो में विशेष इस्पात का उत्पादन प्रारंभ किया। उत्पादन सन् 1970-71 में 34,000 टन से सन् 1973-74 में बढ़कर 62,500 टन हो गया।

लेकिन सातवें दशक के शेष वर्षों में या तो कम होती गयी मांग अथवा बिजली की कमी या फिर कुछ विशिष्ट प्रकार के कच्चे माल की अपर्याप्त सप्लाई के कारण उत्पादन में गिरावट आती गयी।

पुराने उपकरणों, प्रबंधन की समस्याओं के साथ-साथ, बिजली तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की कमी के कारण इस इकाई की कार्य निष्पादकता सन्तोषजनक नहीं रही है। इसलिए आधुनिकीकरण का एक कार्यक्रम हाथ में लिया गया। सुविधाओं के संतुलित तथा सर्वोत्तम उपयोग की योजना क्रियान्वयन के लिए विचाराधीन थी।

सेलम में विशेष इस्पात संयंत्र लगाने के उद्देश्य में सन् 1965 में एक व्यापक अध्ययन किया गया। सन् 1970 में इस परियोजना के क्रियान्वयन करने का निश्चय किया गया। परियोजना का प्रारूप 2,20,000 टन के विशेष इस्पात की क्षमता के लिए किया गया था। लेकिन, वित्तीय कठिनाइयों के कारण कुछ प्रगति नहीं हो सकी। अन्ततः परियोजना को 187 करोड़ रुपये की अनुमानित लागत से 32,000 टन की स्टेनलैस स्टील की चादरें और पट्टियां बनाने की क्षमता के लिए पुनर्वर्द्धित किया गया तथा सन् 1977 में अनुमोदित किया गया। संयंत्र ने

व्यावसायिक रूप से उत्पादन सन् 1982 में शुरू किया।

संयंत्र ने सन् 1984-85 में 16,000 टन स्टेनलैस स्टील की चादरों का उत्पादन किया। इस इकाई के उत्पादन से उपयोग करने वाले उद्योगों की आवश्यकताओं को पूरा करने की आशा थी–इसका अधिकांश माल बर्तन बनाने वालों के पास जाता है।

योजना के लक्ष्य और उपलब्धियां

छठी योजना में, मिश्र धातु तथा विशेष इस्पात की क्षमता तथा उत्पादन का लक्ष्य सन् 1979-80 के 7.72 लाख टन तथा 6.10 लाख टन से सन् 1984-85 में बढ़ाकर, क्रमशः 10.50 लाख टन तथा 9.20 लाख टन रखा गया। लेकिन प्राप्त क्षमता और उत्पादन क्रमशः 8.65 लाख टन तथा 8.0 लाख टन तक ही सीमित रहा।

सातवीं योजना में वर्ष सन् 1989-90 के लिए क्षमता का लक्ष्य 12.62 लाख टन तथा उत्पादन का लक्ष्य 9.80 लाख टन रखा गया। मध्यकालिक समीक्षा के अनुसार, वास्तव में, एक अच्छी मात्रा में बढ़कर, पूरे होने की सम्भावना है। सातवीं योजना में अभी तक का उत्पादन तथा वर्ष 1989-90 का संभावित उत्पादन निम्नलिखित तरीके से है–

तालिका-10.6

विशेष इस्पात का उत्पादन (लाख टनों में)

1984-85	1985-86	1986-87	1989-90	
			लक्ष्य	संभावित
8.0	8.86	9.43	9.80	11.0

अलौह धातुएं अल्मुनियम

उन अलौह धातुओं में जो आधुनिक उद्योगों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं अल्मुनियम एकमात्र धातु है, जिसमें देश में असीम संभावनाएं हैं। वास्तव में, देश में खनिजों का आधार हमें केवल अल्मुनियम तथा कुछ सीमा तक तांबे में आत्मनिर्भर बनने के योग्य बना सकता है। देश में अच्छी मात्रा में अल्मुनियम बनाने की क्षमता के लिए आवश्यक विशाल बाक्साइट के भंडार हैं। अल्मुनियम विभिन्न प्रकार के उपयोगों में आने वाली एक परिवर्तनशील धातु है। इस धातु की अपनी विशिष्टताएं जैसे, कम भार में अधिक शक्ति, अत्यधिक ऊष्मा तथा विद्युतीय चालकता और क्षय प्रतिरोधात्मकता हैं जिससे यह तांबा, लोहा, लकड़ी आदि जैसी अधिकांश पारंपरिक तथा दुर्लभ धातुओं का आदर्श विकल्प बन सकता

है। साथ-साथ, अल्मुनियम निर्माण अत्यधिक ऊर्जा उन्मुख प्रक्रिया है, जिस कारण से इसकी उत्पादन लागत में लगभग 40 प्रतिशत खर्च बिजली का होता है। इसलिए बिजली की उपलब्धता तथा कीमत, अल्मुनियम उत्पादन की अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण तत्व हो जाते हैं।

योजना काल से पूर्व की इस उद्योग की साधारण-सी स्थिति को देखते हुए, आज की इसकी प्रगति अप्रत्याशित नजर आएगी। शुद्ध धातु का उत्पादन सन् 1950-51 के सामान्य 4000 टन से सन् 1955-56 में बढ़कर 7400 टन हो गया। साठ के दशक में इसके उत्पादन में काफी तेज़ी आयी। सन् 1960-61 की 18,300 टन से सन् 1965-66 में तिगुने से भी अधिक बढ़कर 62,100 टन हो गया और आगामी तीन वर्षों में यह स्तर दुगुने से भी अधिक बढ़कर 1,25,000 टन हो गया। सन् 1971-72 में यह और अधिक बढ़कर 1,51,500 हो गया। सत्तर के दशक में इसमें काफी उतार-चढ़ाव आये, सन् 1978-79 में यह उत्कर्ष पर पहुंचकर 2,13.700 टन हो गया जबकि सन् 1979-80 में गिरकर 1,92.000 तक आ गया।

शुरू के वर्षों में, उत्पादन कम था और माग तेजी से बढ़ती जा रही थी। परिणामस्वरूप, काफी मात्रा में आयात करना पड़ा था। छठे दशक में, पूर्ति का 30 प्रतिशत आयात से पूरा होता था। लेकिन सत्तर के दशक के प्रारंभ में मांग में कमी आयी और इसकी सहानुभूति में आयात में भी गिरावट आयी। सन् 1975-80 में एक बार फिर से मांग में तेजी आयी, लेकिन घरेलू तौर पर बढ़ी उपलब्धता के कारण आयात की आवश्यकता कम होती गयी। सन् 1979-80 तथा सन् 1980-81 में उत्पादन में हुई गिरावट के कारण काफी मात्रा में आयात की आवश्यकता महसूस हुई जो सन् 1979-80 की कुल पूर्ति का 25 प्रतिशत तथा सन् 1980-81 की कुल पूर्ति का 40 प्रतिशत तक था। छठी योजना के बाद के वर्षों में यह गिरावट दस प्रतिशत तक रही।

अल्मुनियम की मांग के दो प्रमुख तत्व हैं–विद्युतीय ग्रेड अथवा ई.सी. तथा व्यापारिक ग्रेड अथवा सी.जी.। हमारी योजनाओं में विद्युत उत्पादन तथा प्रेषण को उच्च प्राथमिकता दी गयी है तथा विद्युत क्षेत्र में विकास करने के लिए आवश्यक अल्मुनियम की मांग में तेजी से वृद्धि हुई है। साथ-साथ इसके अन्य उपयोगों के लिए भी इसकी मांग में वृद्धि हुई है। यद्यपि अपर्याप्त आपूर्ति के कारण इस मांग में रोक लगानी पड़ी थी। छठे दशक में ई.सी. ग्रेड के अल्मुनियम की मांग कुल मांग का पचास प्रतिशत थी। सन् 1972-76 में यह घटकर 45 प्रतिशत रह गयी, परंतु 1976-77 में बढ़कर 61 प्रतिशत हुई तथा बाद के वर्षों में बराबर 50 प्रतिशत तक बनी रही जब तक कि सन् 1983-84 में गिरकर 41 प्रतिशत तक नहीं आ गयी।

मुख्य उत्पादक

जब तक कि सातवें दशक के प्रारंभ में सार्वजनिक क्षेत्र में भारत अल्मुनियम कारपोरेशन (BALCO) की स्थापना नहीं हुई थी, अल्मुनियम उद्योग पूरी तरह निजी क्षेत्र में था। बाल्को का जीवनग्राफ काफी उतार-चढ़ाव वाला था और इसे उत्पादन में स्थायित्व लाने से पहले काफी अवरोधों का सामना करना पड़ा था। प्रमुख उत्पादकों की क्षमताएं निम्नलिखित हैं–

	('000 टनों में)
1. इंडियन अल्मुनियम	117
2. हिंदुस्तान अल्मुनियम (हिंडालको)	120
3. मद्रास अल्मुनियम (मालको)	25
4. भारत अल्मुनियम (बाल्को)	100
कुल	362

सातवें दशक के अंतिम वर्षों में घरेलू तथा निर्यात की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उड़ीसा में एक विशाल अल्मुनियम संकुल की स्थापना करने का निर्णय लिया गया। तदनुसार, 2,18,000 टन की स्वीकृत क्षमता की दूसरी सार्वजनिक क्षेत्र की अल्मुनियम परियोजना, नेशनल अल्मुनियम कं. लि. (नाल्को) की स्थापना की गयी। इसका उत्पादन सन् 1987 में प्रारम्भ होने की संभावना थी।

छठी योजना का आकलन

छठी योजना का लक्ष्य सन् 1979-80 की 3.3 लाख टन से सन् 1984-85 में बढ़ाकर 3.5 लाख टन तथा उत्पादन 1.92 लाख टन से बढ़ाकर 3.1 टन करने का था। निजी क्षेत्र में लगभग 41,000 टन क्षमता जुड़ चुकी थी। जबकि 3. 62 लाख की प्राप्त क्षमता लक्ष्य से अधिक थी, उत्पादन मात्र 2.76 लाख टन था। बिजली की कमी के कारण, क्षमता उपयोगिता का औसत, योजना अवधि में केवल 60-65 प्रतिशत था। बिजली उद्योग द्वारा कम माल लेने के कारण मांग में भी कमी आती गयी। 4.5 लाख टन की संभावित मांग के विरुद्ध, वास्तविक मांग केवल 3.1 लाख टन तक रही जिससे आयात पर निर्भरता कम रही।

सातवीं योजना के लक्ष्य

सातवीं योजना में सन् 1989-90 में अल्मुनियम की मांग 4.5 लाख टन आंकी गयी। क्षमता का लक्ष्य 5.80 लाख टन था जबकि उत्पादन लक्ष्य 4.99 लाख टन रखा गया जिससे इस उद्योग के इतिहास में पहली बार आधिक्य की संभावना

थी। नाल्को संयंत्र के शुरू होने से तथा अन्य संयंत्रों में विकसित क्षमता उपयोगिता के कारण अतिरिक्त क्षमता तथा उत्पादन होने की पूरी संभावना थी।

योजना के प्रथम दो वर्षों अर्थात् सन् 1985-86 तथा सन् 1986-87 में अल्मुनियम के उत्पादन में कमी आयी जो मुख्यतः बिजली की कमी की वजह से थी। इस कारण काफी मात्रा में आयात करना पड़ा। मध्यकालिक आकलन के अनुसार नाल्को के योगदान से उत्पादन में योजना के अंत में बहुलता हो जायेगी।

तात्कालिक संभावना इस धातु की लगातार बढ़ती कमी की थी जो अपर्याप्त संस्थापित क्षमता के कारण न होकर क्षमता की कम उपयोगिता के कारण ई.सी. ग्रेड के कारण थी। उत्पादन के लगभग 50 प्रतिशत के पूर्व क्रय तथा निर्माताओं द्वारा एक भाग की निश्चित खपत के कारण, विपणन ग्रेड के अल्मुनियम की अत्यधिक कमी महसूस की जा रही है। क्षमता की कम उपयोगिता का कारण पर्याप्त बिजली का अभाव है। रिपोर्ट के अनुसार इंडालको की इकाइयां अपनी क्षमता से आधी पर कार्य कर रही हैं।

मांग तथा घरेलू उत्पादन के अन्तर को पूरा करने के लिए पहले आयात का सहारा लेना पड़ा है। यह तरीका ठीक काम करता रहा क्योंकि अल्मुनियम की अन्तर्राष्ट्रीय कीमतें घरेलू कीमतों से काफी कम थीं। आयात अभी तक एम.एम.टी.सी. के माध्यम से होता था जब तक इन्हें ओ.जी.एल. सूची में नहीं लिया गया। लेकिन बाद में आयातित धातु की कीमतों में हुई वृद्धि के कारण आयात अव्यवहारिक हो गया। अक्तूबर 1988 में अंतर्राष्ट्रीय कीमत 42,000 रुपये प्रति टन है जबकि घरेलू उत्पाद की कीमत 31,000 रुपये प्रति टन है। इस समस्या का समाधान केवल आयातित तथा देशीय अल्मुनियम को इकट्ठा कर दोनों की एक सामान्य कीमत तय करने से हो सकता है।

लेकिन, अंतर्राष्ट्रीय बाजार अस्थिर हो सकता है तथा कीमतों का लाभ इसमें मिलेगा ही, यह मानकर चला ही नहीं जा सकता। लेकिन, यह माल के आधिक्य के लिए एक लाभप्रद निकास की संभावना की ओर संकेत अवश्य करता है। इसके साथ-साथ, लागत में कमी तथा धातु के नये-नये उपयोगों की खोज की आवश्यकता को भी कम करके नहीं आंका जा सकता।

इस उद्योग में जितनी इकाइयां हैं उतनी ही टेक्नोलौजी हैं। यही इस उद्योग की कमज़ोरी भी है और शक्ति भी। देशीय तथा आयातित माल को एकत्र करके बेचने का अनुभव तथा कुशलता टेक्नोलौजी के क्षेत्र में और प्रगति का मूल्यवान आधार बन सकता है। लेकिन वर्तमान स्थिति में व्यक्तिगत इकाइयों से पारस्परिक अनुभवों से अधिक लाभ लेने की आशा नहीं की जा सकती। न ही ये इकाइयां अभी तक किसी आयातित टेक्नोलौजी को अपने में समाहित कर सकी हैं। निजी क्षेत्र की इकाइयां 30 से 40 वर्ष तक पुरानी हैं। इस दौरान टेक्नोलौजी में अनेक

परिवर्तन हो चुके हैं। यहां तक सातवें दशक में शुरू की गयी बाल्को को आधुनिकीकरण की आवश्यकता है। लागत में विशेषकर लचीले, लहरदार, निष्कासन तथा अल्मुनियम की ढलाई के मूलभूत क्षेत्रों में कमी के अनेक तरीके संभव हैं।

देश के पास इस समय विस्तृत डिज़ाइन, अभियांत्रिकी तथा परामदर्शदायी सेवाएं हैं लेकिन आधुनिकतम टेक्नोलौजी को समाहित करने की मूलभूत जानकारी को आयात करना बाकी है। इस विशेषज्ञता को देश में ही विकसित करने की प्राथमिक तौर पर आवश्यकता है।

मुख्य शोध विकास प्रयत्नों के लिए व्यावहारिक टेक्नोलौजी एक और क्षेत्र है। उच्च टेक्नोलौजी क्षेत्रों में अभी तक प्रतिस्थापना का कार्य नहीं हो सका है। अल्मुनियम के निर्माण, जोड़ने तथा समतल करने के तरीके, जो गतिशील विकास अथवा प्रयोग में योगदान दे सकते हैं, के क्षेत्रों में निपुणता अभी हमारे देश में काफी सीमित है जबकि विकसित देशों में इनके हजारों प्रकार के प्रयोग उपलब्ध हैं। अल्मुनियम अनेक दुर्लभ सामग्री यथा लकड़ी, तांबा तथा पीतल का विकल्प हो सकता है। परिवहन के क्षेत्र में हल्की अल्मुनियम कोच, वैगन, टैंकर ऊर्जा बचत में काफी बड़ा योगदान दे सकती हैं। पैकिंग उद्योग में अल्मुनियम के उपयोग के लिए काफी अधिक अवसर हैं।

जैसा कि हमने पहले देखा, अल्मुनियम अत्यधिक ऊर्जापरक है और ऊर्जा अब एक दुर्लभ संसाधन है। देश में अल्मुनियम के निर्माण का मामला घरेलू संसाधन लागत के आधार पर लड़ा जा सकता है। लेकिन अब इसके केवल भावी विस्तार के सिवाय और कोई बात नहीं की जा सकती। यहां भी अल्मुनियम के नये-नये प्रयोगों तथा उनके लाभों की विस्तृत संभावनाओं पर ध्यानपूर्वक विचार किया जाना चाहिए। फिर भी, अच्छी-खासी क्षमताओं के निर्माण में इतना अधिक पैसा निवेश करने के बाद बिजली तथा अन्य आवश्यक वस्तुओं की पर्याप्त आपूर्ति तथा प्रोद्योगिकीय विकास को सुनिश्चित करने से इस धातु का भरपूर उपयोग करना बुद्धिमानी का काम होगा।

औद्योगिक मशीनें तथा उपकरण

औद्योगिक आत्मनिर्भरता, जो कि हमारी योजना का प्रमुख उद्देश्य है, का अर्थ उपभोग के लिए उत्पादों का उत्पादन करने की योग्यता से ही नहीं है वरन् उन मशीनों के डिजाइन बनाने और निर्माण करने की क्षमता से है जिनसे मशीनें बनती हैं अथवा जिन्हें 'मदर-मशीनें' कहा जाता है। लोहा और इस्पात, अल्मुनियम तथा भारी कैमिकल्स मूलभूत बीच की सामग्री है और इनकी घरेलू उपलब्धि न केवल

एक महत्वपूर्ण वरन् आत्मनिर्भरता की दिशा में बढ़ने के लिए अंतिम से पूर्व एक कदम है। एक मोटे उदाहरण के रूप में, सूती वस्त्र उद्योग में आत्मनिर्भरता भ्रामक है जब तक कि देश में विशिष्ट प्रकार की रुई का उत्पादन विस्तार और बदलाव के लिए करघों, तकुवों, अन्य मशीनों और उपकरणों, इस्पात और अन्य सामग्री तथा इस प्रकार की मशीनों के निर्माण के लिए आवश्यक सुविज्ञता की उपलब्धि पर्याप्त मात्रा में नहीं हो जाती। इसी प्रकार, आत्मनिर्भरता के लिए देश में महत्वपूर्ण माल का उत्पादन विविध प्रकार में तथा व्यापक रूप से होना चाहिए। इस प्रकार, लगातार औद्योगिक संरचना के लगातार गहराते और फैलाव के द्वारा ही लक्ष्य प्राप्ति सम्भव है।

भारतीय नियोजन की रण-नीति व्यापक रूप में आत्मनिर्भरता की शीघ्र प्राप्ति के लक्ष्य से बनायी गयी और यह भी देखा गया कि देश में मशीन-उत्पादन तथा डिज़ाइन निर्माण और अभियांत्रिकी दक्षता के क्षेत्र में हुई महत्वपूर्ण प्रगति इस रण-नीति की सफलता का सूचक है।

मूलभूत माध्यिक माल के साथ-साथ, गत दशक के दौरान अत्यधिक महत्वपूर्ण विकास मशीन और उपकरणों के क्षेत्र में हुआ। सन् 1950 से पूर्व सापेक्षतया साधारण सूती वस्त्र मशीनों से शुरू कर, भारत आज अत्यधिक जटिल और भारी मशीनों तक का निर्माण कर सकता है जिनका लोहा और इस्पात उद्योग, कोयला तथा अन्य खदान मशीनों, भारी ढांचे, भारी मशीनों, उपकरणों तथा भारी विद्युत उपकरणों के लिए आवश्यकता होती है। इसके बाद औद्योगिक उपकरणों की अनेक किस्में हैं जैसे मशीनी औजारों के विभिन्न ग्रेड, कटाई और गढ़ाई, ट्रैक्टर, बिजलीचालित हल और पंप, डीजल इंजन और बिजली मोटरें जिनमें अभूतपूर्व प्रगति हुई है।

दूसरी योजना में लोहा और इस्पात उद्योग को दी गयी सर्वोच्च प्राथमिकता का एक सहज परिणाम था कि भारी इंजीनियरिंग उद्योग को भी ऊंची प्राथमिकता मिली। भारी इंजीनियरिंग उद्योगों को भारी फाउंड्रियों, गढ़ाई फैक्ट्रियों, तेल खुदाई के औजारों, क्रेनों और उत्खनकों आदि से सुसज्जित करना पड़ता था, और जैसा कि हमने पहले देखा भारी इंजीनियरिंग उद्योगों के लिए मशीनों और उपकरणों के डिजाइन बनाने के लिए आवश्यक क्षमता बनाना आवश्यक हो गया था। इन सब कार्यक्रमों की सहायता के लिए कोयला, कच्चा लोहा, और बिजली को मिलाकर एक आधारभूत संरचना की आवश्यकता थी, जो बदले में हमारी भारी बिजली संबंधी उपकरणों और खदान मशीनों के निर्माण की योग्यता पर निर्भर करती थी। इस प्रकार रांची में भारी इंजीनियरिंग काम्पलेक्स भोपाल, रामचन्द्रपुरम, हरिद्वार और तिरुचिरापल्ली में भारी बिजली संबंधी परियोजनाएं, माइनिंग एंड एलाइड मशीनरी कारपोरेशन, सेंट्रल डिजाइन एंड इंजीनियरिंग ब्यूरो ऑफ

हिंदुस्तान स्टील, फर्टिलाइजर्स कारपोरेशन ऑफ इंडिया के प्लानिंग एंड ड्वलपमेंट डिवीजन आदि अस्तित्व में आये।

यह दूसरी योजना ही थी जिसको औद्योगिक मशीनरी उद्योग की आधारशिला रखने वाला माना जा सकता है। यह सच है कि मशीनरी और पूंजीगत माल का उत्पादन सन् 1950-51 के 3-4 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1955 में 20-25 करोड़ रुपये तक हो गया। लेकिन इसमें अधिकांशतः सादे किस्म का सामान था जिसका उत्पादन पहले ही हुआ था लेकिन अब इसके उत्पादन में विस्तार हो चुका था जैसे रेल के डिब्बों, डीजल इंजनों, सूती वस्त्र की मशीनों, हल्के मशीनी उपकरणों आदि का उत्पादन। सन् 1956-61 के वर्षों के दौरान कागज, चीनी और सीमेंट मशीनरी तथा अन्य इंजीनियरिंग उत्पादों जैसे कंप्रेसरों के उत्पादन से शुरुआत की गयी थी। भोपाल में हैवी इलैक्ट्रिकल प्लांट का निर्माण कार्य चल रहा था लेकिन इसको शुरू करने में देर कर दी गयी।

तीसरी योजना में 'मशीन निर्माण कार्यक्रमों तथा तत्संबंधी कौशल, तकनीकी ज्ञान तथा डिजाइन क्षमता' पर बल दिया जाता रहा। इसमें हुई प्रगति उत्साहजनक थी। सन् 1961-66 के दौरान विद्युत संबंधी मशीनरी का उत्पादन 71 प्रतिशत, अन्य मशीनों का 82 प्रतिशत, तथा परिवहन उपकरणों का 59 प्रतिशत बढ़ा। पारंपरिक उद्योगों जैसे सूती वस्त्र, चीनी, सीमेंट के लिए मशीनी क्षमता में जहां लगभग आत्मनिर्भरता की स्थिति आ गयी थी, इलैक्ट्रिकल, परिवहन, खदान तथा मैटालर्जिकल उपकरणों के निर्माण की पर्याप्त संभावनाएं पैदा कर ली गयी थीं जिससे कि बिजली, रेलवे, इस्पात और कोयले के क्षेत्रों में विदेशी सहायता के बिना भावी विकास की गति को बनाये रखा जा सके।

इस प्रकार जहां सन् 1950-51 में लगभग सभी मशीनरी आयात करनी पड़ती थी, वहां योजनाबद्ध विकास के 15 वर्षों के बाद बहुआयामी पूंजीगत माल जैसे कि 200 हार्स पावर की बिजली मोटरें, एल.टी. स्वीचगियर्स, व्यापारिक वाहन तथा अन्य स्वचालित वाहन, वैगन, रोडरोलर, सूती वस्त्र, चीनी और सीमेंट मशीनरी, औद्योगिक बायलर, चाय बागान मशीनरी, डीज़ल इंजन, बिजली चालित पंप, बॉल बेयरिंग, मैकेनिकल हैंडलिंग उपकरण, टेलीफोन उपकरण तथा टेलीप्रिंटर आदि में ऊंचे दर्जे की आत्मनिर्भरता भी प्राप्त कर ली थी। सन् 1961-66 के दौरान मशीनी उपकरणों के उत्पादन में चार गुनी वृद्धि हो गयी थी। लेकिन मशीनरी के आयात में भी कोई कमी नहीं आयी थी। इसका अर्थ था कि विकास की गति बहुत तेज थी और मशीनरी के लिए अर्थव्यवस्था की आवश्यकता अब और अधिक श्रेष्ठ तथा भारी भरकम मशीनों के पक्ष में बदलती जा रही थी। सन् 1965-66 में मशीनरी का उत्पादन 500 करोड़ रुपये अनुमानित किया गया।

मशीनी क्षेत्र के तेजी से होते विकास का प्रारम्भिक चरण सन् 1965-66

में समाप्त हो गया। बाद के वर्षों में औद्योगिक विकास में गतिरोध आया। इस क्षेत्र के भविष्य का व्यापारिक उतार-चढ़ावों से गहरा संबंध है और यह मुख्यतः सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्रों में हुए निवेश पर निर्भर करता है।

औद्योगिक उत्पादन (सन् 1960–100) के सूचकांक के अनुसार तीसरी योजना अवधि में पूंजीगत वस्तुओं के उद्योगों के उत्पादन में 19.5 प्रतिशत वार्षिक दर से वृद्धि हुई। तीन वार्षिक योजना वर्षों में (सन् 1966-69) में विकास दर उलटी (गहणात्मक) रही। सन् 1970 को आधार मानकर बनाये गये नये सूचकांक के अनुसार विकास दर में चौथी योजना की अवधि में 6.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई लेकिन पांचवीं योजना की अवधि में 5.7 प्रतिशत की गिरावट आयी तथा छठी योजना की अवधि में यह गिरावट 5.1 प्रतिशत तक आ गयी।

तीसरी योजना के बाद पूंजीगत वस्तु उद्योग में गिरावट का मुख्य कारण था कि आयातित विकल्प पर दिया गया प्रारंभिक ज़ोर तथा फैलते हुए निवेश से उत्पन्न बढ़ती मांग अब समाप्त हो गयी थी। अर्थव्यवस्था में किया गया विनियोजन अब वास्तविक रूप में दोषपूर्ण सिद्ध हो रहा था।

उपरोक्त तथ्य पांचवीं और छठी योजना अवधि की विशेषताएं थीं। इनके अतिरिक्त, कुछ और भी विशिष्ट कारण थे जो अलग-अलग उत्पादों की मांग को प्रभावित करते थे। उदाहरण के लिए, छठी योजना के दौरान, मांग में आयी कमी ने व्यापारिक वाहनों, ट्रैक्टरों तथा वैगनों के उत्पादन के विकास को काफी प्रभावित किया।

प्रमुख औद्योगिक मशीन समूहों की प्रगति की समीक्षा नीचे दी जा रही है।

खनन तथा तेलशोधन/उत्पादन

भारी तथा प्रारंभिक मशीनी क्षेत्र में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण है खनन मशीनें, धातुकर्मीय उपकरण, भारी इलैक्ट्रिकल उपकरण तथा निर्माण कार्य संबंधी मशीनें।

खनन मशीनों के समूह में, सबसे अधिक महत्वपूर्ण भूमि कम्पन (अर्थ मूविंग) उपकरण तथा ड्रिलिंग उपकरण हैं जिनकी आवश्यकता मुख्यतः कोयला उद्योग को होती है। सार्वजनिक क्षेत्र की माइनिंग एंड एलाइड मशीनरी कारपोरेशन के नेतृत्व में इस उद्योग ने गत तीन दशकों में काफी अच्छी प्रगति की है जिसने देश को उपकरण की प्रमुख वस्तुओं में आत्मनिर्भरता प्रदान की है। फिर भी, विशालकाय ड्रिल, संस्पेंशन गियर्स, खनन कार्य, बड़े-बड़े अभ्यास के लिए क्षमताओं का निर्माण करना आवश्यक होगा। उद्योगों की मुख्य समस्याएं पर्याप्त मांग की आवश्यकता है जिनमें पर्याप्त समय अवधि, प्रौद्योगिकीय प्रोन्नति तथा नये उत्पादों के विकास का प्रावधान हो।

तेल के क्षेत्र में, अनेक प्रकार के उपकरण, बनाये गये ढांचों तथा अन्य वस्तुओं की आवश्यकता होती है। देश इस समय अधिकांश आधुनिक उपकरणों के लिए आयात पर निर्भर करता है। आवश्यकता है उचित नीति द्वारा समर्थित एक नियमबद्ध कार्यक्रम की जिससे स्वदेशी योग्यता तथा कौशल को प्रोत्साहन मिल सके।

धातुकर्मीय उपकरण

औद्योगिक मशीनी समूह में, धातुकर्मीय उपकरणों का निर्माण सर्वाधिक महत्वपूर्ण माना जा सकता है जो देश के औद्योगिक आधार को शक्ति तथा विविधता प्रदान कर सकता है। यह उद्योग इस्पात तथा अल्मुनियम जैसे आधारभूत धातुओं के विकास के लिए आवश्यक मशीनें निर्माण करता है। उद्योग की कुल क्षमता 90,000 टन प्रतिवर्ष है जिसमें अकेले सार्वजनिक क्षेत्र की हैवी इंजीनियरिंग कारपोरेशन, रांची के ही खाते में 45,000 टन जाता है।

एच.ई.सी. का उत्पादन क्षेत्र भी बहु-व्यापी है। एक प्रकार से, एच.ई.सी. उद्योग की वर्तमान स्थिति का प्रतीक है। सन् 1958 में सोवियत सहायता से स्थापित, एच.ई.सी. ने हाल ही में नये सहयोग के समझौते किये हैं, लेकिन उत्पादन के केवल विशेषीकृत क्षेत्रों में ही। मेटालर्जिकल उपकरण के लिए टैक्नोलौजी समय से 10-15 वर्ष पीछे रही है। यह संयंत्र इस्पात संयंत्रों के लिए आवश्यक अधिकांश उपकरणों को सप्लाई करने योग्य है। लेकिन, टैक्नोलॉजी में उचित प्रगति के अभावों को देखते हुए, देश इस मामले में आत्मनिर्भर नहीं कहा जा सकता। इस्पात संयंत्र के विस्तार तथा नयी परियोजनाओं के लिए मौलिक परिरूप अभी भी विदेशों से आयात करना पड़ता है। भट्ठियों, इलैक्ट्रोनिक्स जैसे क्षेत्रों में कोई उन्नति नहीं हुई है।

इस्पात, अल्मुनियम आदि के निर्माण के लिए आधारभूत संरचना का विकास करने के बाद, मेटालर्जिकल उद्योग को अब विशिष्ट ग्राहकों के रूप, प्रकार, गुणवत्ता, विशेष प्रकार के इस्पात, आदि जैसी मांगों की पूर्ति के लिए योजना बनानी होगी। इसके लिए उपकरण निर्माताओं से काफी सहयोग की आवश्यकता होगी, जिसके लिए अच्छे टेक्नोलौजिकल आयात की आवश्यकता होगी।

असंतोषजनक मांग की स्थिति इस उद्योग की समस्या है। क्षमता उपयोगिता मात्र 50 प्रतिशत रही है। क्षमता सन् 1990 तक की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए काफी है। एच.ई.सी. रांची की स्थिति विशेषकर कष्टकर है क्योंकि इसकी क्षमताएं या तो उपयोग में नहीं हैं अथवा हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल नहीं हैं। एच.ई.सी. जो कभी औद्योगिक उत्थान का प्रतीक माना गया था, अब एक

अक्षम दैत्यमात्र बनकर रह गया है।

एच.ई.सी. अब अपने उत्पादों में वैविध्यकरण का कार्य हाथ में ले रहा है। अब यह उच्चतर मूल्य के उपकरण जैसे भेल (BHEL) के लिए रोटोर फोर्जिंग, हैवी ड्यूटी के लिए सी.एन.सी. मशीन उपकरण आदि का निर्माण करने जा रहा है। एच.ई.सी. की समस्याओं का निराकरण तब तक नहीं हो सकता जब तक कि इसकी उत्पादन व्यवस्था में मूलभूत परिवर्तन तथा एक दीर्घकालीन उत्पाद बहुआयामी योजना का निर्माण और उसका क्रियान्वयन न किया जाये।

उद्योग को अपने मौलिक ढांचे में परिवर्तित करने की आवश्यकता है जिससे कि इसकी इकाइयां एक अच्छे आकार तथा आधुनिकतम प्रौद्योगिकी के साथ उत्थान कर सके और स्पंज आयरन, इंटेंसिव रिडक्शन, लेडले रिफाइनिंग आदि के लिए नयी-नयी तकनीकों द्वारा दी गयी चुनौतियों का सामना करने के लिए स्वयं को तैयार कर सके। इनको सिस्टम डिजाइन, प्रक्रिया तकनीक, तथा उपकरणों की सप्लाई सहित प्रमुख अनुबंधों को प्राप्त करने के लिए एक एकीकृत योजना अपनानी होगी। इनको परियोजना क्रियान्वयन की प्रारंभिक स्थिति से ही अधिकारियों तथा सलाहकारों के साथ मिलकर विचार-विमर्श करना चाहिए जिससे बदलती तकनीकों तथा उपकरणों की आवश्यकताओं की पहचान हो सके।

भारी विद्युतीय उपकरण

सार्वजनिक क्षेत्र की भारत हैवी इलैक्ट्रिकल्स लि. (भेल) के नेतृत्व में विद्युतीय मशीनी उद्योग ने काफी उपलब्धियां अर्जित की हैं। ट्रांसफॉर्मर, एच.टी. सर्किट ब्रेकर, पावर कैपेसिटर, केबिल और कन्डक्टर, मोटर, बायलर, पावर जेनरेटर जैसी अधिकांश वस्तुओं की उपलब्ध क्षमता या तो पर्याप्त है अथवा आवश्यकता से अधिक है। आत्मनिर्भरता न केवल उपकरणों के निर्माण और पूर्ति में प्राप्त हुई, वरन् डिजाइन, अभियांत्रिकी तथा पावर संयंत्रों को चालू करने में भी हासिल हुई। वास्तव में, भेल इस समय उपकरणों की पूर्ति में विश्व निविदाओं के भरने में सफलतापूर्वक प्रतिस्पर्धा कर रहा है।

वास्तविक समस्या, सीमित मदद के कारण पावर प्रोग्राम अथवा उपकरणों के आयात में कमी के कारण पर्याप्त मांग न होने की है। इस कारण भेल तथा अन्य पावर उपकरण निर्माताओं को अपने उत्पादन में विभिन्नता लाने पर मजबूर किया है।

छठी योजना में प्रथम 500 मेगावाट तापीय इकाई का चालू किया जाना तथा 500 मेगावाट के टर्बोजेनरेटर और बायलर के निर्माण की शुरुआत उल्लेखनीय विकास का सूचक था। उच्च वोल्टेज के डी. सी. (एच. वी. डी. सी.) प्रेषण,

सहउत्पादन के उपकरणों आदि के निर्माण की भी शुरुआत की गयी थी।

विभिन्न लाइनों की तकनीक को श्रेष्ठतर बनाने की प्रक्रिया प्रारंभ की जा चुकी है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जहां नियमबद्ध तथा सतत प्रयत्नों की आवश्यकता होगी।

मशीनी औजार

आत्मनिर्भरतापूर्ण विकास के लिए औद्योगिकीकरण की योजना में मशीनी औजारों को मुख्य बिंदु कहा जा सकता है। किसी भी विशाल क्षेत्रीय निर्माण गतिविधि के लिए ये एक ऐसी मौलिक आवश्यकता है कि इनकी गुणवत्ता और विस्तार औद्योगिक अर्थव्यवस्था के लिए महत्वपूर्ण हैं। मशीनी औजार उद्योग के विकास पर अधिक जोर तब दिया गया था जब सन् 1953 में हिंदुस्तान मशीन टूल्स (एच.एम.टी.) की स्थापना की गयी। एच.एम.टी. ने देश के विभिन्न स्थानों पर अपनी इकाइयों की स्थापना कर अपना विस्तार कार्य जारी रखा।

सन् 1950 में उत्पादन लगभग शून्य से शुरू कर, इस उद्योग ने सन् 1986-87 में 357 करोड़ रुपये के मूल्य के मशीनी औजारों का उत्पादन किया। सन् 1984-85 में उत्पादन 300 करोड़ रुपये से अधिक का था जो 250 करोड़ रुपये के छठी योजना के लक्ष्य से अधिक ही था। लेकिन उत्पादन में महत्वपूर्ण अन्तर है। भारी मशीनी औजारों को बड़ी मात्रा में आयात करना पड़ता है। साथ-साथ, उच्च तकनीकी उपकरण जैसे सी.एन.सी. (कंप्यूटर न्यूमेरीकली कंट्रोल्ड) मशीनों के निर्माण के लिए निपुणता तैयार करनी होगी। फ्लैक्सिबल मैन्युफैक्चरिंग सिस्टम (एफ.एम.एस.) शुरू करने की भी संभावना है। इससे संतुलित अर्थव्यवस्था और उत्पादों के विदेशी आकार-प्रकार के लाभों को एक साथ मिलाकर देखने का अवसर मिलेगा।

भारत ने एन.सी./सी.एन.सी. के निर्माण का कार्य केवल आठवें दशक में शुरू किया। सन् 1980 में, देश में केवल दो ऐसी मशीनें थीं जबकि जापान में 4820 थीं। सन् 1986 में, हमने 50 और बनायीं, देश में कुल उपलब्ध 1182 में 90 प्रतिशत आयातित थीं। सातवीं योजना में सन् 1990 की कुल आवश्यकता का 90 प्रतिशत स्वदेशी निर्माण से पूर्ति करने का लक्ष्य है।

अन्य औद्योगिक मशीनें

अन्य प्रमुख उद्योग, जिनके लिए मशीन और उपकरणों का निर्माण देश में होता है, वे हैं–कपड़ा, चीनी, कागज, सीमेंट, छपाई तथा रबड़।

कपड़ा उद्योग मशीनें

टैक्सटाइल मशीनरी उद्योग इस देश में सबसे पुराने अभियांत्रिकी उद्योगों में एक हैं। अनेक वर्षों में, इस उद्योग का विस्तार न केवल क्षमता और उत्पादन में हुआ है वरन् विस्तार, गुणवत्ता और आधुनिकीकरण में हुआ है। कपड़ा मशीनों की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए इसकी क्षमता के अतिरिक्त मशीनी पुर्जे और हिस्से बनाने का इसने अपना मजबूत आनुषांगिक आधार बनाया है।

इस उद्योग की सफलताएं कपड़ा उद्योग की सफलताओं से जुड़ी हैं जिसके अपने उतार-चढ़ाव हैं। कपड़ा उद्योग का आधुनिकीकरण उद्योग संबंधी मशीनों की खपत के लिए एक मजबूत आधार प्रदान कर सकता है।

चीनी उद्योग मशीनें

चीनी उद्योग मशीनों की पूर्ति के लिए देश में काफी क्षमता है। मशीनों के निर्माताओं के पास 6000 टी.सी.डी. तक की क्षमता के संयंत्रों के निर्माण, पूर्ति, स्थापना तथा चालू करने की निपुणता है।

चीनी उद्योग का हाल ही में तेजी से विस्तार हुआ है। और मशीनों के निर्माताओं को अपनी क्षमता का विस्तार कर, संयंत्रों तथा उपकरणों का मानकीकरण तथा परिष्कृत एवं आधुनिकतम नियंत्रकों और औजारों के प्रयोग से स्वयं को लैस करना होगा।

सीमेंट मशीनें

सीमेंट की क्षमता और उत्पादन में सन् 1980 से काफी तेजी से विस्तार हुआ है। साथ-साथ ही, आधुनिक तकनीक के विशाल क्षमता संयंत्र लगाये जा रहे हैं, जो अधिकांशतः विदेशी फर्मों के सहयोग से हैं। इस कार्य में स्वदेशी दक्षता को सुदृढ़ करना होगा तथा टेक्नोलौजी के अंतरों को भरना होगा। ये अंतर मुख्यतः प्रक्रिया डिजाइन, प्रयोगशाला टैस्टों के द्वारा किये गये कच्चे माल के शोध, उपकरणों के आकार-प्रकार, विशेष रूप से चूना और कोयला पिसाई, से संबंधित हैं।

अन्य अधिकांश उद्योगों जैसे कागज, रबड़ आदि तथा क्रेन, सामग्री मिश्रण उपकरणों जैसी वस्तुओं की मशीनों के निर्माण में पर्याप्त अथवा अधिक क्षमता है। वास्तव में, कुछ वस्तुओं जैसे हवा और गैस कंप्रेसर तथा पावरचालित पंपों का काफी मात्रा में निर्गत किया गया है। लेकिन, बाल और रोलर बियरिंग के कुछ प्रकारों का अच्छा-खासा आयात भी हुआ है। कास्टिंग और फोर्जिंग में काफी अधिक क्षमता का उपयोग नहीं हुआ है।

जोड़ रहित स्टील ट्यूबों के मामले में, विशेषकर तेल क्षेत्र में, अतिरिक्त क्षमता बनाने की आवश्यकता है। इसी प्रकार, सामान्य रूप से जहां स्ट्रक्चरल्स के लिए क्षमता पर्याप्त है वहीं तेल और प्राकृतिक गैस आयोग के लिए तटीय प्लेटफार्मों के बारे में काफी अंतर है।

पूरे तौर से, औद्योगिक मशीनी उद्योग आंकड़ों की दृष्टि से काफी अच्छी तस्वीर पेश करता है। लेकिन, इसमें कुछ महत्वपूर्ण अन्तर अभी भरे जाने हैं, प्रौद्योगिकी को पूरे तौर पर श्रेष्ठतम बनाने की आवश्यकता है तथा उच्च श्रेणी की परिष्कृतता और कौशल लाना आवश्यक है।

कैमिकल तथा पैट्रोकैमिकल मशीनें

देश में कैमिकल उपकरणों तथा मशीनों के डिज़ाइन, अभियांत्रिकी और निर्माण के लिए स्वदेशी ज्ञान सुदृढ़ है। भारत अब इस स्थिति में है कि उर्वरक, कैमिकल तथा पैट्रोकैमिकल उद्योगों के भावी विस्तार की अधिकांश आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके। फिर भी, डिजाइन, अभियांत्रिकी तथा उत्पादन प्रौद्योगिकी को आधुनिकतम बनाने की आवश्यकता है जिससे कि हमारे निर्माता विश्व प्रतिस्पर्धा में अपना नाम कमा सके।

परिवहन उपकरण

स्वचालित क्षेत्र

सड़क पर चलने वाले ट्रकों ओर बसों की संख्या सन् 1950-51 में लगभग 8200 तथा 34,400 से सन् 1984-85 में बढ़कर 6.63 लाख तथा 2.06 लाख क्रमशः हो गयी। इसी दौरान, व्यापारिक वाहनों के उत्पादन की संख्या प्रति वर्ष 2200 से बढ़कर लगभग एक लाख हो गयी। फिर भी, भारत अन्य राष्ट्रों की तुलना में, वाहन-जनसंख्या अनुपात में तथा वाहन-सड़क लंबाई अनुपात में अभी भी सबसे नीचे है। एक विकासशील देश में जैसी आशा की जा सकती है, चार पहिये वाले वाहनों के उत्पादन का अधिकांश भाग पहले व्यापारिक वाहनों का था जो अपेक्षाकृत अधिक तेजी से विकसित हो रहा था। व्यापारिक वाहनों के उत्पादन में लगभग तीन-चौथाई भारी तथा मध्यम ड्यूटी के वाहनों की श्रेणी में किये गये हैं।

व्यापारिक वाहनों का उत्पादन लगातार योजना के लक्ष्यों से नीचे रहा है तथा मांग-पूर्ति का असंतुलन, कुछ समय को छोड़कर, लगातार बना रहा है।

छठी योजना में कुछ लक्ष्य प्राप्त हुए जब व्यापारिक वाहनों के उत्पादन में

सन् 1979-80 के 57,400 से सन् 1984-85 में 96,800 की लंबी छलांग लगायी।

छठे दशक में सवारी कारों के उत्पादन में अपेक्षाकृत तेजी से विस्तार हुआ। लेकिन यह शीघ्र ही उत्कर्ष पर पहुंच गया और उत्पादन सातवें दशक में या तो ठहर गया या फिर घटने लगा। पांचवें दशक के प्रारंभ में 3,000 कारों के स्तर से उत्पादन सातवें दशक में 40,000 तक पहुंच गया। सन् 1973-74 में पेट्रोल की कीमतों में अप्रत्याशित वृद्धि ने इस उद्योग को गहरा झटका दिया। सन् 1975-76 में कारों का उत्पादन गिरकर 22,000 तक पहुंच गया। यद्यपि बाद के वर्षों में इसमें कुछ सुधार हुआ, वास्तविक वृद्धि छठी योजना अवधि के दौरान हुई। 1979-80 के 35,000 संख्या के उत्पादन से सन् 1984-85 में कारों का उत्पादन 74,200 तक पहुंच गया जो योजना के लक्ष्यों के 48,000 से 50 प्रतिशत से भी अधिक था।

सातवें दशक के दौरान चार पहियों वाले वाहनों के उत्पादन में सापेक्षतया आये ठहराव के विपरीत दुपहिया वाहनों के उत्पादन में अच्छी तेजी आती जा रही थी। विशेषकर स्कूटर की मांग काफी अधिक थी। सन् 1970-71 से सन् 1979-80 तक दुपहिया वाहनों का उत्पादन 1.09 लाख की संख्या से बढ़कर 3.0 लाख तक की संख्या तक पहुंच गया। और, स्वचालित वाहन-क्षेत्र के अन्य हिस्सों में दुपहिया वाहनों के उत्पादनों की संख्या सन् 1984-85 में 9.18 लाख तक पहुंच गयी जो योजना के 5 लाख के लक्ष्य से काफी अधिक थी। किसी भी स्तर से यह एक अप्रत्याशित उपलब्धि थी।

स्वचालित वाहनों के क्षेत्र में हुई प्रभावशाली उपलब्धियों का केवल संख्यात्मक आयाम नहीं था। यह वास्तव में इस क्षेत्र में होने वाली क्रांति की एक शुरुआत थी। छठी योजना में सभी उत्पादों में वाहन के डिजाइन को, आधुनिकतम टेक्नोलौजी तक को उच्चता देने के कार्यक्रम शुरू किये गये। व्यापारिक वाहनों, सवारी कारों तथा दुपहिया वाहनों में आधुनिक तथा बचत करने वाले मॉडल शुरू किये गये। पहली बार, उपभोक्ता के सामने उन्नत, विकसित तथा सक्षम वाहनों का विस्तृत विकल्प था। निर्माताओं की नीतियों में उचित परिवर्तन कर उत्पादन, ईंधन तथा अन्य सामग्री की कार्यकुशलता तथा उच्चतर उत्पादनशीलता में आर्थिक ऊंची उड़ान भरने को प्रोत्साहित किया गया।

मारुति उद्योग

सवारी कारों के क्षेत्र में सन् 1982 में मारुति उद्योग लिमिटेड (मारुति) के आ जाने से दृश्य में परिवर्तन हुआ। मारुति ने सन् 1986-87 में एक लाख कारों की क्षमता प्राप्त कर ली। सन् 1987-88 में इसने 80,000 कारों का उत्पादन

किया। इस प्रकार कारों के बढ़ते उत्पादन का अधिकांश इस नये उद्योग से आया। मारुति के आने से अन्य निर्माताओं को विकसित मॉडल, कम लागत तथा अधिक उत्पादनशीलता लाने की कोशिश करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

सातवीं योजना के लक्ष्य

सातवीं योजना में उत्पादन के निम्न लक्ष्य रखे गये हैं–

तालिका 10.7

प्रकार	*1984-85 (वास्तविक)*	*1989-90 (लक्ष्य)*
1. व्यापारिक वाहन	96,800	1,60,000
2. सवारी कार	74,200	1,30,000
3. जीप	25,200	45,000
4. दुपहिया वाहन	9,18.000	16.00.000

स्वचालित वाहनों में हाल ही में हुए विकास को आयातित टैक्नोलौजी तथा आयातित पुर्जों और आनुषांगिक उपकरणों से बल मिला है। इनका स्वदेशीकरण किया जाना आवश्यक है। हल्के भार की सामग्री तथा वाहनों की बॉडी के लिए वायु गतिशील डिज़ाइनों के प्रयोग से ईंधन में और अधिक बचत की जा सकती है सभी इकाइयों को उत्पादन में आर्थिक ऊँचाइयां प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

योजना का दूसरा लक्ष्य सार्वजनिक वाहन व्यवस्था को विकसित करना है। महानगरीय, कस्बाई तथा स्थानीय नगरों की परिवहन व्यवस्था की विशिष्ट आवश्यकताओं को पूरा करने की दृष्टि से बसों के चेसिस और बॉडी के मानक डिज़ाइन बनाने में अच्छी खासी प्रगति हुई है। सभी दृष्टियों से सुसज्जित बसों के डिज़ाइन तथा नमूनों का निर्माण भी चल रहा है। इन बसों के आ जाने से ईंधन की बचत और उपभोक्ताओं के आराम में वृद्धि होगी।

जैसा कि पहले चर्चा की गयी, एक तरफ तो कार उद्योग को प्रोत्साहन देकर व्यक्तिगत परिवहन को बढ़ावा देने की सरकारी नीति तथा दूसरी तरफ परिवहन क्षेत्र के गहरे ऊर्जा बचत अभियान के संदर्भ में परिवहन की बढ़ती आवश्यकताओं के लिए एकमात्र-समाधान के रूप में सार्वजनिक परिवहन प्रणाली पर जोर देना–इन दो विरोधाभासों से एक विसंगति की स्थिति बन जाती है।

रेल के डिब्बे

रेल के डिब्बों में वैगन, इंजन तथा यात्री डिब्बों को शामिल किया जाता है। वैगन बनाने वाली 9 कंपनियां हैं जिनमें से चार सार्वजनिक क्षेत्र में हैं। उनकी क्षमता इस प्रकार है–

तालिका 10.8

क्षमता (संख्या में)

	लाइसेंस प्राप्त	*संस्थापित*
सार्वजनिक	18,940	17,440
निजी	9,600	12,344
कुल	28.540	29,784

वैगन उद्योग की क्षमता उपयोगिता काफी निराशाजनक रही है लगभग 50 प्रतिशत, इसका कारण है रेलवे द्वारा इसका उपयोग न करना। अग्रिम रूप से अपनी मांग का आदेश देना आवश्यक होता है जिससे कि उद्योग अपने उत्पादन को योजनाबद्ध कर सके। उत्पादनशीलता में वृद्धि करने की दृष्टि से देश में वैगन निर्माण की टैक्नोलौजी को भी बढ़ाना होगा। विशेष कार्यों के लिए विशेष प्रकार के वैगनों का डिज़ाइन बनाना और विकसित करना होगा, जिससे कि इनकी गति, घुमाव आदि में विकास हो सके।

रेलवे इंजन सार्वजनिक क्षेत्र की डीज़ल लोकोमोटिव वर्क्स तथा चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स द्वारा बनाये जाते हैं। रेलवे की योजना सन् 2000 से पहले भाप इंजनों को समाप्त करने की है। ऊर्जा के और अधिक कुशल और सक्षम उपयोग के लिए तरल ईंधन की बचत आवश्यक है और इसके लिए विद्युतीकरण पर जोर दिया जाना जरूरी है। मार्च 1984 में रेलवे डिब्बों की स्थिति इस प्रकार थी–

तालिका 10.9

रेल के डिब्बे –(1.3.1984 की स्थिति)

प्रकार	*संख्या*
इंजन	**10,211**
1. डीजल	2,805
2. विद्युत	1,194
3. भाप	6,212

सवारी डिब्बे	**30,202**
1. डीजल रेल कार	52
2. ई.एम.यू. (विद्युत)	2,850
3. अन्य	27,300
वैगन	**3,75,000 इकाइयां**
	(अर्थात् 5,28,000 चार पहिये के डिब्बे)

सातवीं योजना के लक्ष्य

रेलवे में अत्यधिक पुराने डिब्बों की समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया है और इसका समाधान एक योजना की समयावधि में नहीं किया जा सकता। सातवीं योजना में, इसलिए इसका समाधान विभिन्न चरणों में निकालने का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार बदलने तथा विस्तार दोनों के लिए अच्छी खासी संख्या में वैगनों और इंजनों को बढ़ाने की आवश्यकता होगी। यह भी प्रस्तावित है कि योजना अवधि में 96,000 वैगन (4 पहियों वाले), 6,950 सवारी डिब्बे, 950 ई.एम.यू. तथा 1,235 विद्युतीकृत/डीजल इंजनों की संख्या बढ़ायी जायेगी। इस उद्देश्य के लिए योजना में अतिरिक्त बराबर की क्षमता का प्रावधान रखा गया है।

तकनीकी उच्च श्रेष्ठता

जैसा कि इससे पूर्व चर्चा की गयी, पूंजीगत माल का क्षेत्र तैयार माल के अधिकांश उपभोक्ताओं के लिए एक मूलभूत आवश्यकता है। और इसकी कार्यक्षमता और उत्पादनशीलता अर्थव्यवस्था के बहुत बड़े भाग के लिए मार्गदर्शक होती हैं लेकिन गत कुछ वर्षों में, यह क्षेत्र आधुनिकीकरण में पिछड़ता गया है और अपनी प्रतिस्पर्धात्मक स्थिति को खोता जा रहा है। इस क्षेत्र को तकनीकी श्रेष्ठता क्यों प्राप्त करनी चाहिए। इसका एक और महत्वपूर्ण कारण है। हमारे अभियांत्रिक उद्योगों की अत्यधिक निर्यात क्षमताएं हैं और इनका उपयोग हो सकता है यदि वे विश्वबाजार में प्रतिस्पर्धात्मक बन सकें।

इसके अतिरिक्त, सातवीं योजना ने इस क्षेत्र के सामने अनेक चुनौतियां खड़ी कर दी हैं। योजना का उद्देश्य तेल क्षेत्र के लिए उपकरण निर्माण आत्मनिर्भरता के समीप पहुंचना है। स्वचालित परिवहन के क्षेत्र के लक्ष्य भी काफी महत्वाकांक्षी रखे गये हैं।

इसलिए सातवीं पंचवर्षीय योजना में बहु-आयामी पैकेज के माध्यम से पूंजीगत मालनिर्माण क्षेत्र की कार्यक्षमता में चहुंमुखी विकास पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया है। इस पैकेज के मुख्य तथ्य इस प्रकार हैं—

(1) आयातित प्रौद्योगिकी तथा घरेलू शोध तथा विकास प्रयत्नों के उचित मिश्रण के माध्यम से प्रौद्योगिकीय श्रेष्ठता।

(2) विशिष्ट प्रौद्योगिकी कार्यों के माध्यम से प्रौद्योगिकी लक्ष्यों की प्राप्ति।

(3) उचित शोध संस्थानों तथा आधारभूत संरचना की स्थापना।

(4) अभियांत्रिकी विज्ञान में आवश्यक बिन्दुओं को रेखांकित करना तथा उचित माध्यमों द्वारा उनका क्रियान्वयन।

(5) इकाइयों, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्रों का पुनर्निर्माण जिससे कि उनसे अधिकतम उत्पादन तथा अन्य सुविधाएं ली जा सकें तथा नेतृत्व का निर्धारण जिससे कि प्रौद्योगिकीय श्रेष्ठता प्राप्त करने पर अधिक जोर दिया जा सके।

प्रमुख सार्वजनिक उद्यमों ने विशिष्ट प्रौद्योगिकी लक्ष्यों को निर्धारित किया है। आशा की जाती है कि हमारे अग्रणी उद्यम, सार्वजनिक तथा निजी दोनों ही क्षेत्रों के, अपने कार्यों तथा श्रेष्ठता में उचित समयावधि में विश्व स्तरों तथा मानकों को प्राप्त कर लेंगे।

प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से, सरकार ने प्रौद्योगिकी के उदार आयात तथा पूंजीगत माल को सस्ते दर पर आयात करने की इज़ाजत दे दी है। पांच पूंजीगत वस्तुओं–कास्टिंग तथा फोर्जिंग, पावर उत्पादन उपकरण, मशीनी औजार, औद्योगिक मशीनें तथा विद्युत उपकरण–के क्षेत्र में प्रौद्योगिकी श्रेष्ठता योजनाओं की उद्घोषणा की गयी है। इन योजनाओं का क्रियान्वयन भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा किया जा रहा है। इन योजनाओं में और अधिक उदारीकरण तथा विस्तृतीकरण अभी विचाराधीन है।

अभियांत्रिकी निर्यात

गत दशक के दौरान अभियांत्रिकी निर्यात, भारत के निर्यात में एक गतिशील क्षेत्र के रूप में उभरा है। अभियांत्रिकी वस्तुओं का निर्यात सन् 1971-72 के 125 करोड़ रुपये से बढ़कर सन् 1982-83 में 1250 करोड़ रुपये तक जा पहुंचा। अर्थात् 23 प्रतिशत की मिश्रित वार्षिक विकास दर से इसमें वृद्धि हुई। परिणामस्वरूप, इनका हिस्सा भारत के कुल निर्यात में 7.7 प्रतिशत से बढ़कर 13.5 प्रतिशत, लगभग दुगुना हो गया। फिर भी, हम अपने उत्पादन का लगभग 5 प्रतिशत से अधिक का निर्यात नहीं करते और हमारे निर्यात अभियांत्रिकी वस्तुओं के विश्व व्यापार का 0.2 प्रतिशत अधिक नहीं होते।

दी कमेटी ऑन प्रस्पेक्टिव प्लान एंड स्ट्रेटिजी फॉर एक्सपोर्ट ऑफ इंजीनियरिंग एण्ड कैपिटल गुड्स का मत था कि यदि उचित प्रोत्साहन दिया जाय तथा नीतिपरक प्राथमिकताएं घोषित की जायें तो अभियांत्रिकी वस्तुओं के निर्यात

में बढ़ोत्तरी कर इसे सन् 1990 में 10,000 करोड़ रुपये तक लाया जा सकता है। ऐसे 23 मुख्य उद्योग चिह्नित कर लिये गये हैं तथा उद्योग के अनुसार निर्यात की योजनाएं बना ली गयी हैं।

अभियांत्रिकी वस्तुओं के निर्यात पर इतना अधिक सोच-विचार तथा बल देने के बावजूद, देश में इसे (निर्यात को) उत्पादन का आधिक्य अथवा बचे हुए माल को निकालने का एक तरीका मानने की भावना बनी हुई है। सन् 1987-88 में 2300 करोड़ रुपये तक निर्यात के बढ़ने का मुख्य कारण देश में सूखे के कारण घरेलू मांग में मंदी था। सन् 1989-90 में घरेलू मांग में वृद्धि हुई तथा 2500 करोड़ रुपये का निर्यात लक्ष्य बहुत अधिक महत्वाकांक्षी लग रहा है। यद्यपि विश्व बाज़ार में मांग काफी अधिक है। स्पष्टतः, एक अभियांत्रिकी वस्तुओं के निर्यात के लिए एक दीर्घकालीन सकारात्मक योजना बनाने की आवश्यकता है जिसमें निर्यात की आवश्यकताओं को देखते हुए क्षमता निर्माण पर जोर देना होगा। इस तरह की योजना से उत्पादन तथा प्रतिस्पर्धा के दौर में देश की इकाइयों को विश्व की इकाइयों की तुलना में उभरने का अवसर मिलेगा।

अध्याय 11

उभरते उद्योग

इलैक्ट्रोनिक्स–तीसरी क्रांति

इलैक्ट्रोनिक्स के विकास ने मानव जीवन में अकल्पनीय वातायन खोल दिये हैं। संसार ने इलैक्ट्रोनिक्स क्रान्ति देखी है। आज इलैक्ट्रोनिक्स का प्रवेश मानव गतिविधि के प्रत्येक क्षेत्र में है और इसके हाथ में आधुनिकीकरण के ताले की चाबी है। इसमें मनुष्य के जीवन को सुधारने तथा उसके स्तर में और अधिक विकास करने की असीम संभावनाएं हैं। गत तीन दशकों के दौरान, इस क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। इलैक्ट्रोनिक्स प्रौद्योगिकी में नये-नये उत्पादों तथा प्रक्रियाओं का जन्म हुआ है। जिन्होंने प्रचलित विद्युतकीय मैकेनिकन उत्पादों तथा प्रक्रियाओं को बाज़ार से हटाकर काफी कम कीमत पर अपना अस्तित्व कायम किया। आधुनिक इलैक्ट्रोनिक्स उद्योग, संचार तथा अणु शक्ति, रक्षा, अन्तरिक्ष जैसे सामरिक महत्व के क्षेत्र में विकास एवं क्रियान्वयन तथा इनके आंकड़ों की प्रोसेसिंग आदि कार्यों के लिए अत्यधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। अभी जो हर तरह की सूचनाएं क्रांतिकारी ढंग से आ रही हैं, इलैक्ट्रोनिक साधनों के अभाव में अकल्पनीय थी। अब आंकड़ों के एकत्रीकरण, उनकी प्रोसेसिंग तथा विस्तारीकरण के लिए उपलब्ध है।

इलैक्ट्रोनिक्स उद्योग की कुछ अपनी विशेषताएं हैं जो हमारी परिस्थितियों में अलग महत्व की हैं। यह श्रमोन्मुख है और विशाल प्रशिक्षित श्रमशक्ति को नियुक्त कर सकती है। इसमें स्थान विशेष का महत्व नहीं है और इसका क्षेत्रीय फैलाव संभव है। तथा लघुस्तरीय उत्पादन हो सकता है। घरेलू तथा निर्यात संबंधी मांग की पूर्ति हेतु इसके विस्तार की भी काफी संभावनाएं हैं।

(विश्व इलैक्ट्रोनिक उद्योग के वर्तमान आयाम विभाग चकराने वाले हैं। सन्

1983 में इलैक्ट्रोनिक की विश्व खपत अमेरिकन डॉलर 300 बिलियन आंकी गयी थी। इसमें आधी अर्थात् डॉलर 150.4 बिलियन केवल अमेरिका की है, लगभग डॉलर 50 बिलियन सूदूरपूर्व (मुख्यतः जापान) की है तथा शेष पश्चिमी यूरोप की है। डाटा प्रोसेसिंग, उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स तथा रक्षा (अमेरिका में) इसके मुख्य उपभोक्ता हैं जैसा कि तालिका 11.1 से स्पष्ट है—

तालिका 11.1
इलैक्ट्रोनिक्स की खपत 1983 में
(अमेरिकन डालर बिलियन)

कार्य क्षेत्र	*अमेरिका*	*जापान*	*पश्चिमी यूरोप*
1. डाटा प्रोसेसिंग—साफ्टवेयर और कार्यालय उपकरण	61.7	14.0	20.6
2. उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स	22.7	11.0	15.2
3. सेमीकंडक्टर तथा पुर्जे	9.1	13.6	10.2
4. संचार संबंधी उपकरण	8.3	2.9	11.1
5. औद्योगिक उपकरण	4.5	6.0	2.9
6. रक्षा	34.5	—	—
7. अन्य	9.6	2.3	3.1
कुल	150.4	49.8	63.1

गत दो से तीन दशकों के दरम्यान भारतीय इलैक्ट्रोनिक उद्योग ने काफी तीव्र गति से प्रगति की है फिर भी, सन् 1986-87 में इसका 3855 करोड़ रुपये उत्पादन विश्व के उत्पादन से एक प्रतिशत कम था। इतने कम अंतर के बावजूद इस उद्योग में मनोरंजन इलैक्ट्रोनिक से लेकर दूरसंचार उपकरणों, औद्योगिक तथा व्यावसायिक उपकरणों, जैसे कम्प्यूटर, रक्षा तथा अन्तरिक्ष इलैक्ट्रोनिक तक के विविध आयामी उत्पादों तथा प्रौद्योगिकी को सम्मिलित किया जाता है।

भाभा कमेटी रिपोर्ट (सन् 1966) देश में इस उद्योग के विकास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। यहाँ तक कि भाभा कमेटी के सर्वाधिक ऊंचे अनुमान कुछ ही वर्षों में अत्यंत कम सिद्ध हुए। छठे दशक के बाद के वर्षों में इलैक्ट्रोनिक का उत्पादन 25 प्रतिशत के अधिक की वार्षिक औसत दर से विकसित हुआ। सन् 1965-75 के दशक की आवश्यकता का भाभा कमेटी ने 1650 करोड़ रुपये अथवा 165 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष के औसत से अनुमान लगाया था। लेकिन वास्तविक उत्पादन दुगुना हो गया, पहले सन् 1964-65 तथा सन् 1966-67 के बीच तथा एक बार फिर सन् 1966-67 और सन् 1969-70 के बीच। कमेटी ने माना था

कि मनोरंजन उपकरणों जैसे रेडियो सेट, टी.वी. सेट, तथा टेपरिकार्डर का उत्पादन सन् 1965 से सन् 1970 के दौरान दुगुना हो जायेगा। वास्तव में यह चार गुना हो गया तथा इन वस्तुओं की कीमतों में गिरावट 30 प्रतिशत से भी अधिक हो गयी। यह सब-कमेटी के अनुमान से कहीं अधिक था। इसने देश में 'ट्रांजिस्टर क्रांति' का सूत्रपात किया। उपभोक्ता ग्रेड के पुर्जों के उद्योग के विकास के साथ ही, रेडियो सेट के आयातित पुर्जों का हिस्सा शून्य हो गया।

तीव्र विकास

सत्तर के दशक में उद्योग का विकास जारी रहा। इलैक्ट्रोनिक उत्पादन सन् 1969-70 तथा सन् 1972-73 के बीच तथा फिर सन् 1972-73 तथा सन् 1976 के दौरान दुगुना हो गया। इस प्रकार, इलैक्ट्रोनिक्स का उत्पादन भाभा कमेटी द्वारा रखे गये लक्ष्यों से लगातार बढ़ता ही गया। 1977 में वास्तविक उत्पादन लक्षित 454 करोड़ रुपये के विरुद्ध 509 करोड़ रुपये का था। यह सन् 1969-70 के स्तर में पांच गुनी वृद्धि थी तथा इसका अर्थ था 45 प्रतिशत की औसतन वार्षिक विकास दर। छठे दशक के अन्तिम वर्षों में हुई 24 प्रतिशत की औसतन वार्षिक विकास दर में यह एक महत्वपूर्ण प्रगति थी। सन् 1978 तथा सन् 1979 में इस विकास दर में कुछ सुस्ती आयी। सन् 1978 में उत्पादन 591 करोड़ रुपये तक पहुंचकर 16 प्रतिशत अधिक था तथा सन् 1979 में 605 करोड़ रुपये तक पहुंचकर 11 प्रतिशत अधिक था।

छठी योजना के लक्ष्य

सत्तर के दशक में, इलैक्ट्रोनिक उद्योग का आविर्भाव एक उच्चस्तरीय विकासमान क्षेत्र के रूप में हुआ तथा इसके पिछले विकास को देखते हुए इसकी विकास संभावनाओं पर विचार करना आवश्यक था। इसलिए इलैक्ट्रोनिक उद्योग के संबंध में एक उच्चस्तरीय कमेटी का गठन हुआ। कमेटी ने अपनी रिपोर्ट छठी पंचवर्षीय योजना के आरंभ होने से पूर्व ही दे दी।

छठी योजना के कार्यक्रमों में मुख्य जोर पुर्जा और सामग्री के विशेषीकृत आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए क्षमताओं के विस्तार का प्रावधान करना था। बल देने का दूसरा क्षेत्र प्रौद्योगिकीय श्रेष्ठता तथा उपकरणों एवं पुर्जों का मानकीकरण था।

सन् 1980 के प्रारंभ से ही योजना के लक्ष्यों की उपलब्धियों को सुनिश्चित करने की दृष्टि से नीतियों में मुख्य परिवर्तन शुरू किये गये। लाइसेंस तथा आयात करने की नीतियों को उदार बनाया गया। बड़े उद्योगों, इलैक्ट्रोनिक स्विचिंग सिस्टम,

व्यावसायिक स्तर के पुर्जो तथा पी सी बी, सिलीकोन निर्माण सुविधाओं आदि के क्षेत्र में निवेश योजनाएं शुरू की गयीं।

निम्नांकित तालिका में योजना के लक्ष्यों और उपलब्धियों की समीक्षा की गयी है–

तालिका 11.2
इलैक्ट्रोनिक्स का उत्पादन (करोड़ रुपयों में)

	वास्तविक 1970-80	*लक्ष्य*	*वास्तविक 1984-85*
1. उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स	194.40	522.50	642 0
(टी. वी. सेट)	(63.50)	(180 00)	(436.0)
2. औद्योगिक इलैक्ट्रोनिक्स	115.00	350.00	295.00
3. संचार संबंधी कंप्यूटर	191.50	509.40	593.00
4. कंप्यूटर तथा सोफ्टवेयर	16.50	90.00	125.00
5. पुर्जे	140.00	395.00	320.00
कुल	657.4	1866.90	1975.00

टिप्पणी– एफ. टी. जैड. का उत्पादन इसमें शामिल नहीं किया गया चूंकि उसका विवरण उपलब्ध नहीं था।

मुख्य घटकों के उत्पादन के अच्छे खासे विस्तार के बावजूद, मूलभूत कमज़ोरी ज्यों की त्यों है जैसे उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स अभी भी हावी है जबकि पुर्जो जैसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अभी भी पिछड़ापन है। उत्पादन का तरीका मोटे तौर पर ज्यों का त्यों है। छठी योजना की अवधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन यह था कि उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक घटकों में टी. वी. सेटों का उत्पादन अभी तक सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना सिद्ध हो गई है। सन् 1984-85 में, टी. वी. सेटों का उत्पादन उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक के उत्पादन का दो-तिहाई से भी अधिक, तथा कुल इलैक्ट्रोनिक उत्पादन के पांचवे हिस्से से भी अधिक था। श्वेत-श्याम टी वी सेटों का उत्पादन रंगीन टी वी सेटों के उत्पादन के लगभग बराबर ही था।

कंप्यूटर सिस्टम के उत्पादन में काफी वृद्धि हुई तथा योजना के लक्ष्य से भी अधिक हुई, लेकिन आधार अभी भी छोटा है। औद्योगिक उत्पादन इलैक्ट्रोनिक तथा पुर्जों के क्षेत्र में, योजना के लक्ष्य पूरे नहीं हो सके थे। इस प्रकार उत्पादन का रुख फिर उपभोक्ता उत्पादों के पक्ष में ही होता गया।

सन् 1980-85 के दौरान इलैक्ट्रोनिक्स के उत्पादन की कीमतों में वृद्धि हुई। यह भी एक सत्यता है कि छठी योजना की अवधि में उत्पादन में कुछ वृद्धि

सी.के.डी. के आयात के कारण थी। उसके साथ ही, उत्पादन के कुछ आंकड़ों की सत्यता के बारे में भी कहीं-कहीं सन्देह हो सकता है। इसके अतिरिक्त, उत्पादन के वास्तविक मूल्य को बाजार के मूल्यों में परिवर्तन की प्रक्रिया में भी कुछ कमी हो सकती है। इसके बाद भी, सचाई यह है कि उद्योग की विकास दर काफी ऊंची, 30 प्रतिशत वार्षिक से भी अधिक रही।

कुछ गुणात्मक उपलब्धियों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। चण्डीगढ़ में सेमी-कंडक्टर संकुल ने उत्पादन शुरू कर दिया तथा एल.एस.आई. / वी.एल.एस.आई. चिप्स के निर्माण की आधारशिला रखी। भारत इलैक्ट्रोनिक्स ने सूक्ष्म-तरंगों वाली संचार व्यवस्था के लिए आवश्यक इलैक्ट्रोनिक पुर्जों और यंत्रों का उत्पादन शुरू कर दिया। भेल ने औद्योगिक इलैक्ट्रोनिक नियंत्रक पुर्जों का निर्माण शुरू किया। रंगीन टी.वी. सेटों, माइक्रोप्रोसेसरों, मिनी कंप्यूटरों, रेलवे के लिए इलैक्ट्रोनिक नियंत्रक पुर्जों, इस्पात, सीमेंट, पावर संयंत्र जैसे उत्पादनों का निर्माण योजना अवधि में शुरू किया गया। फाइबर आप्टिक्स तथा हाई वोल्टेज डायरेक्ट करेंट (एच. वी. डी. सी.) ट्रांसमीशन के निर्माण के लिए प्रौद्योगिकी को अपनाने की प्रक्रिया शुरू की गयी।

सातवीं योजना के लक्ष्य

सातवीं योजना का मुख्य बल आधुनिकीकरण, अधिक उत्पादनशीलता, तथा कार्यकुशलता पर है। इसके लिए अन्य साधनों के साथ-साथ, न केवल उद्योग के 'इलैक्ट्रोनीकरण' की आवश्यकता है वरन् परिवहन, ऊर्जा तथा अन्य सेवाओं की भी। यदि उत्पादनशीलता को विकसित करना है तब प्रक्रिया नियत्रंक के लिए आवश्यक उपकरण, स्वचालित साधन तथा कंप्यूटीकृत डिज़ाइन कार्यविधि को विशाल स्तर पर लाना होगा।

इसीलिए योजना में इलैक्ट्रोनिक उपकरणों तथा सामग्री के विकास पर बल दिया गया है। दूरसंचार तंत्र का विशाल विस्तार तथा डिजिटलीकरण करना होगा जो पहले से चल रहे टी. वी. नेटवर्क तथा सैटेलाइट संचार सुविधाओं के विस्तारीकरण के अतिरिक्त होगा।

इसके लिए ऊंची छलांग लेनी होगी–संख्यात्मक और गुणात्मक दोनों ही दृष्टि से। सातवीं योजना में उत्पादन लक्ष्य 10,860 करोड़ रुपये का रखा गया है जो योजना अवधि में पाँच गुना वृद्धि है। क्षेत्र के अनुसार लक्ष्य नीचे की तालिका में दर्शाये गये हैं।

इस तरह नियंत्रण-यंत्रों, संचार उपकरणों, कम्प्यूटरों एवं घटकों के पक्ष में यह योजना उत्पादन के विशाल परिवर्तन का सामना करती है। उपभोक्ता

इलैक्टोनिक्स का शेयर सन् 1984-85 के 31 प्रतिशत से सन् 1989-90 में 20 प्रतिशत हो जायेगा।

तालिका 11.3
सातवीं योजना के उत्पादन लक्ष्य

(करोड़ रुपये में)

वस्तुएं	*1984-85 वास्तविक*	*1989-90 लक्ष्य*
1. उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स	642	2,000
–टी.वी. सेट	436	850
–वी. सी. आर.	2	425
2. कंट्रोल इन्स्टुमेंट तथा औद्योगिक इलैक्ट्रोनिक (नियंत्रक उपकरण)	295	2,010
3. संचार उपकरण	593	3,880
दूरसंचार	300	3,100
4. कंप्यूटर सिस्टम्स	1,225	870
कम्पयूटर	110	670
पेरीफेरल	15	200
5. कंपोनेंट (उपकरण)	320	2,100
कुल	1,975	10,860
6. एफ. टी. जैड. (मुक्त व्यापार क्षेत्र)	115	(उपरोक्त में सम्मिलित)
कुल जोड़	2,090	10,860

आकलन

योजना में दिये गये बल, जिसे नीति प्राथमिकताओं का समर्थन मिला, ने उद्योग की विकास दर को 35 प्रतिशत वार्षिक पर बनाकर रखा। लेकिन यह 40 प्रतिशत की लक्षित दर से कम थी। फिर भी, जैसा कि तालिका 11.4 से देखा जा सकता है, विकास प्रथम दो वर्ष में उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स तथा कंप्यूटर सिस्टम्स तक ही सीमित रहा। संभावना है कि अन्य क्षेत्रों में योजना के लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सकेंगे। लेकिन मध्यकालिक सुधार करने की कोई योजना प्रतीत नहीं होती। इस प्रकार अर्थव्यवस्था में आधुनिकीकरण और उत्पादनशीलता में सुधार की प्रक्रिया को धक्का लगेगा।

तालिका 11.4
इलैक्ट्रोनिक्स का उत्पादन

(करोड़ रुपये में)

वस्तु का नाम	1984-85	1985-86	1986-87	1987-88
(क) उपभोक्ता इलैक्ट्रोनिक्स	665	1100	1350	1960
1. रेडियो सेट	110	125	126	135
(संख्या लाखों में)	(75)	(75)	(80)	
2. टी. वी. सेट-श्वेत-श्याम	215	390	414	630
(संख्या लाखों में)		(19)	(23)	
रंगीन	200	425	540	780
(संख्या लाखों में)		(7)	(9)	
3. टेपरिकार्डर और टू-इन-वन	70	90	140	185
(संख्या लाखों में)		(20)	(28)	
4. अन्य	70	70	130	230
(ख) औद्योगिक इलैक्ट्रोनिक्स	335	410	605	750
1. उपकरण-औजार	90	80	100	135
2. प्रोसेस कन्ट्रोल उपकरण	110	120	150	160
3. पावर इलैक्ट्रोनिक्स	115	130	175	250
4. चिकित्सा सम्बन्धी इलैक्ट्रोनिक्स	20	25	35	35
5. अन्य	–	55	145	170
(ग) व्यावसायिक उपकरण	525	635	825	1150
1. संचार एवं प्रसारण	355	415	580	820
2. वायु अंतरिक्ष तथा रक्षा	170	220	245	330
(घ) कंप्यूटर सिस्टम्स	140	210	375	500
(निर्यात के लिए साफ्टवेयर)			(55)	(65)
(च) कंपोनेंट –पुर्जे-हिस्से	320	440	550	775
(छ) एफ. टी. जैड. (मुक्त व्यापार क्षेत्र)	96	85	150	150
कुल	2.081	2.880	3.855	5.285

मध्यकालिक आकलन में संचार, कंपोनेंट तथा औद्योगिक इलैक्ट्रोनिक्स क्षेत्रों के उत्पादन में कमी की आशा की गयी है। ये क्षेत्र इलैक्ट्रोनिक उद्योग की रीढ़ की हड्डी हैं और मध्यकालिक आकलन में मुख्यतः कहा गया है कि इस कमी का कारण पूरी तरह से उपभोक्ता क्षेत्रों में किये गये निवेश में कमी को नहीं दिया जा सकता। आकलन में इस पर खेद व्यक्त किया गया है कि उद्योग का वर्तमान विकास सी.के.डी. प्रकार का है। योजना के प्रथम दो वर्षों के दौरान, आयात का बिल 2,000 करोड़ रुपयों से अधिक ही था जो कुल उत्पादन का 60 प्रतिशत था। स्पष्टतः, थैला-संस्कृति (Kit-culture) तथा पेचकस टैक्नोलौजी पर आधारित

विकास की प्रक्रिया को पूरी तरह से बदलना होगा।

आकलन में इस बात पर खेद व्यक्त किया गया है कि अधिकांश निवेश निश्चयों का क्रियान्वयन अभी शेष है। एक उद्धरण—"एक विस्तृत नेशनल माइक्रो इलैक्ट्रोनिक्स प्रोग्राम अभी बनाया जाना है। यहां तक कि देश में उपभोक्ताओं का सेमीकंडक्टर कॉम्प्लेक्स लि. (एस. सी. एल.) से सीधा सम्बन्ध नहीं जुड़ सका है। उपभोक्ता अभी भी टेक्नोलौजी तथा पुर्जों (एल. एस. आई. तथा वी. एल. एस. आई. चिप्स) के लिए विदेशी स्रोतों पर विश्वास करते हैं। यह सब समग्र इलैक्ट्रोनिक्स लक्ष्यों को प्राप्त करने में एक प्रमुख अवरोध सिद्ध हो सकता है।"

यहां तक कि योजना के मूल अनुमानों में कुछ मदों में विशेषकर कम्पोनेन्ट, वायु-अन्तरिक्ष तथा रक्षा एवं कन्ट्रोल इंस्ट्रूमेंटेशन जैसी मदों में काफी गहरे अंतर छोड़ दिये गये थे जिन्हें आयात से पूरा किया जाना था। अब, मध्यकालिक समीक्षा में जो कमियां बतायी गयी थीं, उनसे आयात की आवश्यकताओं में अच्छी खासी वृद्धि करनी होगी।

परिणामस्वरूप, निर्यात की संभावनाएं भी अधिकांशतः अनुपयुक्त रहेंगी। लगभग 100 करोड़ रुपये के निर्यात का मौजूदा स्तर किसी भी दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता। हाल ही का एक नया उत्साहवर्धक तथ्य है सोफ्टवेयर निर्यात में प्रभावशाली वृद्धि। फिर भी, अब तक के सम्पूर्ण निर्यात का दृश्य-हमारी शक्ति-सामर्थ्य तथा इलैक्ट्रोनिक्स में बढ़ते विश्व व्यापार-दोनों ही के मुकाबले अत्यधिक साधारण है।

इस उद्योग की मौलिक कमज़ोरी है—कमजोर तकनीकी आधार। एक ऐसे क्षेत्र में जहां तकनीकी परिवर्तन बहुत तेजी से हो रहे हैं और जहां उत्पाद चक्र 3 से 5 वर्ष से अधिक नहीं होता, वहां इस उद्योग के भविष्य के लिए टेक्नोलौजी विकास का समय-निश्चित कार्यक्रम अत्यंत महत्वपूर्ण होता है। साथ-साथ, उत्पादन में विभिन्नता लाने, विशेषता लाने, बड़े, मध्यम तथा छोटे निर्माताओं के सामंजस्य पूर्ण तथा अधिकतम विकास करने की दृष्टि से, इस उद्योग में संरचनात्मक परिवर्तन लाने के प्रयत्न करने होंगे।

पैट्रोकैमिकल्स

पैट्रोकैमिकल उद्योग युद्धोपरान्त की घटना है। प्राथमिक कार्बनिक रासायनिक तत्व का नये कच्चे माल का आधार प्रारंभ में गुड़ की भांति वनस्पति जनित था। औद्योगिक क्रांति के साथ ही, कोक चूल्हों के सह-उत्पाद उपलब्ध हो गये। औद्योगिक उत्पादों जैसे रबड़ और रुई के अभावों ने कृत्रिम रबड़ और रबड़ के

विकास को जन्म दिया। नवीनतम विकास, कार्बनिक रासायनिक तत्व के व्यापक किस्मों के बनाने में पैट्रोलियम भंडारणों का प्रयोग है। पैट्रोलियम और कैमिकल उद्योगों का संबंध अत्यधिक संतोषजनक सिद्ध हुआ है। टेक्नोलोजी के विकास ने अनेक प्रक्रियाओं का विकल्प प्रस्तुत किया है तथा इसके बराबर ही उत्पादन सुविधाएं भी उपलब्ध करायी हैं।

उर्वरक उत्पादन के लिए पैट्रोलियम भंडारण की उपलब्धता से भारत के उर्वरक कार्यक्रम में नया कुछ करने की सुविधा मिली है। ट्रांबे, गोरखपुर, नामरूप, बरोनी, छठे दशक से चल रही सभी फैक्ट्रियां औद्योगिक अथवा तेलशोधक गैस, ईंधन तेल तथा नाफ्था पर आधारित थीं। अन्य अनेक उद्योगों के लिए उनकी संभावनाओं में भी मौलिक परिवर्तन हो गये हैं। इनमें प्लास्टिक, कृत्रिम रेशे, कृत्रिम रबड़, ड्रग, डाइस्टफ, पेंट और वार्निश, डिटर्जेंट तथा कीटनाशक दवाएं सम्मिलित हैं। तेजी से विकसित होते तेलशोधक उद्योग तथा इसके सह-उत्पादों की बढ़ती उपलब्धता से इन नये प्रकार के उत्पादनों के लिए भूमि साफ थी। भारतीय कार्बनिक रासायनिक तत्व ने, जिसका आधार संकुचित था, अपने को उत्तरप्रदेश और बिहार के चीनी उत्पादक क्षेत्रों में अल्कोहल की उपलब्धि तक सीमित रखा तथा जमशेदपुर और बर्नपुर में कोक चूल्हे जैसे सहउत्पादों ने अपने लिए सुदृढ़ आधारशिला बनायी।

भारत में पैट्रोकैमिकल युग के आने से पूर्व, दूसरी योजना में इस्पात क्षमता के अत्यधिक विस्तार का परिणाम था बेंजोल तथा इसके अन्य भागों और कोल-तार कैमिकल जैसे उत्पादों के उत्पादन के लिए सुविधाओं की उपलब्धि। अल्कली और कैमिकल कारपोरेशन ने ऋषि स्थित अपनी फैक्ट्री में तथा बंबई की यूनियन कार्बाइड ने पोलिथिलिन उत्पादन के भाग के रूप में कुछ कैमिकलों का उत्पादन शुरू किया।

इसी दौरान, आर्गनिक मध्यकों तथा अन्तिम अपरिष्कृतों–की मांग, डायस्टफ, प्लास्टिक, कृत्रिम ड्रग, डिटर्जेंट, पेंट और वार्निशों की तुलना में तेजी से बढ़ती जा रही थी। सन् 1960 में देश में पैट्रोकैमिकल इकाइयों की स्थापना की सम्भावनाओं पर रिपोर्ट देने के लिए पैट्रोकैमिकल कमेटी की नियुक्ति हुई।

देश में प्रथम नाफ्था क्रेकर की स्थापना यूनियन कारबाइड इंडिया लिमिटेड में हुई। यह सन् 1966 में शुरू हुआ तथा पारंपरिक एथिल अल्कोहल के स्थान पर पोलिथिलीन के निर्माण के लिए एथिलिन जैसे प्रारंभिक कच्चे माल का उत्पादन प्रारंभ किया। दूसरा और इससे भी बड़ा पैट्रोकैमिकल संस्थान ठाणे (बंबई) के निकट नेशनल आर्गनिक कैमिकल्स इंडस्ट्रीज लि. द्वारा स्थापित किया गया। इसका संचालन सन् 1967 में शुरू हुआ। लेकिन पूरी तरह यह सन् 1969 के प्रारंभ में तैयार हुआ। सन् 1968 के प्रारंम्भ में नाफ्था क्रेकर ने काम करना शुरू किया

और इसके बाद ही 'सोल्वेंट्स प्लांट' तथा 'एथिलीन आक्साइड प्लांट' ने शुरू किया।

सबसे बड़ा संस्थान, जिसकी मौलिक अनुमोदित राशि 100 करोड़ रुपये से भी अधिक थी, गुजरात में कोयली स्थान पर सार्वजनिक क्षेत्र के अंतर्गत शुरू करने के लिए हाथ में लिया गया। सन् 1969 में कोयली संस्थान को शुरू करने के लिए इंडियन पैट्रोकैमिकल्स कारपोरेशन की स्थापना की गयी। सातवें दशक के प्रारंभ में शुरू की गयी उदय इकाई इटली के सहयोग से स्थापित हुई। प्रति वर्ष पूरी तरह परिष्कृत 1,09,000 टन गैसोलिन निकालने तथा 33,000 टन बेंजीन निर्माण करने के लिए यह बनायी गयी है। गुजरात स्टेट फर्टिलाइज़र कम्पनी केप्रोलेक्टम बनाने के लिए 20,000 टन बेन्ज़ीन की खपत करती है। केप्रोलेक्टम नाइलोन बनाने के निए आधारभूत उत्पाद है। शेष बेन्ज़ीनपोलिस्टर, इंसेक्टिसाइड, डिटर्जेंट आदि के बनाने के काम में ली जाती है। नाफ्था क्रेकर तथा अन्य छोटी-मोटी इकाइयां सन् 1978 में शुरू की गयीं।

एक अभूतपूर्व उपलब्धि

आई.पी.सी.एल. संस्थान का, जो अब अनुमानतः 400 करोड़ रुपये की लागत का है, मार्च 1979 में उद्घाटन किया गया। इन चौदह उत्पादन इकाइयों का शुरू किया जाना कई मायने में अभूतपूर्व था। यह भारतीय तथा विदेशी उपकरण निर्माताओं, शोध संगठनों तथा तकनीकियों के सामूहिक प्रयासों की उत्कृष्टता को दर्शाता था। यह थर्मोप्लास्टिक, सिंथेटिक फाइबर तथा आर्गनिक इंटरमीडियेट्स, फार्मेस्युटिकल तथा डाइस्टफ और पेंट के बनाने में एक और महत्वपूर्ण प्रगति का कदम था। एरोमेटिक परियोजना पश्चिम जर्मनी फर्म 'फील्ड फ्राइड क्रुप्प' की सहायता से बनायी गयी है। यह अनेक प्रकार के कैमिकल बनाती है। जिनको विभिन्न प्रकार के आधारभूत कैमिकल, पैस्टीसाइड और फाइबर बनाने के लिए पहले आयात करना पड़ता था। ओलफिंस परियोजना के नाफ्था क्रेकर की क्षमता, एक लाख टन एथिलीन, 50,000 टन प्रोपिलीन, लगभग 2 लाख टन बेन्जीन, तथा 57,000 टन से भी अधिक बुटाडीन प्रतिवर्ष की है। ये उत्पाद-थर्मोप्लास्टिक्स तथा सिन्थेटिक फाइबर-रुई और लकड़ी के स्थान पर है जिनका अत्यधिक मात्रा में आयात करना पड़ता था।

पांचवीं योजना में लिये गये प्रमुख कार्यक्रम थे–बड़ौदा में सार्वजनिक क्षेत्र के अन्तर्गत पैट्रोकैमिकल संस्थान का पूरा होना, बड़ौदा में सहकारी क्षेत्र के अन्तर्गत पोलिस्टर फिलामेंट यार्न परियोजना का शुरू किया जाना तथा बोगाईगांव में पैट्रोकैमिकल संस्थान के काम का शुरू होना। अधिकांशतः ये लक्ष्य पूरे हो गये हैं। बोगाईगांव के पैट्रोकैमिकल संस्थान के काम को शुरू करने में, पूंजी की कमी

तथा सिंथेटिक फाइबर के लिए अतिरिक्त क्षमता को धीमा करने की पूर्व निश्चित नीति के कारण, देरी की गयी थी। इसका परिणाम था सिंथेटिक फाइबर के उत्पादन में कमी।

विकास की उच्च दर

पैट्रोकैमिकल के छठी योजना वर्किंग ग्रुप के अनुसार प्रमुख पैट्रोकैमिकल मध्यकों, जैसे प्लास्टिक तथा सिंथेटिक फाइबर, का विकास, सन् 1965 से सन् 1977 के अंतराल में उनकी खपत पर लगे कड़े प्रतिबंधों के बावजूद, 12 से 25 प्रतिशत की दर मे हुआ। आयात पर वस्तुतः रोक लग गयी थी, और खपत घरेलू उत्पादन तक सीमित हो गयी थी। थर्मोप्लास्टिक के घरेलू उत्पादन में तीन गुनी और सिंथेटिक फाइबर में सोलह गुनी वृद्धि हुई। हाल ही के वर्षों में विकास की गति में और भी तेजी आयी। इन पर लगाये गये विभिन्न प्रतिबंधों के बावजूद पैट्रोकैमिकल का प्रयोग अब अधिकांश महत्वपूर्ण परिष्कृत उपयोगों के लिए होने लगा है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि बढ़ती कीमतों के बावजूद, पैट्रोकैमिकल, स्वास्थ्य, आवास, कपड़ा, खाद्य उद्योगों आदि में प्रयोग किये जाने वाली पारंपरिक सामग्री की तुलना में तकनीकी और आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभप्रद है। वास्तव में, आर्थिक गतिविधियों का कोई ही ऐसा क्षेत्र होगा जिसमें पैट्रोकैमिकल महत्वपूर्ण ही नहीं वरन् एक अनिवार्य तथा अपरिहार्य भूमिका न निबाहते हों।

सौभाग्यवश, देश के लिए इस उद्योग के विस्तार की संभावनाएं काफी उत्साहवर्धक हैं। पश्चिमी घाट पर और हाल ही में पूर्वी तट पर कच्चे तेल तथा प्राकृतिक गैस की खोज ने इस उद्योग को एक नयी प्रेरणा दी है। निस्संदेह, यह आवश्यक है कि इस उद्योग की पूंजी अभिमुख स्वभाव को देखते हुए, देश को परियोजनाओं के चयन में अत्यधिक विवेकशील होना पड़ेगा। यह भी देखना आवश्यक है कि पूर्व स्थापित उद्योगों के हितों पर इसका कोई दुष्प्रभाव न हो। इस पर भी इनके अनेक प्रयोग हैं जहां उद्योग के विकास की आवश्यकता स्पष्ट है जैसे प्लास्टिक उत्पादों का प्रयोग सिंचाई, स्वास्थ्य, संचार, आदि में तथा सिंथेटिक फाइबर का प्रयोग रुई की कमी को पूरा करने में।

छठी पंचवर्षीय योजना में प्राकृतिक गैस ओलिफीन भंडारण के रूप में प्रयोग करने वाले 'आलफिर संस्थान' एक एरोमेटिक संयंत्र, एक डी.एम.टी. / टी.पी.ए. संयंत्र और एक कैप्रोलेक्टम संयंत्र स्थापित करने का एक प्रायोगिक प्रस्ताव है। मुख्य प्लास्टिकों (पी.वी.सी., एच.डी.पी., एल.डी.पी. तथा पोलिस्टरीन) का उत्पादन सन् 1979-80 के 1,60,000 टन से बढ़कर सन् 1984 85 में 2,82,000 टन तक होने की आशा है। इसी दौरान सिंथेटिक रबड़ का उत्पादन 30,400 टन से बढ़कर

45,000 टन तथा डी.एम.टी. का उत्पादन 28,000 टन से बढ़कर 56,000 टन तक हो जायेगा।

सिंथेटिक फाइबर के क्षेत्र में, नाइलोन फिलामेंट धागे का उत्पादन सन् 1979-80 के 17,700 टन से सन् 1984-85 में 28,000 टन, पोलिस्टर स्टेपल फाइबर का उत्पादन 23,600 से 55,000 टन तथा पोलिस्टर फिलामेंट धागे का उत्पादन 9000 टन से बढ़ाकर 18,000 टन तक लाने का लक्ष्य योजना में रखा गया था।

उपलब्धियां

उत्पादन के लक्ष्य वर्तमान क्षमताओं पर आधारित थे क्योंकि नयी परियोजनाएं, योजना अवधि में काम शुरू कर सकेंगी, ऐसी आशा नहीं थी। मोटे तौर पर, उत्पादन के लक्ष्य पी. वी. सी., डी. एम. टी. तथा पोलिस्टर फिलामेंट धागे को छोड़कर, अन्य सभी में प्राप्त कर लिये गये थे। यह नीचे की तालिका से स्पष्ट है :

तालिका 11.5
छठी योजना : लक्ष्य तथा उपलब्धियां

वस्तु	*लक्ष्य*	*उपलब्धियां*
	(000 टन)	
थर्मोप्लास्टिक्स		
1. एल. डी. पी. ई.	100.0	107.2
2. एच. डी. पी. ई.	27.0	38.9
3. पी. पी.	27.0	27.3
4. पी. वी. सी.	128.0	84.0
5. पी. एस.	20.0	17.6
कुल	302.00	275.0
6. सिन्थेटिक रबड़	45.0	38.1
इण्टरमीडिएयेट		
7. डी. एम. टी.	56.0	26.6
8. कैपरोलैक्टम	18.0	16.3
हस्तनिर्मित फाइबर		
9. नाइलोन फिलामेंट	28.0	33.0
10. पोलिस्टर स्टेपल फाइबर	55.0	39.6

योजना के दौरान बड़ी परियोजनाएं जो पूरी हो गयी थीं—वे हैं इंडियन पैट्रोकैमिकल्स लि. का विस्तार, बोगाईगांव तेल शोधन तथा पैट्रोकैमिकल्स की डी.एम.टी. परियोजना और पैट्रोकैमिकल्स लि. तथा पैट्रोफिल्स की पोलिस्टर

फिलामेंट यार्न परियोजना। भारत पैट्रोलियम कारपोरेशन की सुगंधरहित परियोजना तथा बोंगाईगांव की पोलिस्टर स्टेपल फाइबर परियोजना सातवीं योजना तक खिंच गयी। निजी क्षेत्र में, डी. एम. टी., पी. एफ. वाई. तथा अन्य सिंथेटिक फाइबर की क्षमताओं में वृद्धि की गयी।

योजना अवधि में स्वीकृत बड़ी मुख्य परियोजनाएं इस प्रकार थीं—विशाल महाराष्ट्र गैस क्रेकर कम्पलेक्स (एम. जी. सी. सी.), बेंजीन रहित कोचीन की सुविधाएं और सार्वजनिक क्षेत्र में आई.पी.सी.एल. की विस्तार योजनाएं तथा निजी क्षेत्र में डी. एम. टी. पी. टी. ए., पी. एस. एफ., एन. एफ. वाई., सिंथेटिक रबड़ तथा एल. ए. बी. (लिनियर पर अल्काइल बेंजीन) के लिए अतिरिक्त क्षमता।

योजना अवधि में एक महत्वपूर्ण टेक्नोलौजी का जोर आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ क्षमताओं के संयंत्रों की स्थापना पर था। पहले, काफी संख्या में कम क्षमता की इकाइयों को लाइसेंस दिया गया था जो काफी घातक सिद्ध हुई।

सातवीं योजना के प्रस्ताव

टेक्नोलौजी और स्केल अर्थव्यवस्था के अतिरिक्त, उद्योग के भावी विकास के लिए आवश्यक रणनीति के अन्य घटक जिन पर सातवीं योजना में जोर दिया गया है, वे हैं, निवेश-वस्तु-विशेष का उचित चयन, इस चयन पर आधारित परियोजना के लिए उचित स्थान का चुनाव, तथा घरेलू मांग एवं निर्यात की संभावनाओं को ध्यान में रखते हुए उत्पाद प्रतिमानों का निर्धारण। अधिक जोर प्रतिस्पर्धात्मकता, उत्पादनशीलता तथा कार्यकुशलता पर रहेगा। यह उद्योग अधिकांश उपभोक्ता वस्तुओं तथा अन्य उद्योगों के लिए महत्वपूर्ण एवं आवश्यक वस्तु निवेश उपलब्ध कराता है। इसलिए यह आवश्यक है कि पैट्रोकैमिकल क्षेत्र की विकसित कार्यकुशलता के माध्यम से इन आनुषांगिक उद्योगों के लागत मूल्यों को कम किया जाये। इसलिए इस उद्योग में शोध तथा अनुसंधान कार्यक्रमों तथा प्रशिक्षण एवं तकनीकी सहायता को और अधिक सुदृढ़ बनाना होगा।

उत्पादन के लक्ष्य

सातवीं योजना में थर्मोप्लास्टिक्स, विशेषकर एच. डी. पी. ई., तथा पी वी सी के उत्पादन को बढ़ाने का निश्चय किया गया है जो दी गई तालिका से देखा जा सकता है।

तालिका 11.6

उत्पादन लक्ष्य—थर्मोप्लास्टिक्स तथा सिंथेटक रबड़ ('000 टनों में)

थर्मोप्लास्टिक्स	*1984-85 वास्तविक*	*1989-90 लक्ष्य*
1. एल. डी. पी. ई.	107.2	186.0
2. एच. डी. पी. ई.	38.9	125.0
3. पी. वी. सी.	84.0	233.0
4. पी. पी.	27.3	79.0
5. पी. एस.	17.6	29.0
कुल	275.0	652.0
6. सिन्थेटिक रबड़	38.1	72.0

मध्यमवर्गीय प्लास्टिक के संबंध में डी. एम. टी., कैप्रोलेक्टम तथा एल.ए. बी. का उत्पादन अच्छी मात्रा में बढ़ने की आशा है। तालिका 11.7 में इस समूह के लक्ष्यों को दिखाया गया है।

तालिका 11.7

मध्यमवर्गीय के लिए उत्पादन लक्ष्य ('000टनों में)

वस्तु	*1984-85 (वास्तविक)*	*1989-90 (लक्ष्य)*
1. डी. एम. टी.	26.3	173.0-194.0
2. कैप्रोलेक्टम	16.3	118.0-133.0
3. एल. ए. बी.	29.5	92.0
4. मेथानोल	44.0	150.0
5. फैनोल	20.0	56.0

सिंथेटिक फाइबर समूह में, पोलिस्टर स्टेपल फाइबर के अच्छे विस्तार की योजना है जो कि तालिका 11.8 से स्पष्ट है—

तालिका 11.8

हस्तनिर्मित फाइबर का उत्पादन लक्ष्य ('000 टनों में)

वस्तु	*1984-85 (वास्तविक)*	*1989-90 (लक्ष्य)*
1. नाइलोन फिलामेंट यार्न	33.0	56.0-70.0
2. नाइलोन कौर्ड तथा औद्योगिक यार्न	19.8	45.0
3. पोलिस्टर स्टेपल फाइबर	39.6	100-117.0
4. पोलिस्टर फिलामेंट यार्न	55.6	77-80.0
5. एक्रिलिक फाइबर	20.8	30.0

मध्यकालिक समीक्षा

पैट्रोकैमिकल उद्योग के उत्पादन परिणाम सातवीं योजना के दौरान विभिन्न कारणों से असंगत ही रहे हैं। निजी क्षेत्र में, यूनियन कार्बाइड तथा इंडियन एक्सप्लोसिव बंद कर दिये गये जिससे एल.डी.पी.ई. के उत्पादन पर असर पड़ा। मांग में कमी होने से पोलिस्टर स्टेपल फाइबर को धक्का लगा यद्यपि उसकी क्षमता बढ़ गयी थी। सिन्थेटिक फाइबर के बड़े विस्तृत समूह बना दिये जाने से भी कोई असर नहीं पड़ा। पोलिस्टर स्टेपल यार्न की क्षमता और उत्पादन भी मांग से अधिक ही नज़र आते हैं। डी.एम.टी. के निर्माताओं को मांग ने मारा तथा उत्पादकों को अपनी लम्बी सूची को सन् 1986-87 से सन् 1987-88 तक ले जाना पड़ा। यह मुख्यतः प्रयोगकर्ताओं द्वारा डी.एम.टी. छोड़कर पी.टी.ए को अपनाये जाने के कारण था। वस्तुस्थिति यह है, कि निजी क्षेत्र में पी.टी.ए. संयंत्र अत्यधिक विलंबित हो गया है। फिर भी, यह जब कभी शुरू होगा, डी.एम.टी. तथा पी.टी.ए. दोनों ही के लिए, मांग अवरोधक इसके सम्मुख गम्भीर रूप में होगा।

अन्य प्लास्टिक तथा मध्यमवर्गीय का उत्पादन पर निवेश-वस्तु विशेष तथा ऊर्जा की अपर्याप्त आपूर्ति तथा उपकरण समस्याओं का असर पड़ा है।

मध्यकालिक आकलन में अधिकांश लक्ष्यों में कमी के आसार दिखायी पड़ते हैं जैसा कि तालिका 11.9 से स्पष्ट है

तालिका 11.9

अनुमानित उत्पादन ('000 टनों में)

वस्तु	*सन् 1989-90*	
	लक्ष्य	*अनुमानित*
थर्मोप्लास्टिक्स		
1. एल. डी. पी. ई.	186	164
2. एच. डी. पी. ई.	125	46
3. पी. वी. सी.	233	132
4. पी. पी.	79	60
मध्यमवर्गीय		
5. डी. एम. टी.	173	182
6. केप्रोलेक्टम	118	50
7. एल. ए. वी.	92	136
सिंथोटिक फाइबर		
8. एन. एफ. वाई. (नाइलोन फाइबर यार्न)	56	52
9. पी. एस. एफ. (पोलिस्टर स्टेपल फाइबर)	100	146
10. पी. एफ. वाई. (पोलिस्टर फाइबर यार्न)	77.8	110

उद्योग की समस्याएं

निस्संदेह, पैट्रोकैमिकल में बहुआयामी कार्यों तथा कार्यकुशलता, ऊर्जा बचत तथा रोज़गार वृद्धि के अवसरों की वृद्धि करने के लिए पारंपरिक सामग्री का स्थानापन्न पैदा करने की विशाल संभावनाएं हैं। लेकिन इस उद्योग के सामने निवेश-वस्तु-विशेष (इसकी उपलब्धि तथा कीमत दोनों ही दृष्टि से) इकाइयों, का अनार्थिक आकार तथा पुरानी टेक्नोलौजी की विशालकाय समस्याएं हैं। लेकिन एम. जी. सी. सी. जैसी नई क्षमता, आधुनिक टेक्नोलौजी तथा अधिकतम स्केल पर आधारित है तथा प्लास्टिक कच्चे माल के लागत मूल्य में कमी होने पर अपनी आशा टिकाये हुए है। इससे विस्तृत होते लघुस्तरीय प्लास्टिक प्रोसेसिंग क्षेत्र को मदद मिलेगी।

पैट्रोकैमिकल के लिए मांग की भविष्यवाणी करना एक बहुत कठिन कार्य है क्योंकि मांग मुख्यतः कच्चे माल तथा इनके व्युत्पन्नों की कीमतों पर निर्भर करती है। ये कीमतें कभी विश्वव्यापी घटकों के कारण अथवा कभी हमारी अपनी घरेलू नीतियों की वजह से मुख्यतः अस्थिर रही हैं। अनेक अवरोधों के बावजूद प्लास्टिक की खपत में तेजी से वृद्धि हुई है। लेकिन यदि एक उचित मूल्य नीति नहीं बनाई जाती। यह स्थिति अधिक दिनों तक चलने वाली नहीं। यहां यह बताना आवश्यक है कि भूतकाल में खपत में इतनी वृद्धि के बावजूद भारत में प्लास्टिक की खपत प्रति व्यक्ति एक किलोग्राम से भी कम है जबकि विकसित देशों में यह 100 किलोग्राम प्रति व्यक्ति है।

दूसरी समस्या टेक्नोलौजी की है। मौलिक डिज़ाइन ओर अभियांत्रिकी में कमी है यद्यपि व्यवहार्य अध्ययनों तथा परियोजना क्रियान्वयन की अत्यधिक दक्षता हमारे पास मौजूद है। आयातित टैक्नोलौजी को विकसित करने तथा आत्मसात करने की योग्यता अभी हमें पैदा करनी है। उपलब्ध सुविधाओं की पूरी संभावनाओं का भरपूर उपयोग करने की दृष्टि से राष्ट्रीय प्रयोगशालाओं, उद्योग तथा डिजाइन संगठनों में उचित सामंजस्य बनाना आवश्यक है।

रसायन तथा उर्वरक
(कैमीकल तथा फर्टिलाइजर्स)

भारी कार्बनिक रसायन

इस प्रकार के रसायन अनेक उत्पादों जैसे कि रंग, दवाइयां, कीटनाशक, रंग-रोगन आदि के लिए मूल सामग्री प्रदान करते हैं। भारतीय कार्बनिक रसायन उद्योग इथाइल अल्कोहल के आधार पर शुरू किया गया था और नाफ्था की सीमित उपलब्धता के कारण लगभग पूरी तरह से अल्कोहल पर ही आधारित है जो कि पुनर्नवी

किया जाने वाला स्रोत है। अल्कोहल की आपूर्ति गुड़ की उपलब्धता से जुड़ी है और गुड़ चीनी उद्योग का सहयोगी उत्पाद अथवा चीनी का सह-उत्पाद है। सौभाग्य से, हाल ही में चीनी का उत्पादन अच्छा हुआ है और वास्तव में गुड़ का आधिक्य हुआ है। इसलिए उचित भंडारण सुविधाओं का बनाया जाना आवश्यक है तथा अल्कोहल उद्योग को गुड़ की निर्बाध आपूर्ति की जानी आवश्यक है।

भारी कार्बनिक रसायन उद्योग अब इस देश में पर्याप्त क्षमता और उत्पादन के साथ अच्छी तरह से स्थापित हो चुका है। फैनोल, एनिलीन, मेलाइक अनहाइड्राइड, एसीटिक अनहाइड्राइड, एसीटोन आदि रसायनों की उत्पादन सुविधाएं देश में बढ़ती मांग की पूर्ति करने के लिए पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं। केवल मेथानोल ऐसा रसायन है जिसे भारी मात्रा में आयात करना पड़ता है। फिर भी नयी क्षमताएं विकसित की जा रही हैं जिससे मांग तथा घरेलू उपलब्धता की चौड़ी खाई को कम किया जा रहा है।

रंग रसायनों में, देश न केवल आत्मनिर्भर है वरन् विश्व के अनेक देशों को भारी मात्रा में इनका निर्यात भी किया जा रहा है।

अकार्बनिक रसायन

कास्टिक सोडा, सोडा राख, कैलशियम कार्बाइड कार्बन, ब्लैक जैसे अकार्बनिक रसायन उद्योग देश में पूरी तरह से स्थापित हैं तथा इनकी पर्याप्त क्षमता है। आवश्यकता है मात्र कुछ कार्बन ब्लैक के आयात की।

इन उद्योगों की मुख्य समस्याएं हैं–(1) उच्चशक्ति कार्यप्रणाली जिसे कम करने की आवश्यकता है, (2) इकाइयों का असामान्य आकार, तथा (3) आधुनिकतम टेक्नोलौजी की आवश्यकता।

उर्वरक

भारतीय कृषि में प्रगति के रास्ते सिंचाई, उर्वरक तथा विकसित बीज की विभिन्न किस्मों की एक मुश्त विकास योजना के कारण हुए जब तक कि छठे दशक के मध्य में गेहूं और धान की उच्च पैदावार देने वाली किस्मों का आगमन नहीं हुआ उर्वरकों की खपत में वृद्धि धीरे-धीरे हुई। सिंचाई सुविधाओं में विकास के साथ ही, जिससे गहन फसलें संभव हो सकीं, उर्वरक खपत की गति में तेजी आयी। अतः पांचवें दशक में नाइट्रोजन की खपत में चार गुनी वृद्धि हुई जब कि छठे दशक में यह खपत सात गुनी तक बढ़ गयी। लेकिन सातवें दशक में इसमें झटका लगा। इसके मुख्य कारण थे–कीमतों में भारी वृद्धि, अपर्याप्त घरेलू उत्पादन तथा

अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार में इसकी अनुपलब्धता। उर्वरकों की खपत कुछ तुरंत के कारणों से भी कम हुई–जैसे कि खराब मौसम, पर्याप्त ऊर्जा, सिंचाई, ऋण का अभाव।

फिर भी सन् 1975-76 से, खपत में एक बार फिर वृद्धि हुई। यह मुख्यतः सरकार द्वारा उद्घोषित मूल्य घटाने की प्रक्रिया का परिणाम था। सन् 1976-79 के दौरान, नाइट्रोजनयुक्त उर्वरकों की खपत में वृद्धि 15 से 20 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से हुई। सन् 1979-80 का वर्ष चारों तरफ फैले सूखे की स्थिति के कारण अपवाद था। निश्चित ही यह पूर्व के 5-6 वर्षों में एक बहुत बड़ी उपलब्धि थी। वास्तव में, सन् 1973-74 तथा सन् 1974-75 दोनों ही वर्षों में काफी गिरावट थी। जबकि सन् 1972-73 में विकास दर मात्र 3 प्रतिशत थी। मुख्यतः तीन सूखे वर्षों के कारण सन् 1980-85 के दौरान, खपत 58 प्रतिशत बढ़ी जो कि छठी योजना के लक्ष्य के 81 प्रतिशत से काफी कम थी।

यह सच है कि उर्वरकों की कीमतों का निर्धारण अनेक घटकों पर आधारित होता है, जैसे मूल्य, संबंधित निवेश वस्तु की उपलब्धि, तथा मौसम की स्थिति। लेकिन, यदि उर्वरकों की पर्याप्त आपूर्ति हो, इन घटकों का प्रबन्ध किया जा सकता है। हमारी सबसे प्रमुख असफलता रही है, उर्वरक उत्पादन कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के बारे में। देखने में लगेगा कि उर्वरक उद्योग का विकास काफी प्रभावशाली रहा है। उदाहरण के लिए, नाइट्रोजनयुक्त उर्वरक उद्योग की क्षमता सन् 1950-51 की 17,000 टन से सन् 1984-85 में 52 लाख टन से भी अधिक हो गयी थी। इसी अनुपात में, उत्पादन में वृद्धि 10,000 टन से 39 लाख टन हो गयी थी।

लेकिन आज जो चिंता है लक्ष्यों और उपलब्धियों की बढ़ती खाई की, उर्वरक क्षेत्र में नयी क्षमता और उत्पादन में लगातार होती जा रही गिरावट की। यद्यपि आशा के अनुसार वास्तविक खपत में वृद्धि नहीं हुई, वास्तविक उत्पादन भी लक्षित स्तर से काफी कम रहा, परिणामतः बढ़ती गयी कमी को आयात से पूरा करना पड़ा जो काफी अधिक था।

नीचे की तालिका में योजना के लक्ष्यों (उत्पादन और उपलब्धि) को दर्शाया गया है–

तालिका 11.10
उत्पादन तथा उपलब्धि के योजनागत लक्ष्य ('000 टन)

योजना	*अन्तिम वर्ष*	*नाइट्रोजन युग (एन)*		*फास्फेट (पी$_2$ आ$_5$)*	
		लक्ष्य	*उपलब्धि*	*लक्ष्य*	*उपलब्धि*
प्रथम	1955-56	91	80	30	12
द्वितीय	1960-61	295	98	122	52

योजना	अन्तिम वर्ष	नाइट्रोजन युग (एन)		फास्फेट ($पी_2$ $आ_5$)	
		लक्ष्य	उपलब्धि	लक्ष्य	उपलब्धि
तृतीय	1965-66	800	233	400	111
चतुर्थ	1973-74	2500	1060	900	323
पंचम्	1978-79	2900	2180	770	770
षष्ठम्	1984-85	4200	3917	1400	1264

गिरावट विशेषकर दूसरी, तीसरी और चौथी योजना अवधि में काफी गंभीर थी। पांचवीं योजना में लक्ष्य भी काफी कम था, परंतु गिरावट भी काफी अधिक थी। छठी योजना में परिणामों को काफी अच्छा माना जा सकता है, क्योंकि गिरावट मामूली थी। इस गिरावट का कारण था हल्दिया, हजीरा, पैराद्वीप, नामरूप III, गोवा (विस्तार) तथा मंगलौर संयंत्रों के चालू करने में देरी। कुछ वर्तमान संयंत्रों की क्षमता-उपयोगिता अनेक कारणों से कम थी। पुराने संयंत्रों का कष्ट पुराना उपकरण था जबकि अधिकांश इकाइयों की समस्या बिजली कटौती तथा बिजली आपूर्ति में अस्थिरता थी। 75 प्रतिशत क्षमता के संयंत्रों की क्षमता उपयोगिता लगभग 80 प्रतिशत थी जबकि शेष संयंत्रों में यह 50 प्रतिशत या इससे भी कम थी। इसलिए उपकरण डिजाइन में परिवर्तन तथा कैप्टीव ऊर्जा उत्पादन की योजनाएं हाथ में ली गयीं। इनके परिणाम आने में अभी समय लगेगा।

सन् 1980-81 में रामगुडम तथा तलचर के दो कोयला आधारित संयंत्र शुरू किये गये। ये देश के पहले कोयला आधारित संयंत्र हैं जबकि विश्व में इस आकार के दूसरे संयंत्र हैं। यद्यपि टेक्नोलौजी में कुछ कमी नहीं है, उपकरणों के दोषपूर्ण होने से तथा सुविधाओं में असंतुलन होने से क्षमता उपयोगिता काफी कम रही है। घटिया कोयला भी कम क्षमता उपयोगिता के लिए उत्तरदायी है।

छठी योजना में दिखाया गया कि चार गैस आधारित संयंत्र (थल तथा हाजीरा) जो पहले से ही क्रियान्वित हो रहे हैं, के साथ-साथ, आठ नये नाइट्रोजनयुक्त संयंत्रों पर काम शुरू किया जायेगा। इनमें से छह गैस पर, एक कोयले पर (कोरबा) तथा एक उत्तर-पश्चिमी अंचल में नाफ्था पर आधारित होगा। फिर भी वास्तविकता यह है कि आरंभिक कार्य केवल छह गैस आधारित संयंत्रों पर शुरू किया गया था। कोयला आधारित संयंत्र का कार्य उस समय तक स्थगित कर दिया गया जब तक कि वर्तमान इसी प्रकार के संयंत्रों का कार्य सफलतापूर्वक न चल पड़े। प्रस्तावित नाफ्था आधारित संयंत्र भी अभी शुरू नहीं किया गया क्योंकि अभी ऐसे संयंत्र की आवश्यकता महसूस नहीं की गयी। फिर भी, अधिक नाफ्था उपलब्ध नहीं था।

छह गैस आधारित संयंत्रों के चयनित स्थान हैं–गुना (म.प्र.), सवाई माधोपुर

(राजस्थान), आंवला, जगदीशपुर, शाहजहांपुर, और बवराला (सभी उ.प्र.) छह परियोजनाओं में से, एक सार्वजनिक क्षेत्र में नेशनल फर्टिलाइजर लि. (एन.एफ.एल.) द्वारा गुना में तथा ऑवला का संयंत्र सहकारिता क्षेत्र में इंडियन फार्मर्स फर्टिलाइजर्स कोपरेटिव (इफ्फको) द्वारा लगाया जा रहा है। शेष संयंत्र 'निजी/मिश्रित क्षेत्रों में होंगे।

सातवीं योजना के लक्ष्य

क्रियान्वित की जा रही परियोजनाओं के पूरा होने पर योजना (सन् 1989-90) के अंतिम वर्ष में क्षमता और उत्पादन बढ़कर 92.53 लाख टन तथा 65.60 लाख टन तक बढ़ने की आशा है। इससे दस लाख टन का अन्तर बचा रहेगा जो आयात से ही पूरा हो सकता है।

लेकिन तीन गैस आधारित परियोजनाएँ समय सूची में पिछड़ गयी हैं। यद्यपि संभव है कि सार्वजनिक क्षेत्रों तथा सहकारी संयंत्रों की पूरी सूची पर अधिक असर नहीं पड़े, लेकिन निजी क्षेत्र की परियोजनाओं तथा अन्य योजनाओं के पिछड़ जाने से योजना के लक्ष्यों को बुरी तरह से प्रभावित किया है। एन. एफ. एल. का गुना संयंत्र छह महीने देर से दिसंबर 1987 में शुरू किया गया। इफ्फको का आंवला संयंत्र भी उतनी ही देरी से अब शुरू किया जा चुका है। निजी क्षेत्र की परियोजनाओं में, बिड़ला का इण्डो गल्फ फर्टिलाइजर्स एण्ड कैमिकल्स कारपोरेशन ने जगदीशपुर में अपना संयंत्र निश्चित समय से पहले शुरू कर दिया है। फिर भी, शाहजहांपुर तथा बबराला संयंत्रों को शुरू करने के लिए निजी क्षेत्र के उद्यमियों की अभी तलाश है।

निवेशवस्तु (फीडस्टाक)

इस उद्योग की मुख्य समस्याओं में एक समस्या फीडस्टाक की उपलब्धता के संबंध में है। उर्वरक संयंत्रों की क्षमता छठे दशक में विकसित हुई और सातवें दशक के प्रारंभ में यह नाफ्था तथा प्राकृतिक गैस पर मुख्यतः आधारित थी क्योंकि अत्यधिक नाफ्था पास की रिफाइनरियों में उपलब्ध थी तथा पश्चिमी और उत्तर-पूर्वी अंचलों में प्राकृतिक गैस की खोज की जा चुकी थी। फिर भी, पैट्रोकैमिकल उद्योगों के विकास के साथ-साथ नाफ्था की कमी होने की आशा थी क्योंकि पैट्रोकैमिकल उद्योगों को भी फीड स्टाक की आवश्यकता होती है। वैकल्पिक वस्तुओं जैसे ईंधन तेल तथा कोयले की खोज आवश्यक हो गयी थी।

बाम्बे हाई क्षेत्र में कच्चे तेल की खोज से तथा इससे सम्बन्धित प्राकृतिक गैस की उपलब्धि के कारण, उर्वरक उद्योग के लिए पूरी फीडस्टॉक नीति पर नये

सिरे से विचार करना पड़ा। नयी नीति के अनुसार प्राकृतिक गैस जहां-जहां भी उपलब्ध है और जहां तक घरेलू मांग इस बात की आज्ञा देती है, भावी संयंत्रों के लिए इसे फीडस्टॉक के रूप में प्राथमिकता मिलेगी। उर्वरक उत्पादन के लिए कोयले का कच्चे माल के रूप में प्रयोग देश के लिए एक नयी योजना है। अतिरिक्त कोयला आधारित उर्वरक संयंत्र की स्थापना वर्तमान दो संयंत्रों से प्राप्त अनुभव पर निर्भर करेगी। यदि कोयला-गैसीकरण टेक्नोलौजी ठीक सिद्ध होती है, तब भारत के कोयला उद्योग में एक नया अध्याय जुड़ जाएगा क्योंकि, कोयले के असीम भंडार के कारण, देश की उर्वरक फीडस्टॉक समस्या का समाधान काफी सीमा तक हो जायेगा। नाफ्था पर तभी विचार किया जायेगा जब देश के अंदर ही दीर्घकालीन नष्टीकरण की समस्या खड़ी होगी। नाफ्था का फीडस्टॉक के रूप में प्रयोग करने पर तभी विचार किया जायेगा जब देश में वर्तमान संयंत्रों का सापेक्षतया कम लागत पूंजी से विस्तार किया जा सके। उर्वरक फीडस्टॉक के लिए ईंधन तेल को सभी नयी परियोजनाओं से अलग रखा जायेगा।

तालिका 11.11 में नाइट्रोजनयुक्त उर्वरक क्षमता के लिए विभिन्न फीडस्टॉक के हिस्सों को दर्शाती है। क्षमता चाहे उत्पादन की हो, अथवा विचाराधीन अथवा किसी रूप में निर्माणाधीन हो।

तालिका 11.11
नाइट्रोजनयुक्त उर्वरक फीडस्टॉक के स्रोतों के अनुसार क्षमता
(1.10.1985 की स्थिति) प्रतिशत हिस्सा

	नाफ्था	*गैस*	*ईंधन तेल*	*कोयला*	*अन्य*	*कुल*
संस्थापित क्षमता	42.6	24.0	19.8	7.7	5.9	100.0
क्रियान्वयन आधीन क्षमता	9.8	74.6	5.2	–	10.4	100.0
अनुमोदित परियोजना (सिद्धांततः)	–	100.0	–	–	–	100.0
विचाराधीन परियोजनाएं	–	–	–	100.0	–	100.0
कुल	28.8	43.9	12.7	7.0	7.6	100.0

फॉस्फेटिक उर्वरक

फॉस्फेटिक उर्वरक के प्रयोग का देश में अधिक प्रचलन नहीं हुआ है। यद्यपि इसका उपयोग उर्वरक के संतुलित प्रयोग के लिए आवश्यक है। फॉस्फेटिक उर्वरक नाईट्रोजनिक उर्वरक की भांति लोकप्रिय नहीं हो सका है क्योंकि इसके परिणाम उतने प्रभावशाली नहीं रहे हैं। राष्ट्रीय दृष्टिकोण से इसके उत्पादन की वृद्धि पर कच्चे माल की उपलब्धि की सीमा एक अवरोधक है। परिणामस्वरूप काफी मात्रा

में आयात करना होता है।

छठी योजना के अंत तक क्षमता 18.2 लाख टन के लक्ष्य के विरुद्ध 14.9 लाख टन थी। उत्पादन 12.6 लाख टन था जबकि लक्ष्य 14.0 लाख टन था।

सातवीं योजना के क्षमता और उत्पादन के लक्ष्य क्रमशः 28.91 लाख टन तथा 21.90 लाख टन हैं। सन् 1985-86 और 1986-87 में प्राप्त उत्पादन 14.28 लाख टन तथा 16.60 लाख टन था। आशा की जाती है कि योजना के अन्तिम वर्ष में (सन् 1989-90) उत्पादन 22.81 लाख टन हो जायेगा जो योजना के लक्ष्य से अधिक ही होगा। कमी की पूर्ति करने के लिए लगभग 5 लाख टन आयात करना पड़ेगा।

पोटेसिक उर्वरक

भारत के पास इस उर्वरक को देश में ही पैदा करने के लिए कोई संसाधन नहीं हैं। संतुलित प्रयोग के लिए, नाइट्रोजनिक उर्वरक के साथ-साथ फॉस्फेटिक तथा पोटेसिक उर्वरकों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना आवश्यक है। देश की वर्तमान आवश्यकताओं की पूर्ति पूरी तरह आयात से की जाती है।

टेक्नोलौजिकल अप्रचलन

काफी इकाइयां अब पुरानी हो गयी हैं और अब उत्पादन योग्य नहीं हैं। गोरखपुर, उद्योग मण्डल, सिन्दरी, बरौनी, नामरूप और दुर्गापुर के संयंत्र छठे दशक में या इससे पहले लगे थे। उनके पुरानेपन के साथ-साथ, इनमें से कुछ स्वदेशी अभियांत्रिकी तथा उपकरणों के प्रयोग के प्रारंभिक उदाहरण हैं। वह अभियांत्रिकी और उपकरण उस समय अपने प्रायोगिक स्तर पर थे। यह एक अग्रगामी प्रयत्न था और मोटे-तौर पर, मशीनों के डिजाइन में काफी कमियां थीं। बाद में किये गये परिवर्तनों के बावजूद प्रारंभिक दोषों को दूर नहीं किया जा सका तथा संयंत्रों की कार्यप्रणाली में महत्वपूर्ण विकास अथवा सुधार नहीं किया जा सका।

एच.एफ.सी. की चार इकाइयां पूर्वी क्षेत्र में हैं तथा उस क्षेत्र में बिगड़ते औद्योगिक संबंधों से और अधिक प्रभावित हुए हैं। दुर्गापुर तथा नामरूप सितंबर 1988 से बंद कर दिये गये तथा हल्दिया एवं बरौनी के संयंत्र पहले से ही काम नहीं कर रहे हैं। एच.एफ.सी. के नुकसान 600 करोड़ रुपये तक हो गये हैं। विदेशी सलाहकारों ने इनके पुनर्नवीकरण की एक 1,000 करोड़ रुपये की योजना की सिफारिश की है।

एच. एफ. सी. की भांति, एफ. सी. आई. भी पुरानी तथा समस्याप्रधान इकाइयों से लदी हुई है। यह भी नुकसान उठा रही है। सिन्दरी के पुराने असाध्य संयंत्र

के अतिरिक्त, गोरखपुर इकाई भी पुरानी है तथा इसके आधुनिकीकरण की योजना क्रियान्वयन के आधीन है। रामगुडम तथा तलचर के कोयला आधारित संयंत्रों को अभी अपनी महत्ता सिद्ध करनी है जैसा कि पहले बताया गया था।

प्रारंभिक गलतियां अपनी जगह, देश ने टेक्नालौजी, प्रक्रिया, डिज़ाइन, उपकरण आपूर्ति के लिए दक्षता बना ली है। भारतीय सलाहकार प्रारम्भ से ही उर्वरक परियोजनाओं से जुड़े हुए हैं। फिर भी, उनकी पूरी योग्यताओं का या तो उपयोग से जुड़ी सहायता की त्वरिता अथवा टर्न-की (Turn-key) अनुबंधों के द्वारा परियोजनाओं के तेजी से निर्माण की दृष्टि से सदा ही भरपूर उपयोग नहीं हुआ है। स्वदेशी सलाहकार संस्थाएं शोध तथा विकास कार्य के लिए कोष की कमी से पीड़ित रही हैं।

भाग 4

औद्योगिक विकास की शताब्दी

अध्याय 12

लेखा-जोखा

अवरुद्ध विकास की शताब्दी

एक शताब्दी या इससे अधिक के औद्योगिक विकास का क्या अर्थ है ? तीन दशकों के उत्साहवर्धक, गहन और नियोजित विकास ने इसकी गति और स्वभाव को किस प्रकार परिवर्तित किया है ? औद्योगिक रूप से विकसित देशों की शृंखला में भारत की स्थिति कहां है ? ये कुछ प्रश्न हैं जो देश में हुए औद्योगिक विकास के पूर्ववर्ती आकलन की पृष्ठभूमि में सहज रूप में उभरते हैं अथवा पूछे जा सकते हैं। औद्योगिक बदलाव की इस प्रक्रिया में हममें से प्रत्येक का अपना हिस्सा है कि जो हम प्राप्त करना चाहते हैं और जिसको हम स्वभावतः जानने के लिए इच्छुक ही नहीं वरन् उत्सुक हैं कि हम अपनी विकास यात्रा के किस पड़ाव पर हैं और अभी हमें कितना रास्ता तय करना है ? यदि औद्योगिकीकरण के इतने वर्ष भी देश को तथाकथित 'औद्योगिक क्रांति' की स्थिति तक नहीं ला सके, तो इसके क्या कारण हो सकते हैं ? इस प्रश्न के उत्तर की पृष्ठभूमि में उन अवरोधों और बाधाओं, जिन्होंने पूर्व के विकास में गतिरोध उत्पन्न किया, को दूर करने में, योजनाओं की उपलब्धि को आंकना सम्भव हो सकेगा।

'वेरा एन्सटे' ने जन, धन, सामग्री विपणन और प्रेरक शक्ति के संदर्भ में

औद्योगिकीकरण की पूर्व-आवश्यकताओं का संक्षिप्तीकरण किया है। फिर भी, उन्होंने एक ऐसे महत्वपूर्ण घटक के बारे में नहीं सोचा जिसके बगैर बाकी सब के व्यापक स्तर पर औद्योगिक परिवर्तन लाने में असफल रहने की सम्भावना है। यह औद्योगिक प्रगति की दिशा में एक अनुकूल सकारात्मक सरकारी नीति है।

भारत के भौतिक संसाधन–जल, वन, खनिज–विस्तृत औद्योगिक संरचना को बनाये रखने के लिए निस्संदेह पर्याप्त थे। जहां तक पूंजी का प्रश्न है, भारत के स्वर्ण भण्डारों में 30 करोड़ रुपये प्रतिवर्ष की दर से वृद्धि हुई–जो कपास और जूट उद्योग को दुगुना करने के लिए काफी है। लेकिन यह औद्योगिक निवेश के लिए उपलब्ध नहीं था। नये उद्यमों में बचतों का प्रयोग करने के लिए न ही कोई सुविकसित पूंजी बाजार उपलब्ध था। फिर भी, लंदन पूंजी बाजार तक पैठ संभव थी और वास्तव में जूट, रेलवे निर्माण तथा कोयला उद्योगों के लिए अच्छी खासी राशि एकत्र भी की। यह सत्य था कि इन उद्यमों में लगे व्यक्ति गैर-भारतीय थे। इस पर भी एक मजबूत परियोजना के लिए पूंजी का अभाव नहीं होने देना था। और इससे अधिक क्या, टाटा के प्रति दिखाये गये जनता के उत्तर ने यह सिद्ध कर दिया कि यदि ठीक ढंग से चला जाये तो देश में ही काफी पूंजी उपलब्ध है। व्यापार में पूंजी लगाने तथा जल्दी से जल्दी लाभ कमाने का मोह व्यापारिक क्रांति के आते ही स्पष्ट हो गया क्योंकि इस क्रांति का फैलाव घरेलू और विदेशी व्यापार तक है। लेकिन व्यापार से निर्माण तक का एक तर्कशील परिवर्तन है जिसमें व्यापारी और निर्माता इस प्रकार के परिवर्तन के एजेंट के रूप में काम करते हैं। वास्ताव में इसी प्रकार सूती वस्त्र उद्योग के लिए अधिकांश पूंजी एकत्र की गयी।

इस प्रकार देश के पास आवश्यक संशोधनों की सम्भावनाएं थीं। इस पर भी, तर्क दिया गया कि यहां पर आवश्यक कुशलता और साहस का अभाव है। लेकिन कोई भी देश औद्योगिकीकरण के कार्य को शुरू करने से पहले कुशलता का कोई भंडार नहीं बनाता। कुशलता औद्योगिक परिवर्तन की प्रक्रिया में ही बनती रहती है और होना भी चाहिये। यह इस शताब्दी के प्रारंभ में टाटा के उदाहरण से स्पष्ट हो चुका है। 'जमशेदपुर टेक्नीकल इंस्टीट्यूट' का उदाहरण यह दर्शाता है कि यद्यपि इस्पात-निर्माण की उच्चस्तरीय टेक्नोलौजी के होते हुए भी, प्रशिक्षित कर्मियों की समस्या का समाधान किया जा सकता है, यदि उचित समय पर उपयुक्त कदम उठाये जायें। भारतीय उद्योगपतियों ने सामान्यतः काम के दौरान प्रशिक्षण की प्रणाली नहीं अपनायी। भारत के पास पर्याप्त मात्रा में सस्ता श्रम उपलब्ध था। लेकिन शिल्पियों और बचे हुए कृषि श्रमिकों में एक औद्योगिक श्रमिक के लिए आवश्यक विशेष दृष्टिकोण का अभाव था। औद्योगिक श्रमिक की नियमित

उपलब्धि को सुनिश्चित करने में इस तरह वास्तविक कठिनाई दिखायी दी थी।

जहां तक अत्यधिक उच्च प्रशिक्षित टेक्नीशियनों, इंजीनियरों तथा वैज्ञानिकों के मिलने का प्रश्न है, यह वास्तव में उच्च और टैक्निकल शिक्षा सुविधाओं को प्रदान करने की समस्या अधिक थी न कि प्रतिभा की कोई चली आ रही कमी थी। सरकार द्वारा चलायी जा रही तकनीकी शिक्षा सुविधाएं, मुख्यतः निम्न और मध्य स्तर तक के लिए थीं न कि विशेषीकरण के उच्च स्तर तक थीं। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि सरकार जहां तकनीकी शिक्षा सुविधाएं शुरू करने की दिशा में सावधानी से कदम उठा रही थी, वहां टाटा परिवार की पहल पर सन् 1911 में बंगलौर में इण्डियन इंस्टीट्यूट ऑफ साइंस शुरू किया गया। यदि प्रारम्भ में मध्यमवर्गीय व्यक्ति वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा के पक्ष में नहीं थे, इसका कारण उनके दृष्टिकोण की वजह से कम तथा मांग की कमी से अधिक थी। मांग स्वयं उद्योग के विकास पर ही निर्भर करती थी। यह केवल यही दिखाता है कि विकास एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें कारण-प्रभाव का संबंध अपने विकास के विभिन्न चरणों में उलटा हो जाता है, सीधा होता है और फिर उलटा हो जाता है। इसलिए जो, इस बात का तर्क देते हैं कि सरकार को वित्तीय संरक्षण जैसे साधनों के द्वारा औद्योगिक विस्तार को तब तक प्रोत्साहित नहीं करना चाहिए जब तक पर्याप्त शैक्षणिक सुविधाएं उपलब्ध न हों, वास्तव में ये भारतीय औद्योगिकीकरण का कोई भला नहीं कर रहे हैं।

उदाहरणार्थ, आवश्यक संख्या में इंजीनियरों और कुशल कर्मियों का कहीं भी अता-पता नहीं रहने के बावजूद, रेलवे का निर्माण हुआ। यद्यपि ईस्ट इण्डिया कंपनी तथा होम गवर्नमेंट, अत्यधिक आवश्यक समस्याओं के बावजूद, काफी उत्साही थे, वहीं टामस जैसे सन्देहशील व्यक्ति भी थे। उनकी शंकाएं, भारत की वर्षा और आंधी द्वारा लाइनों पर से रेल-डिब्बों के उड़ाये जाने तथा रेलगाड़ियों के कीड़ों मकोड़ों द्वारा खाये जाने से लेकर, इंजीनियरों की कमी तक थी। लेकिन काम पूरा किया गया, और पूरे तौर पर देखा जाये तो अच्छे ढंग से किया गया।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस देश में पहले औद्योगिक नेतृत्व का अभाव था। थोड़ी ही संख्या में, जो भी प्रारंभकर्ता और उद्यमी उभर कर सामने आये, वे सब मुख्यतः गैर-भारतीय थे। बागानों, जूट तथा कोयले के विकास के लिए जहां यह देश ब्रिटिश, स्कॉट तथा एंग्लो-इण्डियन के प्रति आभारी है, वहां इस्पात उद्योग का श्रेय एक पारसी परिवार को जाता है। यहां तक कि पारसी सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में गति-निर्धारक सिद्ध हुए। यह कोई आश्चर्य नहीं कि उद्यमशीलता की इस प्रकार की कमी से एक प्रबंधन व्यवस्था उभर कर आयी और अत्यधिक सफल हुई। इस व्यवस्था के अंतर्गत भारत में चल रहे व्यापार कार्यों के प्रति

विशेष लगाव था क्योंकि इसके माध्यम से वे कुछ व्यक्तियों के द्वारा ही दूर भारत में अनेक व्यापारों की व्यवस्था संभालने में सफल हो सके। उसी समय, इसके कारण, औद्योगिक जोखिम को कुछ विशेष परिवार समूहों तक सीमित कर दिया जिनके पास संसाधनों का स्वामित्व था और इसमें लाख प्रतिभावान होने के बावजूद सीमित साधनों के व्यक्तियों के प्रवेश को प्रतिबन्धित कर दिया गया।

प्रारंभिक कठिनाइयां जो भी रही हों–और ये किसी भी समाज के औद्योगिकीकरण से पूर्व की स्थिति में अलग-अलग रूप में अनिवार्य है। वास्तविकता यह है कि इन पर काबू पा लिया गया था। भारत में औद्योगिक विकास के मूल, स्वभाव तथा तरीकों में कुछ विशेष भिन्नता नहीं थी। ये सामान्यतः स्वाभाविक विकास की प्रक्रिया में आशा के अनुकूल ही थे। उद्योग विकसित होने में सूती वस्त्र उद्योग प्रथम था और इसकी पूंजी तथा निपुणता की सीमित आवश्यकताओं, विस्तृत रूप से तैयार बाजार और कच्चे माल की सुलभता को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था। इस पर भी, सूती वस्त्र निर्माण में जो शुरुआत हुई, उसका परिणाम संचयन अथवा स्वचालित प्रक्रियाओं में नहीं हुआ जैसा कि इंग्लैण्ड में हुआ था। आधुनिक उद्योग की ओर बदलाव जो भारत में सन् 1850 के लगभग शुरू हुआ। धीमी और विषम गति से चला। इस पर विदेशियों और विदेशी पूंजी का अधिपत्य था और जिसका कारण संसाधनों का 'अपव्यय' तथा गलत समय पर कभी-कभी अनियंत्रित रूप में शोषण हुआ। बागानों ने कृषि में 'अन्तर्क्षेत्रीय' विकास का एक अच्छा उदाहरण प्रस्तुत किया। इन्होंने, अपने सीमित फसल क्षेत्र को छोड़कर अन्य किसी भी भाग को प्रभावित नहीं किया। इसी प्रकार, सीमित रूप में विकसित शहरी हिस्से के कुछ उद्योग बागानों के पूरक सिद्ध हुए। बाद के वर्षों में, बागानों ने बदलती परिस्थितियों की प्रतिक्रिया रूप में 'विकसित' होना बन्द कर दिया। हला मिंट के अनुसार, बागानों में सीधे निवेश ने सदा के लिए एक तकनीकी परिवर्तन उत्पन्न कर दिया। इसने स्व-विकास के आधार पर रूपांतरण की क्षमता उत्पन्न नहीं की–वरन् इनको 'जीवाश्म' बना दिया गया। अधिक उत्पादनशीलता की दृष्टि से ही सही एक पारंपरिक समाज को बदल दिया गया था। यह कमोवेश उन सभी उद्योगों के साथ हुआ जो गत शताब्दी में शुरू हुए। उनके बदलाव की अक्षमता वर्षों से साफ तौर से दिखायी दे रही थी। ये मुख्यतः उन्हीं कारणों से जीवित बनी रही है जिनसे कुछ ग्रामीण कला और शिल्प बने रहते हैं। अतः हमारे पास इसका स्पष्ट कारण है कि इंग्लैण्ड की भांति, सूती वस्त्र उद्योग क्यों एक 'गति प्रवर्तक' सिद्ध नहीं हुआ। वास्तव में, यह कहा जा सकता है कि कपास, जूट और कोयला उद्योग आकस्मिक रूप से विकसित हुए थे–अच्छे फसली वर्ष में भरपूर फसल की भांति तथा औद्योगिक विकास की एकीकृत प्रक्रिया का भाग नहीं बने।

लेकिन बागानों और उद्योगों के बीच इस प्रकार की समानता को आगे तक नहीं बढ़ाया जा सकता। क्योंकि, यदि टेक्नोलौजी पुराने उद्योगों में काम आती रही, बाद के वर्षों में स्थापित होने वाले अनेक नये उद्योग थे जिनमें पहले लोहा और इस्पात थे और बाद में हल्के मैकेनिकल और इलैक्ट्रिकल इंजीनियरिंग, कैमिकल आदि। न ही भारत में उद्योगों के विकास की दर, अन्य देशों में विकास की तुलनात्मक अवस्थाओं के अनुपात में, विशेष रूप से धीमी थी। विल्फ्रेड मालेनबाम (प्रास्पेक्ट्स फॉर इण्डियन डेवलपमेंट) के अनुसार, भारत में औद्योगिक विकास की दर में सन् 1900 के बाद वृद्धि हुई, और सन् 1939 तक औद्योगिक उत्पादन में चार गुनी वृद्धि हुई। सन् 1939 और सन् 1945 के दौरान 20 प्रतिशत की और अधिक वृद्धि हुई। सन् 1945-50 के वर्ष एक खराब धब्बे के रूप में थे जिनमें केवल 5 प्रतिशत का ही विकास रिकार्ड किया गया। 1900-1950 की अर्धशताब्दी में, उत्पादन में लगभग पांच गुनी वृद्धि हुई।

इसका अर्थ था 3.3 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास दर। इसके विपरीत, कृषि उत्पादन में केवल 15 प्रतिशत का विस्तार हुआ, और खाद्यान्न का उत्पादन स्थिर रहा जबकि जनसंख्या 50 प्रतिशत बढ़ी। (यहां यह भी उल्लेखनीय है कि इस अवधि में वाणिज्यिक फसलों का उत्पादन दुगुना हो गया जिससे कृषि आधारित उद्योगों को काफी अधिक सहारा मिला।) यह संभवतः एक प्रभावशाली विकास लगे। सन् 1900 में औद्योगिक आधार सीमित था, और, और अधिक क्या कहा जाये, बाद में हुए विस्तार पर भी, कुछ उन्हीं पुराने उद्योगों जैसे सूती वस्त्र और कोयले का मुख्यतः एकाधिकार रहा। सन् 1935 से जब औद्योगिक आधार ने यदि गहराई नहीं तो कुछ विस्तार प्राप्त कर लिया, ऐसा कहा जा सकता है। सन् 1950 के दौरान विकास केवल 25 प्रतिशत के लगभग, अथवा औसतन 1.5 प्रतिशत के आसपास प्रति वर्ष रहा।

विकास के अन्य सूचक यथा फैक्ट्री संस्थानों में लगी श्रमशक्ति का प्रतिशत, राष्ट्रीय आय में फैक्ट्री उत्पादन का भाग तथा देश के अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में निर्मित वस्तुओं का सापेक्ष महत्व, भी कोई मौलिक परिवर्तन नहीं दर्शाते, यद्यपि पूरे तौर पर कहा जाये तो काफी विस्तार हुआ है। फैक्ट्री संस्थानों में लगी श्रमशक्ति सन् 1900 की 5 लाख से बढ़कर सन् 1950 में 29 लाख के लगभग हो गयी, लेकिन बाद के वर्षों में, यह रोजगारयुक्त कुल जनसंख्या का केवल 1.8 प्रतिशत ही सिद्ध हुई। तुलनात्मक व्यावसायिक स्थिति व्यक्ति को तालिका 12.1 में दर्शाया गया है।

तालिका 12.1
व्यवसायिक ढांचा

(रोजगारयुक्त श्रमशक्ति का प्रतिशत)

उद्योग	1901	1951
कृषि आदि	66.50	69.7
उद्योग और खनिज	15.50	13.1
व्यापार और वाणिज्य	2.60]	
परिवहन	3.60]	6.7
लोक प्रशासन और कला आदि	11.80	10.5
कुल	100.00	

उपलब्ध आंकड़ों के स्वरूप को देखते हुए तुलना केवल मोटे तौर पर ही की जा सकती है। लेकिन एक वास्तविकता स्पष्ट है कि कृषि पर निर्भरता काफी सीमा तक बढ़ गयी थी।

प्रत्यक्ष रूप से दिखायी देने वाले कुछ संरचनात्मक परिवर्तन थे लेकिन इतना अधिक नहीं कि राष्ट्रीय आय में होने वाले क्षेत्रीय योगदान का स्वरूप ही बदल जाये जैसा कि तालिका 12.2 से स्पष्ट है।

तालिका 12.2
औद्योगिक क्षेत्र द्वारा राष्ट्रीय आय

(प्रतिशत वितरण)

उद्योग	1900	1950-51
कृषि आदि	56.0	51.3
बड़े उद्योग और खदान	2.5	6.5
छोटे उद्यम	11.0	9.6
परिवहन और वाणिज्य	14.5	17.7
अन्य सेवाएं	16.0	15.1
कुल घरेलू उत्पाद	100.0	100.2
विदेशों से अर्जित शुद्ध आय	(–)	(-) 0.2
कुल राष्ट्रीय आय	100.0	100.00

सन् 1900 के आंकड़े केवल सूचना संकेत हो सकते हैं। उदाहरण के लिए, सन् 1900 के वर्षों में कुल उत्पादन में कृषि के भाग के विभिन्न अनुमानों में

इतनी अधिक विविधता है कि इनसे कोई भी निश्चित निष्कर्ष निकालना असंभव है। इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय आय के अनुमान सदैव ही सामग्री उत्पादन के मूल्यांकन पर आधारित थे। इस सामग्री उत्पादन में सेवाएं सम्मिलित नहीं थीं।

औद्योगिक क्षेत्र के अंतर्गत ही, दूसरे देशों में यह देखा गया है कि औद्योगिक उत्पादन का स्वरूप विकास की प्रक्रिया के दौरान पूंजीगत माल के पक्ष में तथा उपभोक्ता माल से बदलता गया। भारत में 50 वर्ष पहले पूंजीगत माल का कोई उत्पादन नहीं था। कोयला-खान और जूट ही केवल गैर-उपभोक्ता उद्योग थे। सन् 1950 में, विभिन्न प्रकार के उद्योगों का भाग, जिनके मूल्य में निर्माण से वृद्धि की गयी थी, इस प्रकार था उपभोक्ता भाग 68 प्रतिशत, मध्यम माल 23 प्रतिशत, मशीनरी 8 प्रतिशत और अन्य एक प्रतिशत। विशेषकर यदि समयावधि पर विचार किया जाये तो यह कोई विशेष परिवर्तन नहीं लगता। यह भी सम्भव है कि पहले मध्यम माल जैसे जूट और कोयले महत्वपूर्ण भाग के रूप में रहे हों। सम्भवतः कुल लाभ मशीनरी उद्योग का था।

गत शताब्दी के अंत में हमारे विदेशी व्यापार के तौर तरीके में परिवर्तनों को रेखांकित करने के उद्देश्य से आयात निर्यात के आंकड़ों को इकट्ठा करने के रानाडे के प्रयत्नों की चर्चा हमने की है। निर्मित और अर्ध-निर्मित माल का निर्यात उत्तरोत्तर बढ़ता जा रहा था जबकि इन्हीं वस्तुओं का आयात घटता जा रहा था। इस पर भी, हमारे आयात पर उनका कब्जा था जबकि निर्यात में मुख्यतः कच्चा माल, बागान उत्पादन और हल्की फुल्की निर्मित या अर्धनिर्मित वस्तुएं जैसे धागा, कपड़ा आदि सम्मिलित थे। पहली पंचवर्षीय योजना से पूर्व, कच्चे माल का निर्यात काफी घट गया था और आयात में अच्छी खासी वृद्धि हो गयी थी। अब खाद्यान्न आयात पर काफी निर्भरता थी। निर्मित वस्तुओं के आयात में मशीनरी का औसत 100 करोड़ रुपये अथवा युद्ध-पूर्व के स्तर से पांच गुणा था। इस प्रकार मशीनरी ओर कच्चे माल का बढ़ता आयात, कच्चे माल के निर्यात में गिरावट के साथ, औद्योगिकीकरण की तेज गति का सूचक था। लेकिन, इसके परिणामस्वरूप, जैसे रुई और जूट उत्पादों पर विश्वास जमता चला गया। इस प्रकार, विदेशी व्यापार में अधिक नया कुछ नहीं घटा था।

इस प्रकार भारत में सन् 1950 में अवरुद्ध विकास का चित्र प्रस्तुत किया, फैक्ट्री में श्रम-नियोजन कुल श्रम शक्ति का केवल 2 प्रतिशत ही था, फैक्ट्री का उत्पादन कुल राष्ट्रीय आय का 10 प्रतिशत ही था, और सूती वस्त्र उद्योग का औद्योगिक क्षेत्र पर अभी भी वर्चस्व था। लोहा और इस्पात उद्योग की औद्योगिक व्यवस्था से जुड़ जाने के बाद भी इसमें कोई विविधता नहीं आयी। युद्ध के वर्षों के दौरान उपभोक्ता उद्योगों के विकास में कुछ तेजी आयी भी लेकिन ये उद्योग इस्पात से सम्बन्धित नहीं थे। मशीनरी निर्माण का कोई काम शुरू नहीं किया गया

और सन् 1935 से सन् 1950 के दौरान कोई भी उल्लेखनीय विकास नहीं हुआ।

औद्योगिक विकास की एक शताब्दी के बाद भी यह देश अपने आपको एक औद्योगीकृत समाज के रूप में क्यों नहीं स्थापित कर सका था ? दूसरे दशक के समय में, भारत की एक आधुनिक राष्ट्र के रूप में उभरकर आने की सम्भावनाओं के बारे में अत्यधिक आशाएं थीं। तीसरे दशक में 'लीग ऑफ नेशंस' ने भारत को विश्व के पहले आठ औद्योगीकृत राष्ट्रों में एक माना। पारिभाषिक दृष्टि से यद्यपि यह ठीक है, लेकिन इसने भारत की प्रगति का एक अतिशयोक्तिपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया।

छुटे हुए कारण

ठहराव के लिए किसी एक विशेष कारक को उत्तरदायी नहीं माना जा सकता लेकिन प्रमुख कारक को अलग से दिखाने के प्रयत्न किये गये हैं। संसाधन, वित्त, कौशल, व्यावसायिक नेतृत्व, तथा 'शासक और शासित के मध्य सहयोग' की महत्ता पर बल देते हुए, वेरा एन्सटे का विचार था कि अवरुद्ध विकास के मुख्य कारण को, भारत के अनूठे सामाजिक संगठन से ढले लोगों के 'अनार्थिक दृष्टिकोण' में खोजा जाना चाहिए जब तक सामाजिक संगठन में पूरी तरह परिवर्तन नहीं किया जायेगा, यह ठहराव समाप्त नहीं किया जा सकता।

इसमें कोई संदेह नहीं कि देश की प्रगति में जनता के दृष्टिकोण का काफी संबंध है। लेकिन यह कहना भी ठीक नहीं है कि भारतीयों का दृष्टिकोण पूरी तरह अनार्थिक था, अथवा इस प्रकार के दृष्टिकोण के कारण ही अर्थव्यवस्था में ठहराव आ गया। हमारे व्यापारियों और व्यापारी से बने उद्योगपतियों की रुचि संसार के किसी भी अन्य व्यक्ति की भांति, जल्दी से जल्दी अत्यधिक धन कमाने में थी। इसलिए, जहां तक आम व्यापारियों के दृष्टिकोण का संबंध था, वहां 'अनार्थिक' दृष्टिकोण की बजाय उचित दीर्घकालीन दृष्टिकोण का अभाव तथा प्रबुद्ध स्वार्थपरता की कमी थी जो उनके नये और अनजान क्षेत्रों की खोज न करने के लिये उत्तरदायी प्रतीत होते हैं।

पूर्ववर्ती अध्यायों में, हमें यह देखने के अनेक अवसर मिले कि व्यापारी समुदाय ने किस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र लाभ कमाने के चक्कर में भविष्य भी गिरवी रखने का प्रयास किया था। अपने व्यापारिक अतीत से विरासत में मिली, सट्टेबाजी की प्रवृत्ति ने अत्यधिक वृद्धि के समय में भी औद्योगिक स्थिति को विषमय बना दिया। यहां तक कि जब यह स्पष्ट हो गया था कि युद्ध के समय की भांति, समृद्धि एक अल्पकालीन स्थिति थी, तब भी , प्रतिस्पर्धात्मक शक्ति बनाने, उत्पादन में विविधता लाने अथवा उन्नत टेक्नोलौजी अपनाने का कोई प्रयत्न नहीं किया

गया था। दूसरी ओर, प्रत्येक वृद्धि के बाद, उद्यमों में अधिक पूंजी निवेश हुआ और उनकी क्षमताओं में और अधिक विस्तार हुआ। युद्ध तथा ऐसी अन्य घटनाओं के कारण घिसी-पिटी मशीनों के बदलाव तथा उन्हें जोड़ने का काम अधिक आवश्यक हो गया था, घरेलू संसाधनों की कमी के दिनों में उपेक्षा की गयी। लेकिन, सामान्य स्थिति के लौटने पर भी साधारणतया यह पाया गया कि जहां, घरेलू मांग में गिरावट आयी, घटी हुई कार्यक्षमता और प्रतिस्पर्धात्मक योग्यता के कारण विदेशी मार्किट में पैर जमाना भी सरल नहीं था। दूसरी ओर, उदाहरणार्थ, यूरोप के इस्पात उत्पादक, दूसरे दशक के प्रारंभ में टाटा को नुकसान पहुंचा सके क्योंकि उन्होंने युद्ध के दौरान बड़े-बड़े भंडार बना लिये थे। निश्चित रूप से, इसमें टाटा की कोई गलती नहीं थी यदि वे सरकार द्वारा अनुबंधित कीमतों के कारण भण्डार नहीं बना सके थे।

कच्चे जूट में भारत का विश्व-एकाधिकार होते हुए भी, जूट-मिल अपनी उच्चतम स्थिति बनाने के लिए इस अनूठी परिस्थिति का उचित उपयोग नहीं कर पाईं। जूट की किस्म में आधुनिकीकरण, विविधता तथा सुधार की चर्चा तब तक नहीं चली जब तक काम ठीक-ठीक चलता रहा। इसके बाद, वे स्वयं को घटना-चक्र में फंसा पाये। विदेशी विशेषज्ञों तथा प्रबंधकों पर निर्भरता काफी दिनों तक बनी रहने दी गयी, जिसके परिणामस्वरूप, भारतीयों को उद्योग में केवल अकुशल अथवा अर्धकुशल श्रमिक के रूप में ही उपयोगी समझा गया। पुरानी अथवा घटिया मशीनरी से काम चलाने तथा संपत्ति का प्रयोग जब तक चले तब तक चलाने की प्रथा शुरू-शुरू में ठीक लगी, लेकिन इसे काफी समय तक लागू रखा गया। इस तरह की प्रथा का अर्थ होता है कि उद्यमी को कुछ सांस लेने का समय मिल सके, लेकिन उसे, जल्दी ही, आधुनिकीकरण तथा विवेकीकरण की प्रक्रिया शुरू कर देनी चाहिए और यह प्रक्रिया सतत रूप से चलती रहनी चाहिए। भारतीय व्यापारिक समुदाय का रिकार्ड इस सन्दर्भ में निराशाजनक रहा है।

इन सबके होते हुए भी, देश में प्रबुद्ध जनमत का यह दृष्टिकोण था कि भारतीयों द्वारा प्रदर्शित जोखिम की कोई भी मात्रा तथा उनके द्वारा किये गये कोई भी प्रयास, आर्थिक पुनरुत्थान नहीं ला सकते जब तक देश में इस उद्देश्य के लिए काम करने वाली कोई राष्ट्रीय सरकार नहीं बनती। अन्यथा, भारत और जापान में हुई प्रगति के इतने बड़े अंतर का क्या कारण हो सकता है। वास्तव में, जापान तो औद्योगिक पटल पर तुलनात्मक रूप से काफी देर से आया। सन् 1900 के लगभग, ऐसा लगा था कि भारत और जापान एशिया में आधुनिकीकरण का नेतृत्व कर रहे थे। जहां जापान ने तेजी से पुनरुत्थान कर दिखाया, भारत पीछे हटता गया। ऐसा नहीं था कि भारत का संसाधन आधार अथवा कार्यकुशलता जापान के मुकाबले घटिया थी—कम से कम गत शताब्दी में तो नहीं। सूती वस्त्र

जैसे अग्रगण्य क्षेत्र में, भारत ने, वर्तमान शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों तक, अपनी स्थिति जापान से अच्छी ही रखी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जापान में और चीन में भी, हथकरघों की अत्यधिक प्रधानता रही।

इन दो देशों के इस विरोधाभास को इस बात से स्पष्ट किया जा सकता है कि इन देशों में किस प्रकार की सरकारें काम कर रही थीं। इस बारे में 'मालेन्बाम' का मत बहुत स्पष्ट है। वे भारतीय आर्थिक क्रांति की असफलता के लिए उत्तरदायी इस वास्तविकता को मानते हैं कि, "विकास के इन महत्वपूर्ण वर्षों में भारतीय व्यापारी एक विदेशी सरकार के नीचे थे।" सामाजिक और आर्थिक ढांचे, जो सरकार को बनाने चाहिएं, और वे कुछ अंशों तक ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनी सुविधा के लिए बनाये गये थे, के अतिरिक्त, प्रशासन के पूरे तौर तरीके, भविष्य में अच्छे समय के बारे में विश्वास जगाने वाले होने चाहिए। ऐसी साम्राज्यवादी सरकार के लिए, जो लगातार विरोधाभासों से दबी हुई थी, ऐसा करना संभव नहीं था। हमने विस्तार से, ब्रिटिश सरकार द्वारा अपनाये गये संरक्षण तथा भण्डार क्रय-नीति की चर्चा की है। यहां इतना कहना आवश्यक होगा कि 'इंपीरियल प्रीफ्रेंसों' द्वारा तोड़ी गयी संरक्षणात्मक नीति, 75 वर्ष के औद्योगिक विकास के बाद, सरकारी नीति के रूप में अपनायी गयी थी और संरक्षण द्वारा उत्प्रेरित होकर विस्तार और विविधता की प्रक्रिया जब चल रही थी, 'भारी मंदी' ने इसमें रुकावट डाली और भारतीय उद्योग को आगामी 20 वर्षों में कठिनाइयों से कोई राहत नहीं मिली।

बारबरा वार्ड भी इस तर्क पर कम जोर नहीं देती जब वे सन् 1870 और सन् 1920 के मध्य 'भारतीय औद्योगिक विकास की सापेक्षतः कच्छप गति' की तुलना, 'जापान के जबर्दस्त औद्योगिकीकरण' से करती है। वे उन साधनों और सुधारों की एक लम्बी सूची गिनवाती है जो जापानी सरकार ने शीघ्रतम प्रगति लाने के लिए लागू किये जैसे, एक पूर्णरूपेण भूमि सुधार; भूमिधरों को सरकारी बौंड के रूप में मुआवजा, जो केवल सरकार द्वारा स्थापित नये उद्योगों में ही निवेशित किये जा सकते थे; देश और नगर में ऋण व्यवस्था, शिक्षा प्रसार का कार्यक्रम, सरकारी व्यय पर विदेशी-प्रशिक्षण व्यवस्था–एक उत्साहपूर्ण तथा साधन सम्पन्न सरकार द्वारा विकासात्मक नीतियों का एक भरपूर कार्यक्रम।

औद्योगिक क्रांति के लिए नियोजन

सन् 1947 में हमें निर्णय लेने का अपना स्वयं का राजनैतिक तंत्र मिल गया। अब हमारे पास ऐसी सरकार थी जो न केवल सहानुभूतिपूर्ण थी वरन् तीव्र आर्थिक परिवर्तन की नीति के लिए पूरी तरह वचनबद्ध भी थी। लेकिन किसी भी

सर्वसत्तात्मक राष्ट्रीय सरकार से रातोंरात क्रांति लाने की आशा नहीं की जा सकती। दशकों के ठहराव और अकर्मण्यता को, केवल आत्मविश्वास तथा भविष्य के प्रति आशा के सहारे ही जल्दी से दूर नहीं किया जा सकता था। कृषि का जिसकी पहले बिल्कुल उपेक्षा की गयी थी, आधुनिकीकरण तथा आधुनिक उद्योग से संबंध स्थापित करना आवश्यक था। कुछ उद्योग, जो आस्तित्व में आ गये थे, अब युद्धों, मन्दी और विभाजन के कारण बुरी तरह अस्त-व्यस्त हो गये थे, उनमें काफी सुधार की आवश्यकता थी और इसके साथ-साथ चहुंमुखी नये औद्योगिक विकास की शुरुआत करना भी आवश्यक था। अन्य विकासोन्मुख देशों की तरह भारत को कुछ ही पीढ़ियों की अल्पावधि में शताब्दियों की प्रगति का सामना करना पड़ा था। यह सहज मुक्त उद्यम विकास की असफलता को देखते हुए और समय से पहले तात्कालिक आवश्यकता को पूरा करने की दृष्टि से है कि नियोजित विकास और राज्यिक हस्तक्षेप को समझना होगा। निश्चित रूप से, न तो एक सार्वभौमिक सरकार और न राज्य की गतिविधियां, निर्धनता और पिछड़ेपन के लिए कोई राम-बाण प्रदान करती है। जैसा कि बारबरा वार्ड कहती है कि लैटिन अमेरिकी देशों ने राष्ट्रीय सरकारों के अंतर्गत कोई विशेष प्रगति नहीं की है। राज्य कार्यों की सफलता इस पर अधिक निर्भर करती है कि यह कितना अधिक सुनिश्चित है।

इसलिए हमें, विकास-तंत्र को मुख्यतः तथा शीघ्रतम आत्म-निर्भर बनाने के लिए आर्थिक विकास के ढंग को बदलने तथा उसमें तेजी लाने के भारत के भगीरथ प्रयत्नों की सफलता का मूल्यांकन करना है। इसे सन् 1950 से पूर्व के अवरुद्ध विकास के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में तथा सामाजिक आकांक्षाओं और आशाओं के परिप्रेक्ष्य में देखना है।

भाग 5

दूसरी औद्योगिक क्रांति की ओर पारगमन

अध्याय 13

नियोजित-औद्योगिकीकरण : 1950-1980 का एक आकलन

औद्योगिक उत्पादन में पहली योजना के दौरान लगभग 40 प्रतिशत की वृद्धि हुई तथा सन् 1960-61 में समाप्त होने वाले दशक में यह वृद्धि लगभग दुगुनी हो गयी। इसका अर्थ था कि पूर्वगामी अर्धशताब्दी के 3.3 प्रतिशत की तुलना में 7 प्रतिशत के विकास की मिश्रित दर। इस वास्तविकता के अतिरिक्त कि सन् 1950 में औद्योगिक आधार सापेक्षतः और अधिक व्यापक था; इसका एक और कारण है कि क्यों यह विकास दर प्रगति को इसकी सही मात्रा नहीं दिखाती। सन् 1951 के आधार से बनाया गया सूचकांक पारंपरिक उद्योगों के पक्ष में बहुत अधिक झुका हुआ था; सूती वस्त्र 41.76 प्रतिशत, कोयला 7.09 प्रतिशत, लेकिन प्राथमिक धातु केवल 9.25 प्रतिशत तथा अन्य जैसे कि धातु उत्पादों से निर्मित थे और मशीनरी नगण्य थी।

वास्तव में, सूती वस्त्र में विकास, सन् 1951 तथा सन् 1961 के दौरान केवल 33 प्रतिशत हुआ, लेकिन लोहा और इस्पात का उत्पादन दुगुने से भी अधिक, मशीनरी निर्माण का विस्तार पांच गुणा और कैमिकल उत्पादन लगभग तीन गुणा हुआ।

विकास दर (सन् 1956 को आधार वर्ष मानकर सूचकांक से मापी गयी)

तीसरी योजना के दौरान, अन्तिम वर्ष के सिवाय, 7 प्रतिशत पर ही बनी रही। वास्तव में, पांच वर्षों में, यह 7.7 प्रतिशत तक बढ़ गयी थी, यद्यपि यह अभी भी 11 प्रतिशत (वार्षिक औसत) के लक्षित दर से कम ही थी। सन् 1965-66 में 4 प्रतिशत की प्राप्त दर को देखते हुए भी, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि नियोजन के प्रथम पंद्रह वर्षों ने पहले के ठहराव की स्थिति को समाप्त कर दिया था। इन वर्षों में औद्योगिक उत्पादन में ढाई गुणे से भी अधिक की वृद्धि हुई अर्थात् 6.5 प्रतिशत की वार्षिक संचयी दर।

तीसरी योजना में मूलभूत और उत्पादक माल उद्योगों का विस्तार, पिछले पांच वर्षों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट था। विद्युत मशीनरी के उत्पादन में 71 प्रतिशत की वृद्धि हुई, गैर-विद्युत मशीनरी में 82 प्रतिशत, धातु उत्पादों में 57 प्रतिशत, कच्ची धातुओं में 49 प्रतिशत, परिवहन उपकरणों में 59 प्रतिशत, और पैट्रोलियम उत्पादों में 44.8 प्रतिशत। दूसरी ओर, सूती वस्त्र और चीनी के उत्पादन में वृद्धि केवल 20 प्रतिशत और 13 प्रतिशत क्रमशः थी। योजना से ली गयी निम्न तालिका दर्शनीय है–

तालिका 13.1
(सन् 1960-61 में) निर्माण द्वारा संवर्द्धित मूल्य (करोड़ रुपयों में)

उद्योग	*1950-51*	*1960-61*	*1965-66*
1	*2*	*3*	*4*
उपभोक्ता माल	260.7	423.7	487.6
मध्यक माल	89.5	346.1	620.2
मशीनरी	30.9	151.3	315.9
अन्य	3.1	6.9	10.3
कुल	384.2	928.0	1,434.0

सन् 1960 के आधार मानकर औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक को देखते हुए, तीसरी योजना की उपलब्धि और अधिक पक्की थी। इस सूचकांक ने पुराने उद्योगों की महत्ता को काफी घटा दिया तथा नये उद्योगों को उचित स्थान दिलाया।

औद्योगिक उत्पादन में पहले चार वर्षों में 8 से 10 प्रतिशत तक की वृद्धि हुई तथा अंतिम वर्ष में 4.3 प्रतिशत की जिससे पूरी योजना की औसत वृद्धि 7.9 प्रतिशत रही।

अगले दो वर्ष निश्चित रूप से खराब रहे। विकास दर सन् 1966-67 में गिरकर 2 प्रतिशत से भी कम रही तथा सन् 1967-68 में 0.3 प्रतिशत की नगण्य दर तक रह गयी। सन् 1968-69 में कसर पूरी की गयी जिसमें सन् 1969-70 में और अधिक वृद्धि हुई। उत्पादन में सन् 1968-69 में 6.2 प्रतिशत की वृद्धि

हुई और सन् 1969-70 में फिर 6.5 प्रतिशत की वृद्धि। मन्दी ने जहां तक एक ओर सूती वस्त्र उद्योग और खाद्यान्न उद्योग को नुकसान पहुंचाया तो दूसरी ओर धातु और मशीनरी उद्योगों को भी।

सन् 1950-51 से सन् 1969-70 तक के योजना वर्षों को एक साथ देखते हुए कहा जा सकता है कि औद्योगिक उत्पादन में 4.4 प्रतिशत से वृद्धि हुई।

भारत-पाक संघर्ष, लगातार दो प्रतिकूल मानसून, तथा आर्थिक मन्दी के कारण, विकास प्रक्रिया को गहरा धक्का लगा और गत दो वर्षों की वसूली ने अर्थव्यवस्था को मात्र सन् 1964-65 के स्तर तक पहुंचने के योग्य तक बना दिया। यह एक गम्भीर नुकसान था। लेकिन ये चारों वर्ष पूरी तरह से व्यर्थ नहीं गये। पहले से शुरू की गई परियोजनाओं में से कुछ पूरी कर ली गयी थीं, जिससे प्राथमिक क्षेत्रों की क्षमताओं में वृद्धि हुई और आत्मनिर्भरता की ओर एक और कदम बढ़ा। ये लोहा और इस्पात, अल्मुनियम, इस्पात मशीनरी, खदान मशीनरी, विद्युत उपकरण, पेट्रोलियम शोधक, उर्वरकों, पेट्रोकैमिकल तथा स्वदेशी डिजाइन एवं इंजीनियरिंग सेवाओं से संबंधित थे।

छठा दशक : प्रारंभिक औद्योगिकीकरण के आरंभिक दिन

सन् 1960 से औद्योगिक विकास का विश्लेषण करना संभव है। इस अवधि की विस्तृत सूचना उपलब्ध है और वर्ष 1960 के आधार से सूचकांक एक समय शृंखला प्रदान करते हैं जिससे इस प्रकार का विश्लेषण मिलता है। सन् 1970 को आधार वर्ष मानकर औद्योगिक उत्पादन का नया सूचकांक सन् 1973 में अपनाया गया। इसलिए सन् 1960-73 को एक ही समय अवधि मानकर विकास की समीक्षा करने का और इसके बाद नये सूचकांक के आधार पर सातवें दशक के विकास का मूल्यांकन करने का प्रस्ताव है।

औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकांक ने सन् 1961 और सन् 1973 के दौरान शत प्रतिशत से भी अधिक की वृद्धि रिकार्ड की। यह 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की मिश्रित विकास दर बनती है। जैसा कि सूचकांक से स्पष्ट है, औद्योगिक उत्पादन ने सन् 1966-68 वर्षों को छोड़कर सामान्यतः एक नियमित वृद्धि की गति बनाकर रखी। वृद्धि की यह गति छठे दशक के शुरू में अधिक गहरी थी लेकिन बाद के वर्षों में कम होती चली गयी। इस कुल तस्वीर के अन्तर्गत, तीसरी योजना में विकास की दर 9 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक बढ़ गयी। सन् 1966-68 की तीन वर्ष की अवधि में, तीन वार्षिक योजनाओं के अवकाश काल के साथ-साथ, विकास दर घट कर केवल 1.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रह गयी। सन् 1969-73 की अवधि में, जो वस्तुतः चौथी योजना का समय था, दर सुधर कर 4.5 प्रतिशत

प्रतिवर्ष हो गयी। इस प्रकार, तीसरी पंचवर्षीय योजना की अवधि को छोड़कर, अर्जित विकास दर, 7 से 8 प्रतिशत की लक्षित विकास दर से काफी कम रही।

इस अवधि में उद्योग के विभिन्न क्षेत्रों के व्यवहार का ढंग, जहां एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न था, वहां औद्योगिक उत्पादन के विकास की कुल दर से भी भिन्न था। यह निम्न तालिका से देखा जा सकता है–

तालिका 13.2
औद्योगिक उत्पादन के विकास की क्षेत्रीय दरें 1961-73
(प्रतिवर्ष मिश्रित प्रतिशत)

क्षेत्र	*1961-65*	*1966-68*	*1969-73*	*1961-73*
1. आरंभिक उद्योग	10.4	5.8	5.2	7.3
2. पूंजीगत माल उद्योग	19.5	(–) 4.8	5.4	8.4
3. मध्यक माल उद्योग	7.0	1.9	3.4	4.4
4. उपभोक्ता माल उद्योग	5.0	1.1	4.2	3.8
(क) उपभोक्ता गैर-टिकाऊ	3.8	(–) 0.8	4.1	2.8
1. सूत बुनाई	0.0	(–) 1.3	(–) 0.5	(–) 0.7
2. वनस्पति	4.9	3.4	(–) 0.3	2.5
3. चीनी	4.5	(–) 12.1	11.0	2.8
(ख) उपभोक्ता टिकाऊ	10.7	8.2	4.3	7.7
5. सामान्य सूचकांक	9.0	1.5	4.5	5.5

टिप्पणी : विश्लेषण प्रयोग आधारित समूह सूचकांकों के अनुसार किया जाता है क्योंकि ये हमारी योजनाओं की औद्योगिकीकरण की नीति को अधिक सीधे रूप से दर्शाते हैं।

पूंजीगत माल उद्योगों की विकास दर में तेजी से वृद्धि हुई, अर्थात् सन् 1961-65 के दौरान 19.5 प्रतिशत वार्षिक। इसके बाद आरंभिक उद्योग क्षेत्र थे जिनका विकास 10.4 प्रतिशत की दर से हुआ। अन्य दो क्षेत्रों, जैसे मध्यक माल उद्योगों तथा उपभोक्ता माल उद्योगों का विस्तार, बहुत धीमी गति से हुआ और वास्तव में इनकी गति, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक द्वारा प्रदर्शित औसतन विकास दर से भी कम थी।

तीन वार्षिक योजनाओं ने सभी क्षेत्रों के विकास की दरों में एक सामान्य गतिरोध दिखाया। लेकिन इस गतिरोध की मात्रा भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न थी। जहां आरंभिक माल उद्योगों का विकास 5.8 प्रतिशत वार्षिक की दर से हुआ, पूंजीगत माल उद्योग, जो छठे दशक के प्रारंभ में गति-निर्देशक थे, घटकर 4.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की नकारात्मक विकास दर तक आ गये। रुचि की बात यह है कि जहां उपभोक्ता माल उद्योगों ने इस अवधि में विकास दर को मामूली

एक प्रतिशत से कुछ अधिक तक बनाकर रखा, उपभोक्ता गैर टिकाऊ के अतिरिक्त छोटे क्षेत्र में 8.2 प्रतिशत की दर से वृद्धि जारी रही, जोकि छठे दशक के पूर्वार्ध में किये गये इसके कार्य-निष्पादन की अपेक्षा कुछ कम ही थी।

अगले पांच वर्षों के दौरान एक सामान्य वसूली हुई, लेकिन एक बार फिर यह सभी क्षेत्रों में एक समान नहीं थी। आरंभिक उद्योगों ने, कमोवेश, वही विकास दर रखी जो सन् 1966-68 में थी, पूंजीगत माल उद्योगों में काफी सीमा तक कमी पूरी हुई, और नकारात्मक विकास को पलट कर 5.4 प्रतिशत की सकारात्मक विकास दर में बदल दिया। अन्य दो क्षेत्रों में वसूली फिर भी मामूली ही थी जबकि उपभोक्ता टिकाऊ ने अपनी उस गतिशीलता को समाप्त कर दिया जो उन्होंने प्रारम्भिक वर्षों में दिखायी थी। पूरे तौर पर, यह देखा जा सकता है कि प्राथमिक उद्योग क्षेत्र ने सभी वर्षों में एक ऊँची और अधिक समान विकास दर दिखायी जबकि पूंजीगत माल उद्योगों की विकास दर में उतार चढ़ाव थे।

औद्योगिक क्षेत्र के पूरे विकास तथा क्षेत्रीय विकास दरों को देखने के बाद, अब हम संक्षेप में अलग-अलग उद्योगों और समूहों, जो कि विभिन्न क्षेत्रों के अन्तर्गत आते हैं, के विकास का विश्लेषण कर सकते हैं।

आरंभिक उद्योग

इस क्षेत्र में, कुल भारिक महत्व के एक चौथाई से कुछ अधिक के भारिक महत्व के साथ, कुछ तेजी से विकासमान उद्योग जैसे उर्वरक, अल्मुनियम निर्माण तथा विद्युत भी सम्मिलित हैं। उर्वरकों का उत्पादन सन् 1961-73 की पूरी अवधि में 19 प्रतिशत से अधिक की वार्षिक दर से हुआ जिसके परिणामस्वरूप, अवधि के अंत में इस उद्योग का सूचकांक 10 गुणा से भी अधिक था। फिर भी, इसका आधार शुरू-शुरू में संकुचित था और इसको दिया जाने वाला महत्व ½ प्रतिशत से भी कम था। दूसरी ओर, विद्युत में दोनों ही तरफ, 5.37 का अधिक भार तथा 10 प्रतिशत के लगभग की महत्वपूर्ण विकास दर थी। इस अध्ययन की अवधि में विद्युत उत्पादन लगभग चार गुणा बढ़ा। अल्मुनियम में भी 5 गुणा से अधिक की वृद्धि हुई लेकिन, जैसा कि उर्वरकों के बारे में था, यह भी सीमित आधार से शुरू हुई और उसे थोड़ा ही भारिक महत्व मिला। अन्य औद्योगिक समूहों में, जो मूल उद्योगों में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, खदान और उत्खनन हैं जिनका भार 9.72 है तथा 6.23 भार वाले लोहा और इस्पात के मूल उद्योग हैं। इस समूह में भारी अकार्बनिक रसायन और सीमेंट उद्योग भी महत्वपूर्ण हैं यद्यपि इनका भार काफी कम है। खदान और उत्खनन समूह ने सामान्यतः सन् 1968 तक 5 प्रतिशत के लगभग विकास की सीमित दर रिकार्ड की और आगामी

पांच वर्षों में, विकास दर में गिरावट के परिणामस्वरूप, इस छोटे क्षेत्र में विस्तार, पूरे क्षेत्र के विकास दर की अपेक्षा काफी कम था। लोहा और इस्पात उद्योग ने छठे दशक के पूर्वार्ध में 13 प्रतिशत से भी अधिक का प्रभावशाली विकास रिकार्ड किया। लेकिन उद्योग सामान्यतः तब से निष्प्राण सा ही रहा जिसके परिणामस्वरूप इस समूह के सूचक ने आगामी सात और आठ वर्षों में बहुत थोड़ी वृद्धि दिखायी। भारी अकार्बनिक रसायनों ने सन् 1961-73 की अवधि में लगभग चार गुणा विकास दिखाया। इनका विकास छठे दशक के पूर्वार्ध में विशेष रूप से गतिमान था (16.4 प्रतिशत प्रति वर्ष)। सीमेंट उत्पादन पूरे समय में 5.1 प्रतिशत वार्षिक की दर से बढ़ता गया, सन् 1961-65 में कुछ बढ़ा भी (6.2 प्रतिशत) लेकिन बाद के वर्षों में (4.5 प्रतिशत) कम रहा।

पूंजीगत माल उद्योग

इस समूह का विस्तार अधिक तेजी से हुआ लेकिन इसका भारिक महत्व केवल 10.76 था। इस समूह में सम्मिलित प्रमुख उद्योग थे, 3.50 भारिक महत्व के रेल-सड़क उपकरण तथा 2.51 भारिक महत्व के मोटर-वाहन। रेल सड़क उपकरण उद्योग ने तीसरी योजना की अवधि में प्रभावपूर्ण विकास दिखाया जब यह 21 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से विकसित हुई। इसके बाद इसे एक झटका लगा जो बाद के वर्षों में इतना अधिक गहरा हो गया कि सन् 1973 के अंत में आधार वर्ष की तुलना में उत्पादन का स्तर और भी कम हो गया। मोटर वाहन उद्योगों ने विकास की एक नियमित परंतु सीमित दर बना कर रखी जो औद्योगिक उत्पादन के सामान्य सूचकांक द्वारा पंजीकृत विकास दर से भी काफी कम थी। औद्योगिक मशीनरी ने जिनको लोहा और इस्पात की भांति औद्योगिकीकरण के मुख्य संचालक के रूप में माना जा सकता है, विविधतापूर्ण कार्य दिखाया। इसका विकास पहले पांच वर्षों के दौरान 9 प्रतिशत की दर से हुआ। लेकिन विकास की दर में अगले तीन वर्षों में गिरावट आयी और नकारात्मक हो गयी और तत्पश्चात् आगामी पांच वर्षों में 2.9 प्रतिशत की दर से वसूली हुई। इस प्रकार सन् 1961-73 की अवधि के लिए औद्योगिक मशीनरी के विकास की दर पूरे तौर पर औद्योगिक उत्पादन की अपेक्षा कम थी। पूंजीगत माल उद्योगों जैसे प्राइम मूवर्स, बायलरों तथा भाप-उत्पादक संयंत्रों, मशीनरी संघटकों एवं सहायक यंत्रों के अन्तर्गत अन्य औद्योगिक समूहों का विकास अच्छी प्रभावशाली दरों से हुआ, यद्यपि उनमें सभी का औद्योगिक मशीनरी की भांति, औद्योगिक संरचना में सापेक्षतया भारिक महत्व सामान्य ही था।

माध्यक माल उद्योग

यदि पूंजीगत माल उद्योगों तथा आरंभिक उद्योगों का विकास कुल औद्योगिक क्षेत्र की तुलना में पूरे तौर पर अधिक गति से हुआ, तो माध्यक माल उद्योगों तथा उपभोक्ता माल उद्योगों का विकास धीमी गति से हुआ। 25.88 के कुल भारिक महत्व वाले इस क्षेत्र ने उद्योग की कुल विकास दर को कम करने में काफी योगदान दिया। यह भी स्पष्ट है कि इस समूह में प्रमुख उद्योग या तो ठहराव की स्थिति में थे अथवा उन्होंने विकास की दर बहुत कम दिखायी। 11.79 के भारिक महत्ववाले सूत कताई उद्योग का विकास बहुत कम था। सन् 1961-65 के दौरान इसका विकास 3.9 प्रतिशत की दर से हुआ, सन् 1966-68 में 0.9 प्रतिशत तथा सन् 1969-73 में 1.0 की दर से। इस प्रकार इस उद्योग का सूचकांक अवधि समाप्ति के समय केवल 30.5 प्रतिशत अधिक था। इस समूह में एक अन्य प्रमुख उद्योग जैसे जूट निर्माण का विकास और भी अधिक खराब था। इस उद्योग की विकास दर जो सन् 1961-65 में 3.8 प्रतिशत वार्षिक थी, सन् 1966-68 में 7.1 प्रतिशत वार्षिक में तथा सन् 1969-73 में −1.2 प्रतिशत में बदल गयी। यह भी दूसरा ऐसा उद्योग था जो योजना अवधि के प्रारंभिक दिनों की अपेक्षा अंतिम दिनों में अधिक खराब सिद्ध हुआ। विकास निर्देशित उद्योगों जैसे पैट्रोलियम शोधक उत्पाद, टायर और ट्यूब, कृत्रिम रेशे आदि का विस्तार दो से तीन गुणा अधिक हुआ, लेकिन, पूरे तौर पर, इनका भारिक महत्व कम ही था और इनकी शुरुआत सीमित आधार से हुई। पैट्रोलियम शोधन का विकास सन् 1961-65 में 9.7 प्रतिशत की दर से, सन् 1966-68 में 17.9 प्रतिशत की दर से, तथा सन् 1969-73 में 5.0 प्रतिशत की दर से हुआ, जिससे सन् 1961-73 का औसत 9.7 प्रतिशत रहा। टायर और ट्यूब की विकास दर 9.0 प्रतिशत से भी अधिक रही। इनका विकास काफी नियमित और अधिक था और छठे दशक में कुछ तेज़ ही रहा। डाइस्टफ और डाइज का विकास सन् 1968 तक 7.7 प्रतिशत की दर से हुआ लेकिन इसके बाद इसमें कमी आयी जिससे पूरी विकास दर 6 प्रतिशत तक रही।

उपभोक्ता माल उद्योग

इस क्षेत्र की महत्ता अधिक ही है क्योंकि इसका भारिक महत्व 37.25 प्रतिशत है और यह जनसाधारण के लिए आवश्यकता का कुछ सामान जुटाता है। लेकिन इस क्षेत्र का विकास धीमी गति से हुआ और इस समूह का सूचकांक सन् 1973 के लिए 161.9 ही रहा जो 200.6 के सामान्य सूचकांक की तुलना में काफी प्रतिकूल था। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण, इस क्षेत्र के अंतर्गत, छोटे क्षेत्र के उपभोक्ता गैर-टिकाऊ माल उद्योगों का विकास, पूरे क्षेत्र के विकास की तुलना में धीमी गति से हुआ। उदाहरण के लिए, उपभोक्ता माल उद्योग समूह का विकास

सन् 1961-65 में 5 प्रतिशत वार्षिक की दर से हुआ लेकिन उपभोक्ता गैर-टिकाऊ समूह खंड का विकास केवल 3.8 प्रतिशत की दर से हुआ। बाद के वर्षों में, जब इस समूह की विकास दर में पूरे तौर पर कमी आयी, तो गैर-टिकाऊ सामान की विकास दर में भी उसी अनुपात से कमी आयी। उपभोक्ता टिकाऊ माल में वृद्धि सन् 1961-65 में 10.7 प्रतिशत की दर से तथा सन् 1966-68 में 8.2 प्रतिशत की दर से तथा सन् 1971-73 में 7.7 प्रतिशत की दर से हुई। उपभोक्ता टिकाऊ माल ने सन् 1966-68 में अपनी प्रगति को बनाकर रखा जबकि अन्य समूह बीच में लड़खड़ा गये लेकिन बाद के वर्षों में कम होते चले गये (4.3 प्रतिशत वार्षिक) अब गैर-स्थायी समूह ने 4.1 प्रतिशत तक की पूर्ति दिखायी।

उपभोक्ता कम टिकाऊ समूह में, अधिक भारिक महत्व वाले तथा जो जनसाधारण के लिए महत्वपूर्ण हो सकते हैं, उन उद्योगों की विकास दर काफी कम थी। सूत बुनाई, जिसका भारिक महत्व 9.39 था, पूरे वर्षों में कम रही और अंतिम समय में इसने −0.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास दर दिखायी। 3.58 भारिक महत्व वाले चीनी उत्पादन में छठे दशक के सर्वोत्तम वर्ष में भी उतार-चढ़ाव रहा तथा सन् 1961-68 में −1.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की नकारात्मक दर दिखायी। लेकिन, बाद के वर्षों (सन् 1969-73) में इसकी संभावनाओं में सुधार हुआ तथा उद्योग का विकास 11.0 प्रतिशत वार्षिक की दर से हुआ। लेकिन सन् 1961-73 के पूरे समय में इसकी विकास दर केवल 2.8 प्रतिशत वार्षिक रही। वनस्पति, जो एक और जनसाधारण के उपभोग की वस्तु है, का भी कोई अच्छा परिणाम नहीं रहा। यद्यपि इसका कार्य इतना गलत नहीं था, इसकी समयावधि की विकास दर 2.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष से कुछ कम ही थी। 5.12 भारिक महत्ववाली चाय का विकास छठे दशक में मामूली ही था। सातवें दशक में कुछ सुधार हुआ जब सन् 1969-73 में 6.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास दर रही। सन् 1961-73 के पूरे समय के लिए विकास दर 3.0 प्रतिशत थी। आटा चक्की पिसाई का विस्तार अपेक्षाकृत तेजी से हुआ और चीनी की भांति सन् 1969-73 में इसने 9.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की ऊंची विकास दर बनायी। सन् 1966-68 के अंतराल के वर्षों में, नकारात्मक विकास दर के बावजूद, इस उद्योग ने सन् 1961-73 के वर्षों में 5.5 प्रतिशत की विकास दर प्राप्त की। कागज और कागज उत्पादों की विकास दर भी काफी ऊंची रही, 8 प्रतिशत (सन् 1961-65), 7.9 प्रतिशत (सन् 1966-68) तथा 5.2 प्रतिशत (सन् 1969-73) साबुन तथा अन्य धुलाई सफाई संघटकों की शुरुआत धीमी गति से हुई (सन् 1961-65 में 3.9 प्रतिशत) लेकिन बाद में इसने ज़ोर पकड़ा (सन् 1966-68 में 8.2 प्रतिशत) और सन् 1961-73 के लिए 6.7 प्रतिशत वार्षिक के औसत पर समाप्त हुई।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रभावशाली भारिक महत्व वाले उद्योगों की

विकास दर औसत से भी कम रही थी। बिजली एक अपवाद था जो 5.37 प्रतिशत के भारिक महत्व से होकर भी, सन् 1961-73 के वर्षों में 10.9 प्रतिशत की दर से विकसित हुआ। दूसरी ओर, अनेक नये उद्योगों ने महत्वपूर्ण विकास दर दिखायी, यद्यपि वैयक्तिक तौर पर उनका अधिक भारिक महत्व नहीं था।

62.43 प्रतिशत के कुल भार के उद्योगों की दर काफी कम थी और उनमें से, 16.86 भारिक महत्व के तीन उद्योगों को शुद्ध हानि उठानी पड़ी। ये अधिकांशतः पारंपरिक उद्योग थे दूसरी ओर, नये विकासमान उद्योगों का विस्तार पूरे औद्योगिक क्षेत्र की अपेक्षा अधिक तेजी से हुआ। मशीनरी संघटकों में वृद्धि 13.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष की दर से हुई, पैट्रोलियम शोधन 9.7 प्रतिशत से, धातु उत्पादन 8.6 प्रतिशत से, टायर-ट्यूब 9.1 प्रतिशत तथा कागज एवं कागज उत्पाद में 6.9 प्रतिशत से हुई। कुछ अन्य उद्योग जो इस अवधि में नये तो नहीं समझे गये जैसे सीमेंट, लोहा इस्पात, आटा चक्की, दवाइयां, कैमिकल्स, आदि, लेकिन विकसित ये कमोवेश उसी गति से हुए जिस गति से पूरा औद्योगिक उत्पादन।

आधारभूत परिवर्तन : 1960-70

पुराने उद्योगों में सापेक्ष ठहराव और नये उद्योगों के तेज़ी से होते विकास ने भारतीय उद्योग में संरचनात्मक परिवर्तन किये। सन् 1960 को आधार वर्ष मानते हुए औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक तथा सन् 1970 को आधार वर्ष मानते हुए नये सूचकांक का भारिक महत्व इससे स्पष्ट है।

दो भारिक महत्व के स्वरूपों के लिए उपर्युक्त दो उद्योग समूहों में सभी प्रकार का ताल-मेल स्थापित करना सम्भव नहीं था। फिर भी, एक से दूसरे में किया गया परिवर्तन काफी स्पष्ट था। भारी ऑर्गेनिक कैमिकल, उर्वरक, अल्मुनियम निर्माण, शक्ति उत्पादन उपकरण, भारी इनऑर्गेनिक कैमिकल, सिन्थेटिक फाइबर, कागज और कागज उत्पाद, फाइन और फार्मास्युटिकल कैमिकल तथा विद्युत उपकरणों जैसे उद्योगों ने अपने भारिक महत्व में अच्छा खासा सुधार किया है। बिजली में भी काफी सुधार हुआ है जिसका भारिक महत्व 5.37 से 9.23 तक बढ़ गया है। अन्य उद्योगों जैसे लोहा और इस्पात, मोटर वाहन, पैट्रोलियम शोधन, बैट्रियां, मोटरसाइकिल तथा बाइसिकल आदि ने भी अपने स्थिति में सुधार किया यद्यपि यह सुधार अधिक महत्वपूर्ण नहीं था। दूसरी ओर, कुछ पारंपरिक उद्योग जिनमें गिरावट आयी है, सूत कताई (11.79 से 6.2438), जूट (3.97 से 2.7112 तक), चाय (5.12 से 2.5718 तक), सूत बुनाई (9.39 से 5.4095), चीनी (3.58 से 2.79 तक), वनस्पति (1.09 से 0.676 तक) तथा रेल सड़क उपकरण (3.50 से 2.99 तक) है। जहां सीमेंट और जूतों (रबड़) ने

अपनी यथास्थिति बनाकर रखी, डाई स्टफ्स और डाई, विद्युत केबिल्स तथा इंसुलेटेड तारों, नमक शोधक; विद्युत मोटरों और भट्ठियों तथा पीतल निर्माणों ने अपनी स्थिति में थोड़ा सुधार किया और खदान तथा खनन टायर और ट्यूब, पेंट, वार्निश एवं रोगन, सांचेदार मिट्टी उत्पाद, ऊनी कपड़े, साबुन तथा अन्य धुलाई संघटक, दियासलाई, व्यापारिक कार्यालय तथा घरेलू मशीनें, कांच तथा कांच उत्पाद, जिनका थोड़ा भी भारिक महत्व था, अपनी स्थिति समाप्त कर बैठे, कुछ मामलों में तो काफी सीमा तक।

सातवां दशक–निर्देशन का अभाव

सन् 1960 से औद्योगिक दृश्य के परिप्रेक्ष्य में सर्वेक्षण करने के बाद, अब हम सन् 1970 के बाद की घटनाओं का बारीकी से अवलोकन करेंगे। सन् 1970 के आधार वर्ष से बने औद्योगिक उत्पादन के नये सूचकांक ने सन् 1960 आधार वर्ष पर बनी पुरानी शृंखला का स्थान ले लिया है। जैसा कि पहले भी देखा, वैयक्तिक उद्योगों और समूहों के सापेक्ष भारिक महत्व में, औद्योगिक ढांचे में वर्षों से आये परिवर्तनों के समान ही परिवर्तन आये हैं। इस प्रकार नये सूचकांक में उभरते औद्योगिक चित्र की झांकी अधिक स्पष्ट रूप से दिखाये जाने की आशा है। इसका विवरण तालिका 13.3 में देखा जा सकता है।

तालिका 13.3
औद्योगिक उत्पादन का विकास 1961-1979

क्र. सं.	उद्योग (1)	1961-73 (2)	1969-73 (3)	1974-79 (4)
1.	**मूल भूत उद्योग**	7.3	5.2	7.9
	1. खदान और खनन	3.9	2.6	5.6
	2. कोयला	–	–	–
	3. उर्वरकों का निर्माण	19.7	19.1	17.2
	4. भारी इनआर्गेनिक कैमिकल	11.1	7.9	5.0
	5. भारी ऑर्गेनिक कैमिकल	–	–	11.7
	6. सीमेंट (हाइड्रोलिक)	5.1	4.7	4.9
	7. लोहा और इस्पात आधारभूत उद्योग	5.4	1.4	7.6
	8. अलौह आधारभूत उद्योग	13.6[1]	5.5[1]	6.4
	9. विद्युत	10.9	7.6	8.9
2.	**पूंजीगत माल उद्योग**	8.0	6.4	4.6
	1. विशेषीकृत उपकरण	–	–	11.0

तालिका 13.3 (शेष)

(1)	(2)	(3)	(4)
2. मशीन औजार	13.8	9.6	1.2
3. भारी विद्युत उपकरण	11.3[2]	9.5[2]	11.2
4. रेल सड़क उपकरण	−10.0	−7.7	2.7
5. भारी वाहन	4.5[3]	3.5[3]	3.9
6. कृषि मशीनरी (ट्रैक्टर)	-	-	15.6
3. मध्यवर्ती माल उद्योग	4.4	3.4	4.6
1. सूत कताई	2.1	1.0	2.8
2. जूटन वस्त्र	−0.7	−1.2	0.8
3. टायर-ट्यूब	9.1	6.5	3.9
4. मानव-निर्मित फाइबर	6.7	0.1	17.9
5. डाई स्टफ	−	−	7.2
6. पेट्रोलियम तथा कोयले का उत्पाद	9.7[4]	5.1[4]	6.2
7. चटखनी, ढिबरी, कीलें और पेंच।	1.4[5]	3.2[5]	−
4. उपभोक्ता माल उद्योग	3.8	4.2	4.2
(क) उपभोक्ता टिकाऊ माल	7.7	4.3	3.9
1. दूर संचार	−	−	0.5
2. मोटर साइक्लिें तथा बाइसाइकिलें	9.5	8.2	7.8
(ख) उपभोक्ता गैर-टिकाऊ माल	2.8	4.1	4.3
3. चीनी	2.8[6]	11.1[6]	−
4. चाय	3.0	6.8	−
5. वनस्पति	2.5	−0.3	−
6. तम्बाकू निर्माण	4.1[7]	0.7[7]	3.6
7. सूत बुनाई (मिल क्षेत्र)	0.5	0.5	1.6
8. कागज तथा कागज उत्पादन	6.9	5.2	1.0
9. रबड़ जूते	−	−	2.5
10. दवाईयां और फर्मास्युटिकल	5.1[8]	4.4	3.4
सामान्य (मोटा) सूचकांक	5.5	4.5	5.5

1 केवल अल्युमीनियम निर्माण।

2 विद्युत कैबिल्स और वायर।

3 मोटर वाहन।

4 केवल पैट्रोलियम शोधन उत्पाद।

5 फीटिंग, फिक्सयर और फास्टनर

6 परिष्कृत चीनी।

7 केवल सिगरेट।

8 केवल फाईन और फार्मेस्युटिकल कैमिकल।

सन् 1970 आधार वर्ष से औद्योगिक उत्पादन का सामान्य सूचकांक सन् 1979 में 149.7 तक आ गया। इस प्रकार सातवें दशक के 9 वर्षों में औद्योगिक उत्पादन 50 प्रतिशत के लगभग बढ़ गया। यह 4.5 प्रतिशत की वार्षिक मिश्रित दर देता है। यदि हम सन् 1974-79 को भी इसमें जोड़ लें, मोटे तौर पर पांचवीं पंचवर्षीय योजना के अनुरूप चलते हुए, सूचकांक सन् 1973 के 112 से सन् 1978 में 147.8 तक आ गया जिसका अर्थ था लगभग 5.7 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास दर। इस प्रकार, तीसरी पंचवर्षीय योजना की समाप्ति तक औद्योगिक उत्पादन की विकास दर की हुई कमी में धीरे-धीरे पूर्ति होती गयी। सन् 1974-78 के दौरान 5.7 प्रतिशत की वार्षिक विकास दर, वर्तमान दशक के 9 वर्षों की 4.6 प्रतिशत की विकास दर की अपेक्षा अधिक थी। चौथी योजना की अवधि में हुई 4.5 प्रतिशत की वार्षिक विकास दर में कुछ सुधार ही है। इसकी तुलना सन् 1961-73 के पूरे समय की 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास दर से की जा सकती है। लेकिन यह अभी भी, योजना लक्ष्य तथा छठे दशक में प्राप्त 9 प्रतिशत की विकास दर से काफी कम है। परिप्रेक्ष्य में, तीसरी योजना के पांच वर्ष औद्योगिक विकास के शीर्ष स्थान बने हुए हैं।

जहां तक छोटे क्षेत्रों का प्रश्न है, कार्य परिणाम एक समान नहीं रहे हैं। उदाहरण के लिए, प्राथमिक उद्योगों तथा माध्यक माल उद्योगों ने सातवें दशक के दौरान चौथी योजना में उनके कार्य परिणामों की तुलना में उनकी विकास दरों में सुधार हुआ। वास्तव में, तीसरी योजना की अवधि की अपेक्षा विकास दरें काफी अधिक थीं। इस पर भी पूंजीगत माल तथा उपभोक्ता मालक्षेत्रों के विषय में और अधिक कमी आ गयी थी। उपभोक्ता माल क्षेत्र के विकास की वार्षिक दर सन् 1969-73 की 4.2 प्रतिशत की अपेक्षा सन् 1970-79 में केवल 3.4 प्रतिशत रह गयी। यह सन् 1961-73 की 3.8 प्रतिशत की विकास दर से भी कम थी। गैर टिकाऊ उपभोक्ता माल उद्योगों की विकास दर में गिरावट और अधिक कष्टदायक थी। इस क्षेत्र की विकास दर सन् 1969-73 की 4.1 प्रतिशत की अपेक्षा सातवें दशक में केवल 3.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष ही रही। सूती वस्त्र, वनस्पति, चीनी, चाय तथा कागज की गति भी कम ही रही। टिकाऊ माल उद्योगों ने चौथी योजना में अपनी विकास दर में कुछ सुधार किया यद्यपि यह छठे दशक में हुई विकास दर की अपेक्षा कम ही थी।

कुछ अग्रणी क्षेत्र

उन उद्योगों में, जिनका विकास काफी तेज गति से हुआ, उनमें चर्चा करने योग्य उर्वरक, कृषि ट्रैक्टर, भारी ऑर्गेनिक कैमिकल, भारी विद्युतीय उपकरण, मोटर

साइकिल तथा बाइसिकिल, मनुष्य निर्मित रेशे तथा विद्युत हैं। उर्वरक उद्योग का, जिसने छठे दशक में स्वयं को एक प्रमुख उद्योग बना लिया था, विस्तार तेजी से होता रहा और उसने सन् 1970-79 के दौरान 14.1 प्रतिशत प्रतिवर्ष की विकास दर बनायी। फिर भी इस उद्योग को दिया गया भारिक महत्व यद्यपि पहले की अपेक्षा नये सूचकांक में ऊंचा था, अभी अच्छा खासा नहीं था। कृषि ट्रैक्टरों का उत्पादन 15 प्रतिशत की ऊंची दर पर होता गया, लेकिन इस उद्योग का भारिक महत्व भी उतना महत्वपूर्ण नहीं था। यह आर्गेनिक कैमिकल के बारे में भी उतना ही सत्य है, जिसका विकास 6.7 प्रतिशत वार्षिक की दर से हुआ। भारी विद्युतीय उपकरण का विकास 7.9 प्रतिशत की दर से हुआ, लेकिन इस उद्योग की स्थिति पूरे औद्योगिक ढांचे में सापेक्षतया नीची ही है। साइकिलों और मोटर-साइकिलों का विकास 8.8 प्रतिशत वार्षिक की दर से काफी तेजी से हुआ लेकिन उनका भारिक महत्व भी कम ही था। विद्युत ही एक अपवाद था, जिसका भारिक महत्व भी काफी था, और जिसका विकास भी 7.6 प्रतिशत वार्षिक की दर से तेजी से हुआ। अन्य प्रमुख उद्योगों में, जिनकी विकास दर पूरे औद्योगिक क्षेत्र के औसत से अधिक ही थी, मशीनी औज़ारों, विशेषीकृत उपकरणों तथा दवाइयों और फार्मास्युटिकल का ज़िक्र किया जा सकता है। लोहा और इस्पात उद्योग की, जिसका भार 7 प्रतिशत से कुछ अधिक ही था, विकास दर 4.2 प्रतिशत वार्षिक से अधिक ही थी।

तुलना की दृष्टि से, पांचवीं योजना (सन् 1974-79) को संतोषजनक औद्योगिक विकास का समय माना जा सकता है। 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष की प्राप्त विकास दर चौथी योजना की विकास दर की तुलना में एक प्रतिशत अधिक थी और सन् 1961-73 की विकास दर की तुलना में अनुकूल ही थी, सिवाय पूंजीगत माल क्षेत्र के। लोहा और इस्पात, बिजली, खदान और खनन तथा मशीनरी की अच्छी किस्मों, में अच्छी खासी वसूली हुई।

सातवें दशक में हुए औद्योगिक उत्पादन की पूरी विकास दर के सापेक्षतया कम होने के कारणों को, कुछ अन्य अच्छे उद्योगों में हुए धीमे विकास में खोजना होगा। उदाहरण के लिए, खदान और खनन की 9.6 प्रतिशत के भार सहित, विकास दर 4.5 प्रतिशत वार्षिक विकास दर थी, जो पूरे औद्योगिक क्षेत्र के विकास दर की अपेक्षा कुछ कम ही थी। इसी प्रकार, 6 प्रतिशत से कुछ ही अधिक के भारिक महत्व वाले कोयले की विकास दर केवल 3.7 प्रतिशत वार्षिक थी। एक और महत्वपूर्ण उद्योग, सूत कताई, केवल 2.1 प्रतिशत वार्षिक की विकास दर से दबा ही रहा। जूट वस्त्र भी एक प्रतिशत की मामूली दर से विकसित हुआ। उपभोक्ता माल उद्योगों में, चीनी और चाय, जिनका परस्पर भारिक महत्व 5 प्रतिशत से अधिक ही था, बहुत ही कम दर पर विकसित होते रहे।

सूत बुनाई में जिनका भारिक महत्व 5 प्रतिशत से कुछ अधिक पर ही स्थिर रहा, गिरावट आयी। कागज और कागज उत्पाद उद्योग की विकास दर बहुत कम थी।

मंद गति से विकास

औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक में प्रदर्शित भारिक महत्व के बावजूद, कुछ ऐसे उद्योग भी हैं, जो संवेदनशील हैं क्योंकि वे या तो अन्य उद्योगों के मुख्य निवेश हैं अथवा अधिकांश व्यक्तियों के दृष्टिकोण से बहुत अधिक महत्वपूर्ण हैं। ऐसा ही एक उद्योग सीमेंट है जिसका विकास संतोषजनक गति से हुआ समझा जा सकता है। इस उद्योग की विकास दर 3.44 प्रतिशत वार्षिक थी। सीमेंट की चली आ रही कमी को देखते हुए तथा प्रत्येक योजना में दर्शायी गयी इसकी मांग को देखते हुए, यह विकास दर पर्याप्त नहीं समझी जा सकती। रेलवे उपकरण, जो अतीत में दबे ही रहे, की स्थिति हाल ही के वर्षो में कोई विशेष अच्छी नहीं थी। वास्तव में इस उद्योग के उत्पादन में कुछ गिरावट ही थी। भारी वाहन उद्योग का विकास भी धीमी गति से ही हुआ। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि रेलवे उपकरण तथा भारी वाहन दोनों ही का, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक में महत्वपूर्ण भारिक महत्व था। पैट्रोलियम उत्पादों की जिनकी विकास दर छठे दशक में काफी महत्वपूर्ण थी, सातवें दशक में केवल 4.9 प्रतिशत वार्षिक की बहुत ही कम विकास दर रही। वनस्पति, चीनी और चाय, जो जनसाधारण के उपयोग की महत्वपूर्ण वस्तुएं हैं, की स्थिति भी खराब ही रही।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि हाल ही के वर्षों में औद्योगिक क्षेत्र के विकास की स्थिति एक प्रकार से पैबंद जैसी ही रही है। औद्योगिक उत्पादन का विकास सन् 1973 में 1.6 प्रतिशत की दर से हुआ। सन् 1974 में विकास दर 2.1 प्रतिशत से हल्का सा सुधार हुआ। सन् 1975 में फिर से थोड़ी बहुत 4.4 प्रतिशत की वृद्धि हुई। इसके बाद सन् 1976 में अचानक अत्यधिक वृद्धि की लहर आयी जब औद्योगिक प्रगति में 10.1 प्रतिशत से वृद्धि हुई। आगामी दो वर्षों में विकास दर 5.3 प्रतिशत तथा 6.9 प्रतिशत पर ही बनाकर रखी गयी। लेकिन सन् 1979 में विकास दर घटकर 1.3 प्रतिशत रह गयी। इस धक्के के लिए अत्यधिक शक्ति और परिवहन की कमी, संस्थापित क्षमता का कम उपयोग तथा विशाल स्तर पर औद्योगिक अंसतोष उत्तरदायी थे। जहां उर्वरकों ने अपनी स्थिति बनाकर रखी और यहां तक कि इसमें सुधार भी किया, सीमेंट, लोहा और इस्पात, अलौह, धातु, बिजली और कोयले की विकास दर सन्तोषजनक नहीं रही। एक उत्साहवर्धक विकास है मशीनी औजारों, भारी वाहनों, ट्रैक्टरों तथा बिजली

उपकरणों के उत्पादन में अत्यधिक सुधार। उपभोक्ता माल उद्योगों में भी विकास दर में काफी सुधार हुआ विशेषकर स्थायी माल में; लेकिन चीनी, चाय, वनस्पति तथा सूत बुनाई में या तो गिरावट आयी अथवा काफी उतार-चढ़ाव हुए।

कृषि-आधारित उद्योगों की, जिनका भारिक महत्व, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक के एक-तिहाई से भी अधिक था, विकास दर सन् 1973 और सन् 1974 में नकारात्मक थी। सन् 1975 में यह बढ़कर 1.5 प्रतिशत हो गयी। अगले वर्ष इसमें और सुधार हुआ और यह 5.8 प्रतिशत हो गयी लेकिन सन् 1977 में घटकर 2.3 प्रतिशत रह गयी। सन् 1978 में अचानक वृद्धि की एक लहर आयी जब इन उद्योगों का विस्तार 8.4 प्रतिशत तक हुआ। यह 1978-79 की भरपूर फसल के कारण होना चाहिए था। लेकिन सन् 1979 में एक बार फिर गिरावट आयी, जो उस वर्ष में हुए व्यापक सूखे के कारण थी। इस क्षेत्र की विकास दर सन् 1970-79 में 2.2 प्रतिशत प्रतिवर्ष तक सर्वाधिक कम थी। यह धातु आधारित उद्योगों की 5.2 प्रतिशत तथा कैमिकल आधारित उद्योगों की 6.9 प्रतिशत की तुलना में बहुत कम थी। कृषि आधारित उद्योगों का भारिक महत्व भी लगभग उतना है जितना उपर्युक्त के बाद की दो को मिलाकर होता है।

कृषि क्षेत्र का कार्य परिणाम तथा कृषि आधारित उद्योगों के विकास के बीच संबंध जोड़ना सरल है। यह स्पष्ट है कि यद्यपि औद्योगिक ढांचे में गत वर्षों में परिवर्तन आया है, इसकी निर्भरता कृषि तथा तत्सम्बन्धी क्षेत्रों पर अभी भी अच्छी खासी है। यद्यपि कृषि आधारित उद्योगों का भारिक महत्व सन् 1960 ई. के सूचकांक में, 44 प्रतिशत से घटकर नये सूचकांक में लगभग 34 प्रतिशत रह गयी है, इसे अभी भी एक महत्वपूर्ण भाग माना जाता है तथा औद्योगिक क्षेत्र की पूरी विकास दर में इनकी विकास दर का अत्यधिक प्रभाव है।

घटता निवेश

सातवें दशक में आये औद्योगिक सुस्ती के तात्कालिक कारणों के अतिरिक्त, औद्योगिक विकास की समस्या को पूरे परिप्रेक्ष्य और समग्रता में देखा जाना चाहिए। दूसरी और तीसरी योजना की अवधि में किये गये प्रारंभिक उद्योगों में अत्यधिक निवेश ने, विशेषकर सार्वजनिक क्षेत्र में, औद्योगिक विकास को गति प्रदान की। तथापि, कुल निवेश और सार्वजनिक निवेश में छठे दशक के दौरान से ढिलाई आ गयी। स्थानाभाव के कारण निवेश के अनुमानों को यहां दिया नहीं गया है। संबंधित योजना की पुस्तकों तथा राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी को इस संबंध में देखा जा सकता है। हम पहले ही देख चुके हैं कि ये पूंजीगत माल तथा आधारभूत माल उद्योग थे जिन्होंने छठे दशक के प्रारंभ में औद्योगिक

विस्तार को गति प्रदान की। तीन वार्षिक योजनाओं तथा चौथी योजना के दौरान इस स्थिति में अत्यधिक परिवर्तन आ गया। अब ये दोनों क्षेत्र अर्थव्यवस्था में अग्रणी क्षेत्र बिल्कुल नहीं थे। परिणामस्वरूप, औद्योगिक विकास में काफी मन्दी आ गयी।

स्थिर कीमतों पर कुल निवेश तथा सार्वजनिक उपक्रम निवेश का सबसे बड़ा कदम दूसरी योजना के दौरान ही क्रमशः 60 प्रतिशत तथा 260 प्रतिशत से भी अधिक उठाया गया। कुल तथा वास्तविक निवेश की वृद्धि में तीसरी योजना में तथा बाद की तीन वार्षिक योजनाओं में काफी गिरावट आयी। बाद की दो योजना अवधि में कुल निवेश में प्रतिशत वृद्धि कमोवेश उसी स्तर पर स्थिर रही जिस पर वह तीन वार्षिक योजनाओं में थी। सार्वजनिक उपक्रम में वास्तविक निवेश की विकास दर में गिरावट और भी अधिक गहरी थी। इसका आंशिक कारण दूसरी योजना में हुई अत्यधिक अचानक वृद्धि के कारण हो सकता है। जो बहुत ही सीमित था। इस पर भी, सच्चाई यह है कि वास्तविक रूप में सार्वजनिक उपक्रम निवेश के पूरे स्तर को सन् 1966-69 के दौरान बनाकर नहीं रखा जा सका। चौथी योजना के दौरान केवल मामूली-सी वसूली हुई थी। यह प्रमाण इस बात का समर्थन करता है कि सन् 1965-75 के दशक में देश में वास्तविक रूप से निवेश का अकाल हो गया था। पांचवीं योजना में सार्वजनिक उपक्रम निवेश की महत्वपूर्ण पुनर्स्थापना हुई प्रतीत होती है।

निवेश में एक योजना से दूसरी योजना तक, सापेक्ष वृद्धि में महत्वपूर्ण क्षेत्रीय अंतर थे। यह आशा के अनुसार ही था क्योंकि क्षेत्रों द्वारा निवेश निर्धारण, योजना नीति के क्रियान्वयन का प्रमुख तरीका था। दूसरी और तीसरी योजनाएं स्पष्टतः उद्योग ऊर्जा परिवहन योजनाओं के रूप में उभरीं। उद्योग (निर्माण) में कुल निवेश प्रथम योजना के दौरान दुगुना हो गया था लेकिन वास्तविक वृद्धि सार्वजनिक उपक्रम निवेश में थी, विशेषकर बड़े और मध्यम उद्योगों में। ऊर्जा और परिवहन निवेश में वृद्धि भी कुल तथा सार्वजनिक उपक्रम में अच्छी खासी थी। तीसरी योजना में, निर्माण में, निवेश में, विकास दर में, काफी गिरावट आयी, ऊर्जा में इसमें बढ़ोतरी हुई। इस प्रकार यह देखा जा सकता है कि जहां दूसरी और तीसरी योजना दोनों में ही, परिवहन और ऊर्जा द्वारा समर्थित औद्योगिक विकास की नीति को प्रतिबिंबित किया, तीसरी योजना ने अपना झुकाव ऊर्जा विकास की ओर ही रखा। ऐसा प्रतीत हुआ कि आगामी दशक में अर्थव्यवस्था के अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा इन क्षेत्रों को अधिक हानि हुई। विशेष रूप से, चौथी योजना में इन क्षेत्रों में सार्वजनिक उपक्रम निवेश में सम्पूर्ण दृष्टि से कमी आयी। लेकिन पांचवीं योजना में इन क्षेत्रों में वास्तविक योजना में अच्छी खासी वृद्धि करने से फिर से इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया गया।

दूसरी पंचवर्षीय योजना में अपनायी गयी विकास नीति केवल उद्योग-ऊर्जा-परिवहन निर्देशित ही नहीं थी। उद्योग के अन्तर्गत यह आधारभूत और पूंजीगत माल के पक्ष में निर्देशित थी। वैयक्तिक उद्योगों अथवा समूहों में, एक योजना से दूसरी योजना तक, विनियोग का विवरण उपलब्ध नहीं है। फिर भी, यह स्पष्ट है कि दूसरी योजना में जोर धातुकर्मी उद्योगों, मुख्यतः इस्पात पर था। दूसरा और मूल उद्योग जिसे दूसरी और तीसरी योजना में प्रोत्साहन मिला वह थी भारी तथा हल्की अभियांत्रिकी। पैट्रोलियम तेलशोधन तथा उर्वरक तीसरी योजना के बाद ही सार्वजनिक क्षेत्र में ऊंचे ढंग से शुरू हुई है।

अध्याय 14

छठी पंचवर्षीय योजना–एक नया मोड़

छठी पंचवर्षीय योजना तीन दशक पूर्व शुरू की गयी विकास की प्रक्रिया में एक नया मोड़ सिद्ध हुई। मौलिक उद्देश्यों तथा प्राथमिकताओं में यद्यपि कोई बड़े परिवर्तन नहीं हुए, तथापि वर्षों से कार्य अनुभव के दौरान बनाये गये नियामक उपकरणों तथा साधनों की उत्तरोत्तर गहरी और तीखी आलोचना होने लगी। सरकारी विचारधारा भी यह बनने लगी कि औद्योगिक लाइसेंस, कोटा आदि जैसे विभिन्न प्रकार के नियंत्रणों की अब कोई तर्कसंगत आवश्यकता नहीं रही थी। लक्ष्य निर्धारित करते समय की परिस्थितियों में अब काफी परिवर्तन आ गया था और अब नई पहल की आवश्यकता थी। अर्थव्यवस्था में अब नयी स्फूर्ति, परिपक्वता और परिष्करण आ गया था। नीतियों में अब अधिक तालमेल की आवश्यकता थी। सीधे और प्रत्यक्ष नियंत्रण अब विकास की निरंतरता, सहजता और प्राथमिकता में अवरोधक बन रहे थे। तर्कसंगत विपणक निर्णयों, जो सीधे सामाजिक आर्थिक लक्ष्यों से जुड़े हों, के लिए उचित दिशा निर्देश देने के लिए अप्रत्यक्ष राजस्व, वित्तीय साख तथा सीमा शुल्क नियम अधिक प्रभावशाली होंगे।

सन् 1950 से विकास तो काफी अच्छा हुआ था लेकिन गुणवत्ता, लागत मूल्यों में प्रतिस्पर्धा, अथवा आधुनिकीकरण की आवश्यकताओं पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया था। इसलिए ऊंची लागत परंतु कम गुणवत्ता का उत्पादन ढांचा उभरकर सामने आ गया था। बाजार का आधार अभी संकुचित था जिस कारण अर्थव्यवस्था का पूरा उपयोग, गुणवत्ता में सुधार तथा उत्पादन में विविधता सीमित होकर रह गयी थी। सन् 1950-80 का समय औद्योगिकीकरण का प्रथम चरण था जो सीमित घरेलू बाज़ार तथा आयात प्रतिस्थापन की संभावनाओं की समाप्ति

के साथ ही खत्म हो गया था। औद्योगिकीकरण के दूसरे चरण में, ऐसा सोचा गया, कि विकास का स्रोत अप्रयुक्त विशाल घरेलू बाज़ार तथा निर्यात बाजार में मिल सकता है। यह तभी संभव हो सकता है जब हमारे उद्योग विश्व बाजार की दृष्टि से प्रतिस्पर्धात्मक तथा कुशल हों। इसलिए उद्योग को लागत मूल्य में प्रभावशाली, कुशल तथा आधुनिक बनाने की दृष्टि से नियंत्रक साधनों और तरीकों को समाप्त कर उदारीकरण की प्रक्रिया शुरू की गयी क्योंकि नियंत्रक साधन उद्योग एवं व्यापार को जकड़े हुए थे।

यह प्रक्रिया सातवें दशक के अंत में शुरू हुई तथा आठवें दशक के प्रारंभ में इसमें गति आयी। जुलाई 1980 में जारी किये गये औद्योगिक नीति के घोषणापत्र ने उपलब्ध क्षमताओं के अधिकतम उपयोग द्वारा कार्यकुशलता और उत्पादनशीलता के सुधार की आवश्यकता पर ज़ोर देते हुए उदारीकरण का वातावरण तैयार किया। इसी उद्देश्य से, घोषणापत्र में टेक्नोलौजिकल सुधारों तथा श्रम उत्पादनशीलता जनित श्रेष्ठतम क्षमताओं को मान्यता देने की बात कही गयी। इसमें उच्चतम अर्थव्यवस्था को प्राप्त करने के लिए क्षमता स्थापित करने तथा उत्कृष्ट टेक्नोलौजी लाने को प्रोत्साहन दिया।

छठी योजना की अवधि में, अत्यधिक महत्वपूर्ण तथा दूरगामी परिणाम संबंधी नीतियां लागू की गयीं। इनमें आयात, औद्योगिक लाइसेंस, प्रतिबंधित एकाधिकार व्यापार, विदेशी मुद्रा प्रतिबन्धन (एम.आर.टी.पी. तथा फेरा) टैक्नोलौजी आयात तथा प्रयोग, कंप्यूटर और इलैक्ट्रोनिक विकास, दूरसंचार उपकरण निर्माण क्षेत्र में निजी उद्यमियों का प्रवेश औद्योगिक उत्पादों का मूल्यांकन तथा वितरण आदि-आदि से संबंधित सभी नीतियां सम्मिलित थीं।

आठवें दशक के विकासात्मक परिदृश्य की यह पृष्ठभूमि थी। यद्यपि विभिन्न नीति घोषणाओं के परिणाम काफी समय बाद दिखायी देंगे, तथापि छठी योजना तथा उसके बाद के समय के उचित आकलन के लिए इनको ध्यान में रखना आवश्यक है।

औद्योगिक परिणाम : 1980-85

छठी योजना में औद्योगिक उत्पादन में 8 प्रतिशत के वार्षिक विकास का लक्ष्य रखा गया। इस उत्पादन के लक्ष्य को उत्पादन के सूचकांक से मापा जायेगा। (सूचकांक में लघुस्तरीय क्षेत्र के उत्पादन को सम्मिलित नहीं किया जाता लेकिन, खनन उत्खनन तथा विद्युत उत्पादन को लिया जाता है।) लक्ष्य को बाद में संशोधित कर 7 प्रतिशत कर दिया गया। उपलब्धियों की समीक्षा करते हुए, सातवीं योजना में कहा गया है : "प्राप्त विकास दर मात्र 5.5 प्रतिशत रही जो कि गत तीन

दशकों में प्राप्त विकास दर 6.0 प्रतिशत से कुछ कम रह गयी थी।" साथ-साथ यह भी कहा जा सकता है कि छठी योजना की विकास दर पांचवीं योजना की विकास दर 5.9 प्रतिशत से भी कम थी।

केंद्रीय सांख्यिकी संगठन (सेन्ट्रल स्टेटिस्टिकल आर्गेनाइज़ेशन) ने जून 1985 में सूचकांक की संशोधित शृंखला बनायी जिसमें से कुछ वस्तुओं को छोड़ दिया गया। इनके नियमित रूप से आंकड़े उपलब्ध नहीं थे। अतः इनकी भार-महत्ता को शेष वस्तुओं में जोड़ दिया गया। लेकिन पूर्ववर्ती वर्षों की संशोधित शृंखला उपलब्ध नहीं है। जून 1985 से पहले की शृंखला के आधार पर चलते हुए तीन क्षेत्रों यथा खनन और खदान, बिजली और निर्माण में हुई विकास दरें निम्न प्रकार थीं–

तालिका 14.1
विकास दरें (प्रतिशत) : 1980-85

वर्ष	*खनन एवं खदान*	*बिजली*	*निर्माण*	*सामान्य सूचकांक*
(भारिक-महत्व)	(9.69)	(9.23)	(81.08)	(100.0)
1980-81	5.0	5.8	3.7	4.0
1981-82	15.7	10.2	7.5	8.6
1982-83	11.4	6.8	2.5	3.9
1983-84	11.0	6.6	4.5	5.4
1984-85	8.0	12.0	4.4	5.8
छठी योजना	9.9	8.2	5.0	5.5
पांचवीं योजना	6.1	9.5	5.5	5.9

उपरोक्त तालिका से दो तथ्य सामने आते हैं। पहला कि विकास दर, साल-दर-साल काफी घटती बढ़ती रही, और दूसरा कि खदान-खनन तथा बिजली की विकास दर निर्माण क्षेत्र की अपेक्षा काफी ऊंची थी। जबकि खनन खदान की विकास दर पांचवीं योजना की अपेक्षा अन्य वर्षों में ऊंची थी, बिजली और निर्माण क्षेत्रों की विकास दरें अन्य वर्षों में पांचवीं योजना से अपेक्षाकृत नीची थीं।

आधारभूत संरचनात्मक उद्योग जैसे कोयला, इस्पात, सीमेंट, पेट्रोलियम तथा ऊर्जा का विकास उसी गति से होता रहा जैसा कि पांचवीं योजना में था।*

प्रयोग आधारित वर्गीकरण के अनुसार विकास कार्य का विश्लेषण सभी

* अलग- अलग उद्योगों के विवरण के लिए आंकड़े सम्बन्धी संलग्नक देखें इनकी चर्चा पूर्ववर्ती अध्यायों में भी की गयी है।

प्रमुख समूहों (सिवाय मूल वस्तु उद्योगों) के विकास में गिरावट दिखाता है। यह तालिका 14.2 से स्पष्ट है।

तालिका 14.2
उद्योगों की औसतन वार्षिक विकास दर (%) प्रयोग आधारित वर्गीकरण

	भार	*पांचवीं योजना (1974-79)*	*छठी योजना (1980-85)*
1. मौलिक वस्तुएं	32.28	8.4	8.5
2. पूंजीगत वस्तुएं	15.25	5.7	5.1
3. मध्यक वस्तुएं	20.95	4.3	3.6
4. उपभोक्ता वस्तुएं	31.52	5.5	3.6
5. स्थायी वस्तुएं	3.41	6.8	4.4
6. अस्थायी वस्तुएं	28.11	5.4	3.4

अस्थायी उपभोक्ता वस्तु-समूह में मन्दी का दौर चलता रहा। कारों, दुपहियों तथा बाइसिकलों के उत्पादन में अत्यधिक विस्तार के बावजूद, स्थायी उपभोक्ता वस्तु उद्योगों के विकास में भी छठी योजना में गिरावट आयी। इस समूह के अन्य उद्योगों को भी धक्का लगा।

उर्वरकों, कार्बनिक रसायन, ट्रैक्टर, एयर कंडीशनर और रेफ्रीजरेटर, भारी इलैक्ट्रिकल उपकरण, मानव-निर्मित फाइबर, मोटरसाइकिल तथा बाइसिकलों आदि ने अपनी उस गति को बनाकर रखा जो इन्होंने पांचवीं योजना में बनायी थी। छठी योजना में जिन उद्योगों ने अपनी विकास दर ऊंची रखी वे थे, सीमेंट, अल्मुनियम, भारी उद्योग, मोटरकार, टायर और ट्यूब, कागज तथा गत्ता। पैट्रोलियम शोधन, सूती वस्त्र कताई, केबल और वायर तथा रेलवे इंजन की विकास दरें दोनों ही योजनाओं में नीची रहीं। इसके अतिरिक्त, लौह तथा इस्पात और मशीनी पुर्जों की विकास दर छठी योजना में कम ही थी। जिन उद्योगों की विकास दर ऋणात्मक थी उनमें जूट, कपड़ा, हस्त पुर्जे तथा छोटे पुर्जे, सूती बुनाई, दूरसंचार, दवाइयां और फार्मास्युटिकल हैं।

औद्योगिक उत्पादन का नया सूचकांक

कुछ समय से यह अनुभव किया जा रहा था कि सन् 1970 को आधार मानकर बनाये गये औद्योगिक उत्पादन के सूचकांकों की वर्तमान शृंखला बदलते औद्योगिक ढांचे का सही परिदृश्य प्रस्तुत नहीं करता। यह नये उद्योगों जैसे रसायनों,

पेट्रो-रसायनों, सिले-सिलाये वस्त्रों, हीरा तराशी, तथा इलैक्ट्रोनिक्स की गत्यात्मकता अथवा इनके विभिन्न आयामों को पकड़ नहीं पाया। इसके साथ ही, इसमें पारंपरिक उद्योगों जैसे मिल में बने सूती कपड़ों को वही महत्व दिया जा रहा है यद्यपि सापेक्षतया उनकी महत्ता अब कम हो गयी है। परिणामस्वरूप, वर्तमान सूचकांक-शृंखला में औद्योगिक क्षेत्र के वास्तविक विकास को कम करके आंका गया है। इस तथ्य की पुष्टि सन् 1970 वर्ष को आधार मानकर बनाये गये सूचकांक तथा सन् 1980-81 वर्ष को आधार मानकर बनाये गये नये सूचकांक को तुलनात्मक रूप में देखने से हो जाती है।

तालिका 14.3
औद्योगिक उत्पादन विकास दरें (प्रतिशत में)

वर्ष	*नयी सूचकांक शृंखला (1980-81 : 100)*	*वर्तमान सूचकांक शृंखला (1970 : 100)*
1981-82	9.3	8.6
1982-83	3.2	3.9
1983-84	6.7	5.4
1984-85	8.6	6.8

छठी योजना की विकास दर, नये सूचकांक के आधार पर, इस प्रकार कुछ अधिक ही होगी अपेक्षाकृत 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष के जो वर्तमान शृंखला के आधार पर निकाली गयी है। विकास कार्य पर एक समीक्षात्मक दृष्टि अगले अध्याय में डाली गयी है।

क्षमता उपयोगिता

कुछ चयनित उद्योगों की सन् 1974-78 तथा सन् 1980-84 अर्थात् लगभग पांचवीं और छठी योजना के दौरान क्षमता उपयोगिता के उपलब्ध आंकड़ों को पृष्ठ संख्या पर दी गई अनुसूची में दर्शाया गया है।

अनुसूची में सम्मिलित उद्योगों की समग्र क्षमता उपयोगिता पांचवीं और छठी योजना में 70 प्रतिशत पर अपरिवर्तित रही। उद्योग समूहों में महत्वपूर्ण विभिन्नताएँ अवश्य थीं। पूंजीगत वस्तु उद्योगों की क्षमता उपयोगिता में विशेष सुधार 59.7 प्रतिशत से 69.1 प्रतिशत तक हुआ। मौलिक वस्तुओं तथा माध्यमिक वस्तु उद्योगों में थोड़ा बहुत सुधार हुआ। इन सब गतिविधियों के बावजूद, वास्तविकता यही है कि क्षमता उपयोगिता प्राथमिक उद्योगों के बारे में शुरू में

ही सबसे कम (लगभग 60 प्रतिशत) था। यहां तक कि पूंजीगत वस्तु उद्योगों के बारे में भी आठवें दशक का प्रभावशाली सुधार 70 प्रतिशत से अधिक ऊपर नहीं जा सका। दूसरी तरफ, माध्यमिक तथा उपभोक्ता उद्योगों के समूहों की उच्च क्षमता उपयोगिता 75-80 प्रतिशत के औसत पर समान बनी रही।

उद्योगों के अनुसार काफी विभिन्नताएं भी थीं। सीमेंट, इस्पात, मिल में बना सूती कपड़ा, तथा रेडियो सेट में क्षमता उपयोगिता में काफी गिरावट आयी। दूसरी तरफ, बिजली की मोटरों, रेलवे वैगनों, व्यापारिक वाहनों, ट्रैक्टरों, सवारी कारों, जूट निर्माताओं, पेट्रोलियम उत्पादों, वनस्पति, कागज तथा गत्तों और पंखों में अत्यधिक सुधार देखा गया। प्रमुख उद्योगों में उर्वरकों, बिजली, टायर और चीनी में कोई खास परिवर्तन नहीं था। इस प्रकार, यद्यपि अनेक उद्योगों ने अपनी क्षमता उपयोगिता में सुधार किया, कुछ 'महत्वपूर्ण' उद्योगों जैसे सूत कताई तथा बुनाई ने अपना अस्तित्व ही खो दिया।

क्षमता उपयोगिता को विभिन्न कारणों ने प्रभावित किया। सीमेंट में अच्छी खासी नयी क्षमता बनायी गयी जिसके निर्माण तथा उत्पादन में सामान्य समय अन्तराल था। इसके साथ ही, ऊर्जा, कोयला, तथा परिवहन की कठिनाइयों ने क्षमता उपयोगिता को बुरी तरह प्रभावित किया, जैसा कि पूर्व के अध्याय में चर्चा की जा चुकी है। इस्पात उद्योग ने मांग की कमी, उत्पादन तथा मांग में गलत तालमेल तथा अधारभूत संरचनात्मक कठिनाइयों के कारण नुकसान उठाया। जूट तथा सूती कपड़ा उद्योग कम मांग, वस्तुनिवेश की ऊंची लागत, श्रम समस्या तथा अन्य प्रतिस्थापन वस्तुओं से प्रतियोगिता (जैसे कि जूट में) अथवा अन्य निर्माताओं (सूती कपड़ा में बिजली चालित करघों से) से प्रतिस्पर्धा आदि के चिरकालिक उदाहरण हैं।

आठवें दशक में एकदम बढ़ी मांग ने कुछ उद्योगों जैसे रेलवे वैगनों, व्यापारिक वाहनों, ट्रैक्टरों, सवारी कारों, कागज तथा कागज उत्पादों की क्षमता उपयोगिता को एकदम ऊंचे उठा दिया। मांग के साथ-साथ, कच्चे माल, जैसे गन्ना की पर्याप्त अपूर्ति ने भी चीनी उद्योग में क्षमता उपयोगिता को ऊंचा उठाने में काफी मदद की। दूसरी तरफ, लगातार वर्षों तक सूखे ने ने उर्वरक की मांग को बुरी तरह से प्रभावित किया यद्यपि क्षमता उपयोग को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारक बिजली तथा अन्य वस्तु निवेश की कठिनाई, श्रम समस्या, संयंत्र में खराबी आदि थे।

अनेक उद्योगों में अत्यधिक क्षमता पैदा करने के बावजूद, जैसा कि पूर्व के अध्याय में देखा, क्षमता उपयोगिता में उपरोक्त विभिन्न कारणों से सुधार नहीं हुआ।

गुणात्मक दबाव

सामान्य संख्यात्मक विकास के बावजूद तथा क्षमता उपयोगिता में सुधार की कमी के होते हुए भी, छठी योजना की अवधि में कुछ उल्लेखनीय उपलब्धियां थीं। सातवीं योजना में लिखा गया, "पहली 500 मेगावाट थर्मल इकाई शुरू की गयी तथा 500 मेगावाट के टर्बो जेनरेटरों और बायलरों का निर्माण शुरू हो चुका है। ऊर्जा क्षेत्र के लिए आवश्यक अन्य उपकरणों के लिए उत्पादन टेक्नोलौजी में क्रमबद्ध श्रेष्टता प्राप्त की गयी है। देश में 1350 टी. पी. डी. उर्वरक इकाइयों तथा इस्पात संयंत्रों के लिए 3200 घन मीटर क्षमता की विस्फोट भट्ठियों के लिए आवश्यक निर्माण उपकरणों को बनाने का काम शुरू किया जा रहा है। इलैक्ट्रोनिक उद्योग के त्वरित विकास के लिए मज़बूत आधार बनाया जा चुका है।"

अन्य टैक्नोलौजिकल विकास के कार्यों में संगणक नियंत्रित कंप्यूटर (सी.एन.सी.) मशीनी पुर्जों का उत्पादन, आधुनिक दस लाख टन क्षमता के सीमेंट संयंत्र को चालू करना, सी.एस.आई. चिप्स का निर्माण, ईंधन-बचत वाली मोटर गाड़ियों का एक नया मॉडल तैयार करना, तथा प्रथम इलैक्ट्रोनिक दूरसंचार एक्सचेंज को शुरू करना शामिल था।

सातवीं योजना के लक्ष्य

सातवीं योजना के केंद्र में मुख्य जोर उत्पादनशीलता में सुधार तथा सामाजिक न्याय के साथ विकास के कुल लक्ष्यों के अंतर्गत क्षमताओं के अधिकतम उपयोग पर है। साथ ही, नीतियां एवं कार्यक्रम की योजना निम्न उद्देश्यों को ध्यान में रखकर किया जायेगा–(1) मजदूरी वस्तुओं तथा सार्वजनिक उपभोक्ता सामान की उचित दरों पर पर्याप्त आपूर्ति सुनिश्चित करना, (2) विशाल घरेलू बाज़ार तथा निर्यात संभावनाओं वाले उद्योगों के विकास पर ध्यान केंद्रित करना, तथा (3) उच्च विकासशील तथा हमारी आवश्यकताओं के अनुकूल उभरते उद्योगों को शुरू करना।

योजना में औद्योगिक उत्पादन के लिए 8 प्रतिशत वार्षिक विकास का लक्ष्य रखा गया है। इसको संभव करने के लिए उद्योगों की उत्पादनशीलता, तथा प्रासंगिकता में सुधार होना आवश्यक है, टैक्नोलौजी के आधुनिकीकरण तथा श्रेष्ठीकरण का काम शुरू किया जाना चाहिए तथा वस्तुनिवेश की कार्यकुशलता में वृद्धि होनी चाहिए। उद्योग का झुकाव उच्च टैक्नोलौजी की तरफ रखते हुए उसके ढांचे में फेर-बदल की जानी चाहिए।

आधारभूत संरचना को भी विकसित किया जाना आवश्यक है, जिससे कि बनायी गयी परिसंपत्तियों का उपयोग अधिक कुशलता से किया जा सके।

आवश्यक नीतिगत ढांचे में, पारंपरिक तरीकों में कुछ मौलिक परिवर्तनों की ओर संकेत था। सार्वजनिक क्षेत्र और अधिक गतिशील तथा प्रतिस्पर्धात्मक बनना आवश्यक है। इस क्षेत्र में उपलब्ध दक्षता इसे 'उभरते' उद्योगों तथा निर्यातक उद्योगों के नेतृत्व के योग्य बना सकती है। इस क्षेत्र की इस नयी भूमिका के कारण इसे और अधिक प्रबन्धन स्वायत्तता, अकुशल इकाइयों को बंद करने तथा शेष सबमें आमूल चूल परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी।

योजना में उत्पादनशीलता की आवश्यकता स्तरीय अर्थव्यवस्था तथा कार्यक्षमता को ध्यान में रखते हुए औद्योगिकीकरण नियमों में और अधिक उदारीकरण की वकालत की गयी है। अभी तक चली आ रही सीमित और विभाजित भावना की बजाय, छोटी, मध्यम तथा बड़ी इकाइयों के लिए एक समन्वित तथा सुगठित भावना पर भी इसमें ज़ोर दिया गया है। इसका अर्थ है कि लघुस्तरीय इकाइयों के लिए सुरक्षित क्षेत्रों की भी समीक्षा की जानी आवश्यक है। इन क्षेत्रों की पूरक और प्रतिपूरक इकाइयों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए जिससे कि उनका विकास अधिकतम और सुव्यवस्थित रूप में किया जा सके। इसी प्रकार केन्द्र, राज्यों तथा विभिन्न मंत्रालयों में नीतियों तथा कार्यक्रमों में यथासंभव समन्वय एवं तालमेल होना आवश्यक है। पिछड़े क्षेत्रों में दिये जा रहे अनुग्रहों की समीक्षा की जानी आवश्यक है। क्योंकि ये एक प्रकार से अनुत्पादक हो गयी हैं। स्वस्थ प्रतिस्पर्धात्मक विकास के लिए, औद्योगिक रुग्णता तथा अंततः उसकी मृत्यु अर्थात् उसका बंद होना, एक आवश्यक कीमत है, यह सत्यता स्वीकार की जानी आवश्यक है। इन रुग्ण उद्योगों के कुप्रभावों को दूर करने के साधन भी ढूंढ़े जाने आवश्यक हैं।

मध्यकालिक समीक्षा

यह एक उत्साहजनक बात है कि औद्योगिक क्षेत्र का कार्य पहले तीन वर्षों में योजना में सुनिश्चित लक्ष्यों के अनुसार ही रहा है। तालिका 14.4 में औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक (1980-81 पर आधारित) द्वारा निश्चित विकास दरों में दर्शाया गया है।

तालिका 14.4
औद्योगिक विकास : 1985-88

क्षेत्र	*भार*	*पूर्व वर्ष में* *1985-86*	*प्रतिशत* *1986-87*	*परिवर्तन* *1987-88*
1. खनन तथा खदान	11.46	4.2	6.2	3.5
2. निर्माण	77.11	9.7	9.3	8.6
3. विद्युत	11.43	8.5	10.3	7.6
4. सामान्य सूचकांक	100.00	8.7	9.1	7.7

कार्य परिणाम प्रत्येक उद्योग में भिन्न-भिन्न था। उद्योगों के अनुसार विवरण को सांख्यिकी अनुसूची में देखा जा सकता है। उच्च विकासात्मक उद्योग थे, विद्युतीय मशीनें (मुख्यतः इलैक्ट्रोनिक्स), रसायन तथा रसायन उत्पाद, प्राथमिक धातु, धातु उत्पाद, कागज तथा गत्ते। कम विकासात्मक उद्योग थे, खाद्य, सूती कपड़ा, चर्म, रबड़, प्लास्टिक तथा पैट्रोलियम उत्पाद एवं परिवहन उपकरण।

1987-88 में खनन क्षेत्र में विकास दर में गिरावट, कच्चे तेल, प्राकृतिक गैस, लौह अयस्क तथा जल-जनित-विद्युत के उत्पादन में गिरावट के कारण थी। कृषि आधारित उद्योगों की विकास दर में विशेष रूप से स्पष्ट गिरावट आयी। इसका कारण सूखा थां, जिसने जल-जनित-विद्युत तथा उर्वरक उत्पादन को प्रभावित किया जिसने बदले में उर्वरक उत्पादन तथा विद्युत ट्रांसफार्मरों और मोटरों की मांग को प्रभावित किया। मांग में आयी गिरावट ने औद्योगिक मशीनों, मशीनी पुर्जों, रेडियो सेटों, घड़ियों तथा कपड़ा उद्योग को भी प्रभावित किया। नीति उदारीकरण का सीधा सकारात्मक प्रभाव सीमेंट, सवारी कारों, स्कूटरों, कंप्यूटर सिस्टम तथा पेरिफेरल्स तथा पोलिस्टर फिलामेंट यार्न के संबंध में देखा जा सकता है।

सन् 1987-88 में विकास दर में हुई सापेक्ष गिरावट सूखे का परिणाम थी, यद्यपि, आधारभूत संरचना तथा आयातित वस्तुनिवेश की अत्यधिक उपलब्धता, उदारीकरण द्वारा प्रदत्त अधिक लचीलेपन, तथा पहले की तुलना में कृषि आधारित उद्योगों के हिस्से में गिरावट के कारण विकास दर में आयी गिरावट का प्रभाव बहुत कम हो गया था।

योजना में उच्च विकासात्मक उद्योगों के औसत से अधिक विकास का प्रावधान किया गया था। इन उद्योगों का कार्य परिणाम पूरे तौर पर अच्छा ही रहा था तथा औद्योगिक विकास पहले तीन वर्षों में मोटे तौर से योजना की प्राथमिकताओं के अनुरूप ही था। फिर भी, अलग-अलग उद्योगों तथा कुछ बड़ी परियोजनाओं में समस्याएं आयेंगी। कपड़ा उद्योग की आधुनिकीकरण की प्रक्रिया

अभी पिछड़ रही है। सन् 1987-88 में कुछ स्वागतयोग्य विकास के बावजूद, संभवतः औद्योगिक तथा व्यावसायिक इलैक्ट्रोनिक्स के लक्ष्य प्राप्त नहीं किये जा सके। सीमेंट उद्योग मांग संबंधी कठिनाइयां अनुभव कर रहा है तथा इसका भावी विस्तार अभी अनिश्चय की स्थिति में है।

इस्पात, उर्वरक, सूती कपड़ा, सीमेंट तथा चीनी के उद्योगों के विशाल आधुनिकीकरण का कार्यक्रम योजनाधीन है। सातवीं योजना में आवश्यक उत्पादन स्तरों को प्राप्त करने के लिए नयी क्षमता सृजन के बजाय उपलब्ध क्षमता से अधिक उत्पादन लेने पर विशेष बल दिया गया है। इस प्रकार, आधुनिकीकरण के कार्यक्रम के त्वरित क्रियान्वयन का कार्य भावी विकास के लिए अधिक महत्वपूर्ण है। आधुनिकीकरण के लिए प्रबंधकों को प्रेरित करने के लिए आवश्यक नीति सम्बन्धी वातावरण तैयार किया जाना आवश्यक है।

अन्य क्षेत्र जिनमें कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई, वे हैं—सार्वजनिक क्षेत्र प्रबंधन का सुधार, तथा औद्योगिक रुग्णता एवं स्वदेशीकरण। सार्वजनिक उद्यम स्वायत्तता, उच्च अधिकारियों की कार्य अवधि में स्थायित्व आदि—ऐसी समस्याएं हैं जिनका समाधान अभी किया जाना है। इसी प्रकार नाकाम लोगों को निकालने के अधिकार तथा नाकाम उद्योगों को बन्द करने की स्वतंत्रता पर कोई विचार गंभीरतापूर्वक नहीं हुआ है। इसके साथ ही मुक्त स्पर्धात्मक अर्थव्यवस्था में उचित ढंग से मुक्त प्रवेश करने तथा टक्कर लेने की स्वतंत्रता भी होनी चाहिए। श्रम-आधिक्य की समस्या से स्पष्ट रूप से सामाजिक-राजनैतिक जटिलताएं और उलझनें उत्पन्न होंगी और अंत में, इलैक्ट्रोनिक्स तथा स्वचालित वाहनों जैसे उच्च विकासात्मक क्षेत्रों में अधिकांश विकास अत्यधिक आयात के कारण होता है। स्वदेशीकरण की गति महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपेक्षाकृत धीमी होती है।

विनियोजन

यह देखने के लिए कि विनियोजन का स्तर धीरे-धीरे बढ़ रहा है कि नहीं, और यदि बढ़ रहा है तो कितना, विनियोजन का योजना के अनुसार तुलनात्मक आकलन करना मुश्किल है। विनियोजन की दर में वृद्धि करने में आयी असफलता को विशेषकर सार्वजनिक विनियोजन में, छठे दशक के बाद के वर्षों से, घटती औद्योगिक विकास दर का एक कारण कहा जाता है। हमने पहले देखा कि यह वास्तव में तब तक की स्थिति थी जब पांचवीं योजना में इस प्रवृत्ति को बदला गया। जहां तक छठी योजना का प्रश्न है, सार्वजनिक क्षेत्र के संबंध में योजना में कहा गया है "पांचवीं पंचवर्षीय योजना (सन् 1974-79) की तुलना में, छठी योजना के प्रारूप में मामूली दरों पर 148 प्रतिशत की वृद्धि दिखायी गयी है।

मध्य अंतराल के समय में मूल्य स्तर में हुई वृद्धि को भी यदि ध्यान में रखें तो यह वृद्धि 80 प्रतिशत से कुछ अधिक ही होती है।"

उपलब्धियों के बारे में, सातवीं योजना में कहा गया है "विनियोजन का स्तर विकास का प्रमुख निर्धारक होता है, और इस बारे में छठी योजना की अपेक्षाएं काफी सीमा तक पूरी हो चुकी थीं। इस अवधि में कुल विनियोजन, छठी योजना की 1,59,000 करोड़ रुपये की अपेक्षाओं की तुलना में लगभग 1,43,000 करोड़ रुपये (सन् 1979-80 के मूल्यों के अनुसार) ही हुआ।" इसका अर्थ था दस प्रतिशत की गिरावट।

हमारा अनुमान है कि (योजना, सितम्बर 16-30, 1988) छठी योजना की अवधि में अर्थव्यवस्था में कुल विनियोजन लक्ष्य से 7 प्रतिशत कम था। यह सन्तोषजनक स्थिति मानी जानी चाहिए। फिर भी, सार्वजनिक विनियोजन में कुल कमी लगभग 20 प्रतिशत थी। गम्भीर कमी ऊर्जा और परिवहन थी, ऊर्जा में विशेषकर।

संसाधनों का दबाव सातवीं योजना में प्रारंभ में उत्तरोत्तर अधिक महसूस किया जा रहा था। यद्यपि योजना में प्रस्तावित विनियोजन (सन् 1984-85 के मूल्य आधार पर 5,20,000 करोड़ रुपये), छठी योजना में (सन् 1979-80 के मूल्य पर आधारित) प्रस्तावित विनियोजन से दुगुना है, तथापि इस दौरान हुई मुद्रा स्फीति को भी ध्यान में रखना आवश्यक है। मध्यकालिक समीक्षा में कहा गया है कि योजना के प्रथम तीन वर्षों में विनियोजन आशानुकूल हो रहा है। यहां तक यह सब उत्साहजनक है। औद्योगिक विकास दर योजना के लक्ष्य के समान स्तर पर ही रखी जा रही है। महत्वपूर्ण क्या है कि संसाधनों के अवरोधक विशेष क्षेत्रों में सार्वजनिक विनियोजन पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं डालते। सार्वजनिक क्षेत्र के विनियोजन का 30 प्रतिशत से भी अधिक ऊर्जा के लिए रखा गया है तथा 25 प्रतिशत उद्योग और परिवहन के लिए (दोनों विभागों का समान भाग) रखा गया है।

अध्याय 15

विकेंद्रित कार्यक्षेत्र

कुटीर और लघुस्तरीय उद्योगों का उन लोगों के लिए विशेष स्थान था जिन्हें भारत के भावी (यहां तक कि स्वतंत्रता से पहले भी) विकास की चिन्ता थी। इसलिए यह आश्चर्य नहीं था कि उन्हें देश के स्वतंत्र होने पर बनायी गयी सरकारी नीति में अपनी समस्या का तत्काल समाधान मिला। इंडस्ट्रियल पालिसी रिजोल्यूशन सन् 1948 में घोषणा की गयी कि देश के आर्थिक विकास में विकेंद्रित उद्योगों की विशेष भूमिका है क्योंकि यह स्थानीय संसाधनों के बेहतर उपयोग तथा कुछ विशेष प्रकार के आवश्यक उपभोक्ता वस्तुओं के बारे में स्थानीय आत्मनिर्भरता प्राप्त करने के लिए विशेष रूप से उचित थी। संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों में नयी उभरती सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था में लघुस्तरीय इकाइयों की भूमिका को रेखांकित किया गया है।

जब देश में सन् 1951 में प्रथम पंचवर्षीय योजना शुरू की गयी, तब लघुस्तरीय उद्योग धंधों के अंतर्गत अधिकांशतः चारों तरफ फैले कुटीर और ग्रामीण उद्योग आते थे। दक्षिण भारत, बम्बई, बिहार और उत्तर प्रदेश में मोटे तौर पर हथकरघा उद्योग संकेंद्रित थे। आधुनिक लघु उद्योग जैसा कोई विशेष महत्वपूर्ण विकास नहीं हुआ था।

यह दूसरी पंचवर्षीय योजना में था कि इस क्षेत्र के विकास की सरकारी नीति का क्रमबद्ध निर्धारण हुआ और अधिक क्या, दूसरी तथा बाद की पंचवर्षीय योजनाओं में समाहित विकास की महलनोबिस योजना में इस क्षेत्र की महत्वपूर्ण भूमिका को स्वीकार किया गया। सारांश में, इस महलनोबिस योजना में शीघ्र आत्मनिर्भरता की प्राप्ति के लिए भारी तथा मौलिक उद्योगों के त्वरित विकास पर अधिक ज़ोर दिया गया। इसका अर्थ था कि देश की बचतों को आने वाले

कुछ वर्षों में इन्हीं उद्योगों के लिए काम में ली जायेंगी तथा लोगों के जीवन स्तर में तुरन्त सुधार लाने के लिए कुछ नहीं बचेगा। इसलिए जनता की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति अभी विकेंद्रित क्षेत्र से करनी होगी।

इस क्षेत्र के विकास की तार्किकता तथा रणनीति प्रो. डी. जी. कर्वे (योजना आयोग, 1955) की अध्यक्षता में बनी "कमेटी ऑन विलेज एंड स्माल स्केल इंडस्ट्रीज" द्वारा दी गयी थी। इस नीति की मुख्य बातें थीं–कुछ उत्पादों के एकमात्र निर्माण का केवल लघुस्तरीय क्षेत्र में आरक्षण, जहां छोटे और बड़े दोनों ही उद्योग हैं वहां उत्पादों का दोनों में निर्माण, विशिष्ट करप्रणाली, मूल्य निर्धारण में तार्किकता तथा सरकारी खरीद में वरीयता।

डाटा बेस (आंकड़ों का आधार)

विकेंद्रित क्षेत्र को वरीयता देने के बावजूद डाटा बेस इसके विकास को जांचने और देखने में निराशाजनक रूप से अपर्याप्त सिद्ध हुआ है। यद्यपि यह स्वीकार किया जाता है कि कुल निर्माण और उत्पादन में इस क्षेत्र का योगदान कुछ साधारण नहीं था, फिर भी औद्योगिक विकास का अधिकांश विश्लेषण बड़ी और मध्यम औद्योगिक इकाइयों के विकास के अनुरूप ही करना पड़ता है। आज भी औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक आधुनिक लघु उद्योगों के अधिकांश उत्पादन को नहीं दिखा पाता, ग्रामीण और कुटीर उद्योगों की बात ही क्या। राष्ट्रीय अंकेक्षण सर्वेक्षण (एन. ए. एस.) कुछ 'पंजीकृत' तथा 'अपंजीकृत' निर्माताओं के बारे में आंकड़े देता है लेकिन इन आंकड़ों से ग्रामीण तथा लघु उद्योगों (ग्रा.ल.उ.) के बारे में सूचना नहीं मिलती। वास्तव में ग्रा.ल.उ. एक प्रशासनिक आविष्कार है परन्तु यह महत्वपूर्ण भी है क्योंकि नीतियों का निर्धारण उसी के अनुसार होता है। इसके अतिरिक्त, तथाकथित "छोटे स्तर की इकाइयों" की प्रशासनिक परिभाषा विनियोजन की सीमा रेखा को बढ़ाकर समय-समय पर बदल दी जाती है। प्रशासनिक उद्देश्यों के लिए किसी भी इकाई को इसी विनियोजन सीमा से छोटा माना जाता है। लघुस्तरीय उद्योगों के विकास आयुक्त (आयुक्त) का कार्यालय निदर्शन-सर्वेक्षणों के माध्यम से इस क्षेत्र के लिए कुछ आंकड़े उपलब्ध कराता रहा है। इसी प्रकार विभिन्न क्रियान्वयन संस्थाएं जैसे खादी ग्रामोद्योग आयोग अपने-अपने क्षेत्रों के लिए आंकड़े तैयार करती हैं। आर्थिक जनगणना ने भी घरेलू संस्थाओं के लिए सूचनाएं उपलब्ध करायी हैं। लेकिन यह सूचनाएं न तो पूरी हैं और न ही समयावधि के अनुसार तुलनात्मक। किसी भी प्रकार के समय-अवधि-कालीन रूप में बंधे आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

फिर भी, छठी योजना से प्रारम्भ कर, योजना आयोग ग्रा. ल. उ. क्षेत्र के

लिए अपने विकासात्मक कार्यक्रमों को विभिन्न स्रोतों से प्राप्त आंकड़ों पर आधारित कराता रहा है। सातवें दशक से इस क्षेत्र में हुए. विकास की मोटी-मोटी बातों को नीचे दर्शाया गया है।

ग्रा. ल. उ. क्षेत्र में लागत मूल्य में जुड़े सकल मूल्य सन् 1973-74 के 2800 करोड़ रुपयों से बढ़कर सन् 1979-80 में (सन् 1970-71 मूल्यों पर) 4,000 करोड़ रुपये हो गये जिससे विकास दर प्रतिवर्ष 6.6 प्रतिशत हो गयी। पंजीकृत निर्माण क्षेत्र में विकास दर 4.8 प्रतिशत की विकास दर से कहीं अधिक थी। उसी समय अवधि में ग्रामीण लघु उद्योग क्षेत्र में उत्पादन मूल्य की विकास दर 6.8 प्रतिशत प्रतिवर्ष थी। अनुमान है कि कुल निर्माण उत्पादन में लघु-ग्रामीण उद्योग का भाग तथा इसमें जोड़ा गया मूल्य सन् 1979-80 में क्रमशः 49 तथा 51 प्रतिशत था। ग्रामीण लघु उद्योग क्षेत्र के उत्पादन का दो-तिहाई आधुनिक लघु उद्योग क्षेत्र में था तथा शेष भाग हथकरघा, कुटीर उद्योग तथा अन्यों में था। लघु उद्योगों का विकास सन् 1973-80 में 9.5 प्रतिशत वार्षिक दर से हुआ।

छठी योजना में ग्रामीण लघु उद्योग के लिए वार्षिक विकास दर अन्य निर्माण क्षेत्रों की 7.6 प्रतिशत की तुलना में 8 प्रतिशत का प्रावधान रखा गया।

छठी योजना में ग्रामीण लघु उद्योग के कार्य परिणाम की समीक्षा इनके उपक्षेत्रों तथा खंडों के रूप में करना संभव नहीं है क्योंकि लघु उद्योग की परिभाषा बदलती रही हैं तथा तुलनात्मक आंकड़े भी उपलब्ध नहीं हैं। सातवीं योजना में उपक्षेत्रों के वर्तमान मूल्यों पर आधारित आंकड़े दिये गये हैं। यह केवल ग्रामीग लघु उद्योग क्षेत्र का कुल उत्पादन है जो सन् 1979-80 के मूल्यों पर अनुमानित थी। पूरी तस्वीर जो उभर कर सामने आती है–तालिका 15.1 में देखी जा सकती है–

तालिका 15.1
1984-85 में उत्पादन का मूल्य

(करोड़ रुपये में)

उपक्षेत्र	*लक्ष्य*	*उपलब्धि*
पारंपरिक उद्योग	7,227	7,726
1. खादी तथा ग्राम उद्योग	1,200	886
2. हथकरघा	2,400	2,880
3. हस्तशिल्प	3,200	3,500
4. अन्य	367	460
आधुनिक लघु उद्योग	36,973	56,943
1. लघु उद्योग	32,873	50,520
2. शक्तिचालित करघे	4,100	6,423

अन्य	5,035	1,061
कुल (वर्तमान मूल्यों पर)		65,730
1979-80 के मूल्यों पर	49,235	44,843
विकास दर (1980-85)	8.0 प्रतिशत वार्षिक	6.0 प्रतिशत वार्षिक

इस प्रकार लघु-ग्रामीण उद्योगों के लिये विकास दर पूरे तौर पर 8 प्रतिशत के लक्ष्य की तुलना में केवल 6 प्रतिशत वार्षिक थी। स्पष्ट है कि लघु उद्योग तथा हथकरघे के क्षेत्रों का विकास तेजी से हुआ है। जबकि पारंपरिक उद्योगों, विशेषकर खादी-ग्रामीण उद्योग में क्षीणता का दौर चल रहा है।

सातवीं योजना के लक्ष्य

सातवीं योजना में निश्चय किया गया है कि लघु-ग्रामीण क्षेत्र का कुल उत्पादन सन् 1984-85 के 65,730 करोड़ रुपयों से बढ़कर सन् 1989-90 में 1,00,100 करोड़ रुपये हो जायेंगे। यह सन् 1984-85 के मूल्यों पर आधारित अथवा 8.8 प्रतिशत की वार्षिक दर पर होगा। ग्रामीण-लघु उद्योगों के मुख्य भागों के लक्ष्य तालिका 15.2 में दिये गये हैं।

तालिका 15.2

लघु-ग्रामीण उद्योग के लिए निर्धारित उत्पादन लक्ष्य

(सन् 1984-85 मूल्यों पर आधारित)

(करोड़ रुपयों में)

उप-क्षेत्र (भाग)	*उत्पादन का मूल्य*		*विकास दर*
	1984-85	*1889-90*	*प्रतिशत प्रतिवर्ष*
पारंपरिक उद्योग	7,726	11.760	8.8
1. खादी तथा ग्राम उद्योग	886	2,000	17.7
2. हथकरघे	2,880	3,680	5.0
3. हस्तशिल्प	3,500	5,400	9.1
4. अन्य	460	680	8.1
आधुनिक उद्योग	56.943	87,240	8.9
5. लघु उद्योग	50,520	80,220	9.7
6. शक्ति चालित करघे	6,423	7,020	1.8
अन्य	1,061	1,100	0.7
कुल	65,730	1,00,100	8.8

लक्ष्यों के बारे में चौंकानेवाली बात यह है कि खादी ग्रामोद्योग के लिए ऊंची तथा शक्तिचालित करघों के लिए बहुत कम विकास दर रखी गयी है। जैसा कि हमने पहले सूती वस्त्र उद्योग की चर्चा में देखा, सातवीं योजना की मध्यकालिक समीक्षा में कहा गया था शक्तिचालित करघा क्षेत्र का योजना-लक्ष्य पहले ही प्राप्त किया जा चुका है तथा इस क्षेत्र में उत्पादन का और अधिक विस्तार करना होगा जिससे मिल क्षेत्र के उत्पादन की कमी को पूरा किया जा सके। लघु क्षेत्र द्वारा अपनायी गयी अनथक गति ग्रामीण तथा लघु उद्योग क्षेत्र के भाग में और अधिक वृद्धि ही करेगी।

मुद्दे

हमने पहले सामान्य नीति के उन मुद्दों की विशेष रूप से चर्चा की थी जिनका सीधा प्रभाव ग्रामीण तथा लघु उद्योगों पर पड़ता है। नये नीति-ढांचे में, प्रतिस्पर्धा, उत्पादनशीलता, कार्यक्षमता पर अधिक बल दिया गया है। उद्योगों को बड़े, मध्यम, लघु अथवा ग्रामीण जैसी श्रेणियों में विभाजित करना तर्कसंगत नहीं लगता। एक समन्वित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है। छोटी-छोटी इकाइयां, जो कि बड़ी इकाइयों की आनुषांगिक रूप में उभर सकती हैं, पारस्परिक लाभ के लिए अधिक अच्छी होती हैं। इसीलिए उद्योगों की आरक्षण नीति पर भी फिर से विचार करना आवश्यक होगा। अधिक जोर विकेंद्रित क्षेत्र में उच्च टेक्नोलौजी पर देना होगा। उच्च टेक्नोलौजी और अधिक अच्छी तरह से प्राप्त की जा सकती है यदि बड़ी इकाइयों को पारस्परिक लाभ के कार्यों को अपने हाथ में लेने के लिए प्रेरित किया जा सके। बड़ी और छोटी इकाइयों का तालमेल लघु उद्योगों की अन्य समस्याओं जैसे कच्चे माल की आपूर्ति, वित्त, विपणन, गुणवत्ता नियंत्रण तथा प्रबंधन व्यवस्था, के समाधान में सहायक हो सकता है। इसका अर्थ सरकारी हस्तक्षेप और समर्थन को उचित राजस्व तथा अन्य नीतियों एवं डिलीवरी पद्धति के माध्यम से इसकी महत्ता को कम करना नहीं है। वर्तमान राजस्व प्रबन्धन व्यवस्था छोटी इकाइयों को बड़ी में बदलने के लिए कहीं भी प्रोत्साहित नहीं करती। स्पष्ट है, इस कार्य की भी समीक्षा होनी आवश्यक है।

भाग 6

प्रत्याशा

अध्याय 16

परिप्रेक्ष्य एवं प्रत्याशा

निस्संदेह, सन् 1955-65 का समय भारतीय अर्थव्यवस्था का श्रेष्ठ समय था। सन् 1965 की अवधि के बाद के समय में, अर्थव्यवस्था को सामान्य रूप से धक्का लगा, औद्योगिक क्षेत्र की विकास दर में भी गिरावट आयी। इस तथ्य पर काफी कुछ लिखा जा चुका है। डॉ. के. एन. राज पहले अर्थशास्त्री थे जिन्होंने साठ के दशक के मध्य से औद्योगिक क्षेत्र की विकास दर में आयी गिरावट की ओर ध्यान आकर्षित कराया (इकोनोमिक एण्ड पोलिटिकल वीकली, वार्षिक अंक, फरवरी 1976)। इनके बाद डा. एस. एल. शेट्टी ने सन् 1965 के बाद की अर्थव्यवस्था के असंतोषजनक विकास परिणाम के विस्तृत विश्लेषण का कार्य अपने हाथों में लिया ("स्ट्रक्चरल रिट्रोग्रेशन ऑफ दी इण्डियन इकोनौमी सिंस दी मिड सिक्सटीज"–*इकोनोमिक एण्ड पौलिटिकल वीकली*, वार्षिक अंक, फरवरी 1978)।

डॉ. राज और डॉ. शेट्टी, दोनों ने ही उद्योगों के समूहों का अलग-अलग स्तरों पर, उपभोग आधारित तथा निवेश आधारित, दोनों ही प्रकार से, विकास के परिणामों का विश्लेषण किया है। जैसा कि हमने पहले देखा, सन् 1965 के बाद मौलिक तथा पूंजीगत वस्तु क्षेत्र बुरी तरह प्रभावित हुए थे जबकि उपभोग्य वस्तु के उद्योगों के कार्य परिणाम पहले भी कुछ अच्छे नहीं थे। यहां ध्यान देने की बात यह है कि निर्माण क्षेत्र की विकास दर ने, स्थूल रूप में तथा उद्योग समूह स्तर पर, सन् 1965 के बाद गम्भीर झटका अनुभव किया।

अभी तक किया गया विश्लेषण औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक के आधार पर था।

तीसरी योजना के बाद आयी औद्योगिक गिरावट का तथ्य विस्तृत रूप से लिखा गया है। इस विषय में कहीं कोई मतभेद भी नहीं है, यद्यपि विश्लेषण के साधन के रूप में औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक की पर्याप्तता पर मतभेद हो सकता है। एक और बिन्दु जिस पर मतभेद उभरा है। और हाल ही में तेज भी हुआ है कि क्या औद्योगिक उत्पादन की विकास दर सातवें दशक के मध्य के बाद भी मन्द ही चलती रही। अथवा इसमें कोई सुधार हुआ है और क्या तब से कोई उल्लेखनीय प्रगति हुई है ?

डॉ. ईश्वर अहलुवालिया ने अपने अध्ययन, *इंडस्ट्रियल ग्रोथ इन इण्डिया–स्टेगनेशन सिंस दी मिड सिक्सटीज* (आक्सफोर्ड, 1985) में तर्क दिया है कि छठे दशक के अन्तिम वर्षों के ठहराव से इस क्षेत्र में कोई सुधार नहीं हुआ है, ऊंची विकास दर को दर्शाते किसी अचानक परिवर्तन की तो बात ही क्या !

डॉ. अहलुवालिया औद्योगिक उत्पादन के आंशिक रूप से आधारित सूचकांक की अपेक्षा अधिक विस्तृत राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी (एन. ए. एस.) उद्योगों के वार्षिक सर्वेक्षण (ए. एस. आई.) को तरजीह देती है। इनका निष्कर्ष है कि औद्योगिक उत्पादन आंकड़ों की अपेक्षा एन. ए. एस. / ए. एस. आई. आंकड़ों पर आधारित विकास दर बिल्कुल अलग और आकर्षक लगती है। विशेषकर, छठे दशक के मध्य के बाद से औद्योगिक विकास में आयी मंदी भारी उद्योगों में अधिक केंद्रित लगती है, अपेक्षाकृत सभी उद्योगों के जैसा कि औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक से स्पष्ट होता है।

डॉ. अहलुवालिया के प्रमुख निष्कर्षों से कहीं कोई एतराज नहीं हो सकता, जैसा कि (1) औद्योगिक क्षेत्र के विकास को मापने के लिए औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक संतोषजनक उपकरण नहीं हो सकता; (2) एन. ए. एस. / ए. एस. आई. के आंकड़े अधिक व्यापक तथा एक बेहतर विश्लेषणात्मक साधन हो सकते हैं; (3) सन् 1965-66 के बाद उद्योग की विकास दर में एक निश्चित और स्पष्ट गिरावट आयी है।

मतभेद इस बात पर है कि क्या मंदी सातवें दशक के दौरान जारी रही, अथवा क्या कुछ सुधार हुआ ? अथवा सातवें दशक में कभी प्रक्रिया में बदलाव आया ? डॉ. अहलुवालिया के विश्लेषण में इस तरह का अध्ययन नहीं मिलता क्योंकि उन्होंने समय अवधि के खंडों में विश्लेषण नहीं किया। फिर भी, अन्य विद्वानों ने छठे दशक के मध्य से समय अवधि के खंडों को लेकर विकास कार्यों के परिणामों का अध्ययन किया है। उदाहरणार्थ, डॉ. राज ने बताया, चाहे स्थूल रूप में ही सही, कि सन् 1965 से सन् 1975 के दौरान अर्थव्यवस्था में आये

गिरावट के दौर बाद के वर्षों में चलते प्रतीत नहीं होते। उनके निष्कर्ष औद्योगिक उत्पादन के आंकड़ों की अपेक्षा राष्ट्रीय लेखा सांख्यिकी पर आधारित थे (*इकोनोमिक एण्ड पौलिटिकल वीकली*, अक्तूबर 13, 1984)। तालिका 16.1 में डॉ. राज के अनुमान संक्षेप में दिये गये हैं।

तालिका 16.1
निर्माण में जुड़ी सकल मूल्य का विकास

समयावधि	*सकल मूल्य में जुड़ी विकास-प्रतिशत*
1952-53 से 1959-60 तक	5.78
1960-61 से 1967-68 तक	5.74
1968-69 से 1975-76 तक	4.34
1976-77 से 1983-84 तक	5.00

सन् 1975-76 के बाद विकास दर में हुआ सुधार कुछ महत्वपूर्ण न लगे, लेकिन, डॉ. राज के अनुसार, अपंजीकृत तथा नये उद्योगों के विकास को कम समझते हुए, यह बदलाव विशेष महत्ता रखता है।

मार्च 1985 में गोविंद बल्लभ पन्त व्याख्यानमाला देते हुए डॉ. वाई. के. अलग ने, ध्यानपूर्वक समय निर्धारण करते हुए यह दिखाने का प्रयत्न किया कि सन् 1976-77 का वर्ष वास्तव में गत दशक के औद्योगिक ठहराव में एक नये मोड़ का वर्ष सिद्ध हुआ। यद्यपि यह औद्योगिक उत्पादन के आंकड़ों के विश्लेषण के आधार पर कोई निर्णायक वर्ष नहीं लगता, लेकिन एन. ए. एस. के आंकड़े स्पष्ट रूप से सुधार की प्रवृत्ति दिखाते हैं। जबकि यहां स्थानाभाव के कारण अधिक विस्तार में जाना तथा समर्थन में आंकड़े देना संभव नहीं है, फिर भी मुख्य निष्कर्ष नीचे दिये जा रहे हैं।

निर्माण क्षेत्र में जुड़ी कुल मूल्य में, सन् 1971-72 से सन् 1975-76 के मध्य की 3.49 प्रतिशत के विरुद्ध सन् 1976-77 से सन् 1981-82 के मध्य 576 प्रतिशत वार्षिक की दर से वृद्धि हुई। अधिकांश उद्योग समूहों में सिवाय चर्म, चर्म वस्तु, प्राथमिक धातु, मिश्रित तथा औद्योगिक मशीनरी के, सभी में इसी प्रकार के सुधार दिखायी दिये। अपंजीकृत क्षेत्र में, डॉ. अलग का निष्कर्ष था कि इस क्षेत्र में जुड़ी कुल मूल्य में विकास सन् 1976-82 में केवल 4.0 प्रतिशत वार्षिक था जो कि सन् 1971-76 के 4.4 प्रतिशत से भी कम था। फिर भी, यदि जुड़ी मूल्य दर तथा उत्पादन मूल्य दर को समान अनुपात में मान भी लिया जाये जो कि पंजीकृत क्षेत्र में है, तब अपंजीकृत क्षेत्र में उत्पादन की विकास दर में सुधार

5.2 प्रतिशत वार्षिक होता है। लेकिन इसी तर्क से, पहली समयावधि (सन् 1971-76) में विकास दर भी अधिक ही होगी। सन् 1976 के बाद अपंजीकृत क्षेत्र की विकास दर में गिरावट का कारण इस क्षेत्र के उत्पादन को सामान्य रूप से कम माने जाने में ढूंढ़ा जाना चाहिए।

इस पूरी बहस से एक बात उभरती है कि सन् 1975 के बाद के कार्य परिणामों से उद्योग की विकास दर, फिर से चली आ रही विकास दर के अनुकूल हो गयी थी। परन्तु इससे भी अधिक, पूरी चर्चा एक उचित निर्णय पर पहुंचने के लिए आवश्यक आंकड़ों की कमी को रेखांकित करती है। यह माना जाता है कि बदलते औद्योगिक ढांचे पर केन्द्रित करने तथा उद्योग के मजबूत और कमजोर बिंदुओं की पहचान करने के लिए अलग-अलग विश्लेषण करना आवश्यक है। एन. ए. एस. द्वारा प्रदत्त दो अंकीय आंकड़े उद्योगों की आन्तरिक पहचान नहीं करा पाते, औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक की तो बात ही क्या ?

एन.ए.एस. अवधारणात्मक रूप से निर्माण क्षेत्र की सम्पूर्ण परिधि को समाहित करते हैं। उस दृष्टि से, ये औद्योगिक उत्पादन के सूचकांक से कहीं अधिक अच्छे हैं फिर भी, उनकी प्राप्ति में जो देरी होती है, उसके अतिरिक्त, एन.ए.एस. में भी सूचकांक की अन्य कमियां हैं। उद्योग के अनुसार आंकड़ों की अनुपलब्धि के अतिरिक्त, अपंजीकृत क्षेत्र के अनुमान विशेष रूप से सन्देहयुक्त हैं। इस प्रकार डाटा बेस से, सूचकांक एक कमज़ोर उपकरण होते हुए भी, यह औद्योगिक परिवर्तन के मापकयंत्र के रूप में उपयोग किया जाता रहेगा।

उच्चतर विकास पथ पर अग्रसर

छठी योजना की अवधि में तथा सातवीं योजना की अभी तक की अवधि में आर्थिक कार्य परिणाम इस धारणा की पुष्टि करते हैं कि सन् 1975 से अब तक परिवर्तन हुआ है। वास्तव में प्रक्रिया ने हाल ही में गति पकड़ी है, विशेषकर औद्योगिक उत्पादन के नये सूचकांक के आधार पर (सन् 1980-81–100) औद्योगिक उत्पादन सन् 1980-81 से सन् 1987-88 तक की अवधि में 7.6 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ा जो कि सन् 1971-72 से सन् 1979-80 तक की अवधि के 4.2 प्रतिशत वार्षिक से कहीं अधिक था। यह विशेष रूप से पहले के तीन दशकों के 6 प्रतिशत की चली आ रही विकास दर से अधिक ही था। इसका विवरण तालिका 16.2 में देखा जा सकता है। परिणाम संक्षेप में इस प्रकार हैं–

	1980-81 से सन् 1987-88 तक औद्योगिक उत्पादन की प्रतिशत विकास दर
1. खनन	9.1
2. निर्माण	7.2
3. बिजली	8.8
4. सामान्य सूचकांक	7.6

तालिका 16.2
औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक
(1980-81=100)

वर्ग	*भारित मान*	*1981-82*	*1982-83*	*1983-84*	*1984-85*	*1985-86*	*1986-87*	*1987-88*	*87-88 / 80-81*
1	*2*	*3*	*4*	*5*	*6*	*7*	*8*	*9*	*10*
खनन एवं खदान	11.46	117.7	132.3	147.8	160.8	167.5	177.9	184.2	
		(17.7)	(12.4)	(11.7)	(8.8)	(4.2)	(6.2)	(3.5)	9.1
निर्माण	77.11	107.9	109.4	115.6	124.8	136.9	149.7	162.5	
		(7.9)	(1.4)	(5.7)	(8.0)	(9.7)	(9.3)	(8.6)	7.2
बिजली	11.43	110.2	116.5	125.4	140.4	152.4	168.1	180.8	
		(10.2)	(5.7)	(7.6)	(12.0)	(8.5)	(10.3)	(7.6)	8.8
सामान्य सूचकांक	100.00	109.3	112.8	120.4	130.7	142.1	155.1	167.0	
		(9.3)	(3.2)	(6.7)	(8.6)	(8.7)	(7.1)	(7.7)	7.6

टिप्पणी–कोष्ठक में दिये गये आंकड़े पूर्व वर्षों में हुई प्रतिशत भिन्नता को दर्शाते हैं।

प्रत्याशा 2000 ईस्वी

जबकि गत दशक या इससे पूर्व के संख्यात्मक विकास को पहले की तुलना में एक सुधारात्मक कदम माना जा सकता है, यह औद्योगिक अर्थव्यवस्था को एक स्पष्ट उच्च विकास पथ पर लेकर जाता हुआ नहीं कहा जा सकता। लेकिन वास्तविक चुनौती कहीं और है। क्या औद्योगिक क्षेत्र आने वाले वर्षों में शेष अर्थव्यवस्था के लिए आधुनिकीकरण के लिए गति प्रदान कर सकेगा ? क्या यह अधिक उत्पादकता, बेहतर गुणवत्ता और कम लागत मूल्य की दिशा में आगे बढ़ने के लिए नेतृत्व प्रदान कर सकेगा ? क्या यह विशाल स्तर पर तथा उपभोक्ताओं की आवश्यकतानुसार अनुकूल कीमतों पर उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन कर सकेगा ? क्या यह, कुछ वस्तुओं में सही, पर अपनी कार्यप्रणाली में विश्व स्तर प्राप्त कर सकेगा ?

सन् 1955-80 की समयावधि को एक विस्तृत, मोटे तौर पर आत्मनिर्भर, लेकिन लागत और गुणवत्ता की चिन्ता किये बिना, औद्योगिक ढांचा बनाने से भारत की औद्योगिक क्रान्ति के प्रथम चरण की पूर्ति का समय माना जा सकता है। सन् 1980-90 का दशक संक्रमण का समय है जिसमें अर्थव्यवस्था में अत्यधिक प्रतिस्पर्धा के दरवाजे खोलने से कार्यकुशलता और उत्पादनशीलता पर अधिक जोर दिया गया। क्या आने वाला दशक, भारतीय अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था में मिला देने से 'दूसरी क्रांति' में ले जाने वाला दशक कहा जा सकेगा ?

सातवीं योजना में 2000 ईस्वी तक के लिए जो प्रत्याशा निश्चित की गयी है वह यह कि अत्यधिक महत्वपूर्ण संरचनात्मक परिवर्तन उद्योग के गतिशील विकास तथा राष्ट्रीय रोज़गार तथा उत्पादन में इसके अधिक योगदान से ही संभव हो सकेगा। प्रत्याशा में सन् 1985-2000 में सकल घरेलू उत्पाद में 5 प्रतिशत की वार्षिक औसत वृद्धि निर्धारित की गयी है। अधिकतम विकास दर निर्माण क्षेत्र (7.8 प्रतिशत) द्वारा दर्ज की जायेगी। इसका विवरण निम्न तालिका में दिया गया है–

तालिका 16.3
सकल घरेलू उत्पाद में वार्षिक विकास दर
(फैक्टर मूल्य पर)

प्रतिशत प्रतिवर्ष मिश्रित
सातवीं योजना

क्षेत्र	*1985-90*	*1985-2000*
1. कृषि	2.5	2.4
2. खनन और निर्माण	6.8	6.9
(क) खनन	11.7	3.5
(ख) निर्माण	5.5	7.8
3. बिजली, गेस और जल आपूर्ति	7.9	7.7
4. भवन निर्माण	4.8	4.0
5. परिवहन	7.1	5.3
6. सेवाएं	6.1	5.1
कुल	5.0	5.0

औद्योगिक उत्पादन की विकास दर सन् 1985-2000 की समयावधि में 8-9 प्रतिशत वार्षिक होने की आशा है। जो निर्माण क्षेत्र में जोड़ी गयी सकल मूल्य की 7.8 प्रतिशत वार्षिक दर से कहीं अधिक होगी। इसके गतिशील विकास के

परिणामस्वरूप सकल घरेलू उत्पाद में निर्माण क्षेत्र का हिस्सा 1984-85 के 15 प्रतिशत से बढ़कर सन 2000 ईस्वी में 20 प्रतिशत तक बढ़ जायेगा। उस समय तक गुणात्मक परिवर्तन भी होंगे तथा उत्पादन के तरीकों में भी महत्वपूर्ण परिवर्तन होंगे। उत्पादन में उत्तरोत्तर वृद्धि की आशा कुछ तेजी से विकासमान उद्योग जैसे पैट्रोकैमिकल, प्लास्टिक, उर्वरक, अल्मुनियम, इलैक्ट्रोनिक्स, दूर संचार उपकरणों तथा कंप्यूटरों आदि से है।

प्रमुख उद्योगों का प्रस्तावित उत्पादन स्तर तालिका 16.4 में दिया गया है–

तालिका 16.4
उत्पादन का प्रस्तावित स्तर : 2000 ईस्वी तक

	वस्तु	*इकाई*	*उत्पादन (1999-2000)*
1.	कोयला	मिलि टन	417
2.	लिग्नाइट	मिलि टन	30
3.	लौह अयस्क और तत्व	मिलि टन	85
4.	कपड़ा	मिलि मीटर्स	21.600
5.	कागज तथा गत्ता	000 टन	2,930
6.	एल. डी. पी. ई.	000 टन	490
7.	एच. डी. पी. ई.	000 टन	235
8.	पी. पी.	000 टन	180
9.	पी. वी. सी.	000 टन	455
10.	नाइट्रोजनयुक्त उर्वरक (N)	000 टन	11,400
11.	फास्फेटिक उर्वरक (P_2O_5)	000 टन	4,180
12.	सीमेंट	मिलि टन	87
13.	बिक्रीयोग्य इस्पात (केबल कार्बन)	मिलिटन	21
14.	अल्मुनियम	000 टन	850
15.	परिष्कृत तांबा	000 टन	130
16.	जिंक (जस्ता)	000 टन	150
17.	सीसा	000 टन	60
18.	बिजली-उत्पादन	बिलियन किलोवाट	558-600
19.	रेलवे	मिलि टन	520

यह याद रखने योग्य बात है कि निर्माण क्षेत्र का हिस्सा 20वीं शताब्दी के प्रारंभ से ही परिवर्तित नहीं हुआ है और गत चार दशकों में औद्योगिकीरण की थोपी गयी गति के बावजूद परिवर्तन मामूली-सा ही हुआ है। फिर भी, 15

वर्षों में इसके हिस्से में हुए 0.5 प्रतिशत के विकास को कोई अभूतपूर्व संरचनात्मक परिवर्तन नहीं कहा जा सकता। यह फिर भी विकासशील देशों के सकल घरेलू उत्पाद के निर्माण क्षेत्र के 25 प्रतिशत से कम ही रहेगा जैसा कि लिमा (Lima) के घोषणापत्र में निश्चित किया गया। एक और बड़ी चुनौती अपनी परिस्थितियों में, विकास की संभावनाओं वाले उद्योगों को पहचानने और चिह्नित करने की होगी तथा उनके विकास के लिए प्रभावशाली रणनीति तथा नीति निर्धारण को निश्चित करने की होगी। देश की अर्थव्यवस्था संक्रमण की स्थिति में है। आर्थिक नीति के वातावरण में आशा और अनिश्चितता का मिश्रण है। पर्याप्त संरचनात्मक आवश्यकताओं की भरपूर पूर्ति के साथ सुदृढ़ कृषि विकास से उद्योग के स्वस्थ विकास की स्थिति सुनिश्चित हो सकेगी। लेकिन औद्योगिक अर्थव्यवस्था में प्रस्तावित आमूल चूल परिवर्तन, और अधिक सुन्दर स्वच्छ नीति निवेश, संस्थागत व्यवस्था में परिवर्तन तथा वर्गानुसार संबंधों पर निर्भर करेगा।

आशा और अनिश्चितता

नीतियों में उठाये गये नये-नये कदम एक मौलिक परिवर्तन की ओर संकेत करते हैं क्योंकि इनमें योजना के उद्देश्यों और प्राथमिकताओं पर इतना अधिक एतराज नहीं है जितना कि वर्तमान नीतिगत ढांचे पर। वे इसी अवधारणा या विचारधारा पर आधारित हैं कि वर्षों के दौरान बने नियमन उपकरणों ने लोगों की सृजनात्मक शक्ति और पहल करने की इच्छाओं, का दमन किया है, कार्यकुशलता का ह्रास किया है तथा एक समानांतर अर्थव्यवस्था को फलने फूलने का अवसर दिया है। उच्च बचत दर प्राप्त करने के बावजूद तथा इसके परिणामस्वरूप उच्चस्तरीय पूंजी इकट्ठी होने के बावजूद, निवेश के लाभ में कमी आयी। दूसरे शब्दों में, पूंजी-उत्पादन अनुपात में वृद्धि हुई जिसका अर्थ था उत्तरोत्तर बढ़ती उच्च लागत-पूर्ण अर्थव्यवस्था। इस प्रकार सभी स्पष्ट संकेत नीतिगत ढांचे में परिवर्तन की आवश्यकता पर जोर दे रहे थे। इस प्रकार के परिवर्तन को तार्किकता अधिकांश सुविचारित जांच कमेटियों ने प्रदान की—इन कमेटियों में डागली कमेटी, अलैक्जेंडर कमेटी, सेनगुप्ता कमेटी, तथा नरसिम्हा कमेटी प्रमुख हैं। दुर्भाग्यवश, श्री जगदीश भगवती के अनुसार इस तार्किकता का उपयोग सुस्पष्ट तरीके से नहीं किया गया और इसकी समरूपता को हमारी योजनाओं के मौलिक उद्देश्यों और नीतियों के साथ बताया नहीं गया है (सातवीं पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास स्मृति व्याख्यानमाला, नवंबर 1987, बंबई)। इसका परिणाम यह है कि नीतिगत परिवर्तनों को पूंजीपतियों तथा एकाधिकार घरानों के अनुसार बनाया जाता है और समाज के समाजवादी उद्देश्यों को तिलांजलि दे दी जाती है। इस तरह की धारणा आंशिक रूप से एक

सुस्पष्ट तर्क के अभाव में तथा आंशिक रूप में कुछ व्यक्तिगत स्वार्थों से बन जाती है। इस प्रकार के सामाजिक हित के परिवर्तनों से जिन स्वार्थों को नुकसान होता है, उनमें ऐसे नौकरशाह का नाम लिया जायेगा जो पुराने तंत्र में पूरी तरह एकछत्र सत्ता रखते थे, भ्रष्ट व्यापारी तथा औद्योगिक और व्यापारिक स्वार्थ जो सुरक्षात्मक बाजार के लाभ उठा रहे थे।

लेकिन इसमें भी संक्रमण की स्थिति तथा अंतिम परिणति के बारे में कुछ वास्तविक समस्याएं तथा अनिश्चितताएं हो सकती हैं। बार-बार हिस्सों में किए गये नीतिगत परिवर्तन तथा कुछ मामलों में बाहरी दबावों के कारण अथवा निकट भविष्य में संभावित नुकसानों के कारण जो संशोधन किये जाते हैं उनसे यह धारणा बनती है कि जल्दबाजी में नीतियों के साथ समझौता किया जा सकता है। इन सब कारणों से कभी-कभी शंका होती है कि इस बारे में कोई क्रमबद्ध नीति भी है अथवा नहीं। प्रायः तर्क यह दिया जाता है कि औद्योगिक मृत्यु तथा बेरोज़गारी का विकास के साथ अनिवार्य जुड़ाव है। एक तर्क यह भी दिया जाता है कि भारतीय उद्योग का बाजार काफी विस्तृत है–आज की स्थिति में–1000-1500 लाख मध्यमवर्गीय तथा उच्च-मध्यमवर्गीय जनसंख्या का बाजार जो किसी भी यूरोपीय अथवा जापानी बाजार के समकक्ष है। लेकिन इस प्रकार की विचारधारा पर आधारित तरीकों में निहित खतरों के बारे में कुछ लोगों द्वारा दी गयी चेतावनी को ध्यान में रखना आवश्यक है। अविवेकपूर्ण प्रतिस्पर्धा, अनिर्बन्धित आयात, आधुनिक टेक्नोलौजी का प्रवेश तथा सार्वजनिक विनियोजन में कटौती जैसे कार्य धनी और निर्धन, नगर और गांव तथा बेरोजगार और बारोजगार की खाई को और अधिक चौड़ा ही करते हैं। अधिक प्रभावशाली नीति यंत्रों की तलाश में मूल सामाजिक-आर्थिक उद्देश्य हमारी आंखों से ओझल नहीं हो जाने चाहिए।

अनुसूचियां

कुछ विशेष उद्योगों में उत्पादन स्तर

अनुसूची 1

आधारभूत संरचना

	इकाई	1950 51	1955-56	1960-61	1965-66	1968-69
1	2	3	4	5	6	7
1. कोयला (लिगनाइट सहित)	मिलि. टन	32.8	39.0	55.7	67.7	71.5
ऊर्जा						
2. संस्थापित क्षमता	मिल. कि.वा.	2.3	3.4	5.6	10.2	14.29
3. उत्पादन	बिल कि.वाह.	6.6	10.8	20.1	36.8	51.7
4. विद्युतीकृत गांव [31 मार्च की स्थिति]	'000 संख्या	3.1	7.3	21.8	45.1	73.7
पेट्रोलियम						
5. कच्चा तेल	मिलि. टन	0.4	0.4	0.45	3.47	6.6
6. तेल शोधन क्षमता [कच्चे तेल से]	मिलि. टन	0.4	3.6	6.13	10.23	17.5
7. उत्पाद	मिलि. टन	0.2	3.4	5.8	9.4	16.13
रेलवे						
8. सवारियां ढोती हुई	मिलि. टन	1,284	1,275	1,549	2,082	2,213
9. सवारियां किलोमीटर	'000 मिल.	66.5	62.4	77.7	96.3	106.9
10. माल ढोती हुई	मिलि. टन	93	115.9	156.2	203.0	204.0
11. माल टन/ किलोमीटर	'000 मिल.	44.1	59.6	87.7	117	125
12. बिजली तथा डीजल इंजन {कुल जोड़}	संख्या	89	146	312	1,130	1,509
13. भाप इंजन {कुल जोड़}	संख्या	8,120	9,026	10,312	10.613	10,046
14. वैगन {कुल जोड़}	'000 संख्या	205.6	240.8	307.9	370.0	381.9
15. वैगन {निर्माण}	'000 संख्या	2.9	15.3	11.9	33.5	16 5
16. सवारी कोच ई एम यू सहित {कुल जोड़}	'000 संख्या	19.6	23.3	28.4	32.9	34.5
17. रूट किलोमीटर	'000 संख्या	53.6	55.0	56.2	58.4	59.6

(–) इसका अर्थ है न्यून अथवा नगण्य अथवा निश्चित नहीं किया गया जैसा कि लक्ष्यों के बारे में है।

1970-71	1973-74	1978-79	1979-80	1984-85 लक्ष्य	1984-85 वास्तविक	1989-90 लक्ष्य	1985-86	1986-87	1987-88
8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
75.3	81.8	105.4	106.8	173	155.23	241.20	162.30	175.40	191.00
16.27	18.5	29.0	31.0	51.0	47.70	64.74	52.40	55.40	60.80
61.2	66.5	110.0	112.0	191.0	169.0	295.4	183.6	201.9	217.2
–	156.7	232.8	205.1	350.1	368.84	486.94	390.29	412.02	433.55
6.8	7.2	11.7	11.8	21.6	28.99	34.53	30.2	30.5	30.36
18.38	20.96	25.97	27.47	38.0	45.55	54 05	45.5	45.7	46.70
					(35.56)	(54.05)	(42.91)	(45.7)	(47.75)
17.1	19.5	24.2	25.8	35.3	33.2	52.67	39.88	42.8	44.4
2,431	2,654	3,719	3,505	–	3,380	–	3,433	3,580	3,792
118 1	135.7	192.95	198.6	–	228.7	–	240.6	256.5	269.4
196.5	184.9	223.4	217.8	309	264 4	340	286.4	307.3	318.5
127.4	122.4	154.82	156	–	182.55	–	205.9	223.1	231.2
1,771	2,279	3,070	उ.न.	–	4,157	–	4,348	4,548	4,734
9,387	8,847	8,082	उ.न.	–	5,970	–	5,571	4,950	4,427
384.0	388.4	401.9	उ.न.	–	365.4	–	359.6	354.6	346.8
384.0	7.4	11.6	12.1	25.0	13.0	–	13.1	15.2	15.8
35.1	36.6	37.6	उ. न.	–	38.6	–	38.3	38.0	37.7
59.8	60.2	60.8	60.9	–	61.8	–	61.8	61.8	620

1	2	3	4	5	6	7
18. रूट दुगना किया गया	'000 संख्या	5.1	5.2	6.7	9.4	10.4
19. रूट विद्युतीकृत	कि. मी.	388	388	748	2,423	3,247
सड़क परिवहन						
20. समतल सड़कें	'000 कि.मी.	156	209	234	343	393
21. सभी प्रकार के वाहन**	'000 संख्या	306	426	665	1,099	उ.न.
22. कार, जीप-टैक्सियां**	'000 संख्या	159	203	310	456	उ.न.
23. व्यापारिक वाहन	'000 संख्या	116.3	165.6	224.4	332.2	उ.न.
24. व्यापारिक वाहन (उत्पादन)	'000 संख्या	2.2	14.5	27.5	38.5	40.9
समुद्री जहाज						
25. टन	मिलि. जी.आर.टी.	0.39	0.48	0.85	1.55	2.14
26. विदेशों में	मिलि. जी.आर.टी.	0.17	0.24	0.57	1.22	1.8
27. तटीय	मिलि. जी.आर.टी.	0.22	0.24	0.36	0.33	0.34
28. बड़े प्रमुख बन्दरगाह कुल जहाजों का आवागमन	मिलि. टन	19.2	22.6	40	50	55.7
29. टेलीफोन (कुल)	'000 संख्या	168	278	463	858	1,120

** 31 मार्च तक पंजीकृत उ.न.=उपलब्ध नहीं

* टेलीफोन उपकरणों का उत्पादन

8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
112	12.3	12.9	उ.न.	–	13.3	–	13.5	13.6	13.8
3,706	4,191	4,723	4,820	–	6185	–	6154	6181	6197
398	499	622	658	–	833	–	उ. न.	उ. न.	उ.न.
1,865	2,327	4,054	4,514	–	9,006	–	10,356	11,992	उ.न.
682	768	996	1,055	–	1,546	–	1,704	1,870	उ.न.
436	538.6	577	612	–	993	–	1,101	1,202	उ.न.
41.3	41.9	57.6	57.4	105.0	96.8	160.0	103.0	106.0	119.6
2.4	3.09	5.58	5.55	–	637	–	5.95	5.48	5.47
2.2	2.83	5.18	5.30	–	6.02	–	5.65	5.10	5.03
0.2	0.26	0.4	0.25	–	0.35	–	0.30	0.38	0.44
55.6	64.0	69.72	78.5	–	106.7	–	120.0	124.2	133.8
1,293	1,637	2,424	उ.न.	–	637.8*	–	710.7*	761.9*	777.0

अनुसूची 2

कृषि संबंधी कच्चा माल तथा बागान उत्पाद

1	2	3	4	5	6	7
1. कपास	मिल गांठें (गांठ-170 कि.ग्रा.)	2.9	4.22	5.55	4.85	5.44
2. जूट और मेस्टा	मिल गांठें (गांठ-180 कि.ग्रा.)	3.51	4.47	4.14	4.48	2.93
3. चाय	'000 टन	275	285	332	376	398
4. गन्ना (गुड़)	मिलि. टन	6.92	7.43	11.41	12.77	12.83
5. तेल बीज	मिलि. टन	5.02	5.5	6.87	6.4	6.85
6. तंबाकू	'000 टन	261	303	307	293	361
7. रबड़	'000 टन	15.4	22.5	25.4	50.0	71.1
8. कॉफी	'000 टन	21.0	29.0	54.1	62.1	66.0

उ.न.=उपलब्ध नहीं

8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
4.76	6.31	7.93	7.7	9.2	8.5	9.5	8.7	6.9	6.4
4.94	6.22	6.45	8.0	9.1	7.8	9.5	12.6	8.6	6.8
421	472	576	530	–	634	766	652	618	685
12.98	14.43	16.4	12.7	20.2	17.3	21.7	17.1	18.6	19.7
9.26	8.85	9.55	8.1	11.0	12 95	18.0	10.83	11.27	12.38
362	462	451	उ.न.	–	490	–	440	440	उ.न.
92.2	125.2	135.3	148.5	200	187	–	200	220	235
71.4	86.4	115.0	उ.न.	–	141	180	160	140	164

अनुसूची 3

उपभोक्ता वस्तुएं

	1	2	3	4	5	6	7
1.	मिल में बना कपड़ा	मिल मीटर्स	3,401	4,665	4,649	4,401	4,597
2.	हथकरघा, *पावरलूम और खादी*	मिल मीटर्स	917	1,643	2,072	3,141	3,605
3.	चीनी (चीनी वर्ष)	'000 टन	1.134	1,890	3,029	3,410	3,559
4.	वनस्पति	'000 टन	170	280	340	401	466
5.	सिलाई मशीनें (संगठित क्षेत्र में)	'000 संख्या	33	111	303	430	427
6.	साइकिल टायर (संगठित क्षेत्र में)	'000 संख्या	99	51.3	1.071	1,574	1,990
7.	साइकिल टायर (संगठित क्षेत्र में)	मिलि. संख्या	–	5.8	11.15	18.46	24.57
8.	मोटर साइकिल, स्कूटर मोपेड	'000 संख्या	–	1.5	19.4	40.7	84.6
9.	सवारी कारें	'000 संख्या	2.2	10.0	19.1	24.8	37.3
10.	बिजली के पंखे	'000 संख्या	200	290	1,059	1358	1,481
11.	रेडियो सेट	'000 संख्या	49	102	282	606	1,489
12.	सूखा सेल	'000 संख्या	136	161	214	283	436
13.	कक्ष वातानुकूलक	'000 संख्या	–	–	12.1	12.6	12.5
14.	घरेलू रेफ्रीजिरेटर	'000 संख्या	–	0.725	11.7	306	52.7
15.	दवाइयां तथा फार्मेस्युटिकल्स	करोड़ रुपयों में	–	उ.न.	60	150	200
16.	साबुन (संगठित क्षेत्र में)	'000 टन	106	102	147.7	163	218.8
17.	सिंथेटिक डिटर्जेन्ट	'000 टन	–	–	1.6*	8.4*	17.8*
18.	चमड़े के जूते (संगठित क्षेत्र में)	मिलियन	5.2	5.7	9.3	16.1	17.9
19.	रबड़ के जूते (संगठित क्षेत्र में)	मिलियन	18.5	35.6	45.2	52.7	55.8
20.	नमक	'000 टन	2,777*	3.318*	4,522*	उ.न.	उ.न.
21.	घड़ियां	'000 संख्या	–	–	–	–	–

*1951, 1956 वर्षों के लिए

उ.न.=उपलब्ध नहीं

8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
4,055	4,083	4,314	4,082	4,900	3,432	4,500	3,376	3,317	3,027
3,541	3,863	5,084	6,482	8,400	8,582	10,000	9,122	9,671	9,965
3,740	3,948	5,858	3,859	7,640	6,144	10,200	7,003	8,504	9,103
588.4	449	678	618	900	936	1210	870	918	980
235.0	257	205.5	386	470	349	400	291	377	327
2,078.3	2,575	3,743	3,736	6,000	5,893	8,000	5,553	6,119	6,676
19.71	24	32.2	27.7	34.0	31.2	34.0	36.1	37.0	38.0
109.2	150.7	300.1	317.5	500	918	1600	1222	1435	1541
36.8	44.5	33.2	33.1	48.0	74.2	130	87.5	102.4	138.4
1,725	2.18	3,100	3,870	6,600	4,800	6,500	5,200	3,940	3,140
1,824	1,765	2,001	2,059		1199		1,161	1,249	882
506	654	880	852	1,400	1,148	1,400	1,188	1,166	2,087
18.5	27.7	24.4	29.5		29		34	उ.न.	उ.न.
71.1	110.7	185.3	222.5	390.0	576.0	900.0	642.0	600	677.0
उ.न.	उ.न.	उ.न.	उ.न.	उ.न.	2,204	4,583	2,361	2,598	2,870
233.0	234	330	300	370	376	625	380	420	460
35.7	72.2	130.3	170	300	168	557	193	205	350
15.8	14.5	12.3	13.0	25.0	15.0	44.0	19.0	17.0	19.0
55.2	38.8	39.4	40.7	55.0	35.8	44.0	39.0	41.0	41.5
5,570	6,311	6,992	6,483	–	8,304	–	10,482	9,570	9,827
उ.न.	–	4,990	4,580	12,500	5,530	9,000	5,300	7,500	14,000

अनुसूची 4
उत्पादक वस्तुएं

1	2	3	4	5	6	7
खनिज						
1. लौह अयस्क	मिलि. टन					
प्राथमिक धातुएं		3.0	4.3	11.0	24.5	28.1
2. बिक्री के लिए						
लौह पिण्ड	मिलि. टन	0.36	0.39	1.1	1.2	1.3
3. इस्पात	मिलि. टन	1.47	1.74	3.5	6.5	6.5
4. तैयार इस्पात	मिलि. टन	1.04	1.3	2.4	4.5	4.7
5. मिश्रित तथा						
विशेष इस्पात	'000 टन	–	–	–	उ.न.	200
6. शुद्ध किया गया तांबा	'000 टन	7.1	7.6	8.5	9.4	9.4
7. अल्मुनियम	'000 टन	4.0	7.4	18.3	62.1	125.3
औद्योगिक मशीनरी						
8. सीमेंट मशीनरी	मिलि. रुपये	–	4	6	49	81.8
9. चीनी मशीनरी	मिलि. रुपये	–	2	44	77	118
10. सूती कपड़ा मशीनरी	मिलि. रुपये	–	40	104	216	138
11. कागज तथा लुग्दी						
मशीनरी	मिलि. रुपये	–	–	उ.न.	16.8	27
12. धातुकर्मी तथा अन्य						
भारी उपकरण	मिलि. रुपये	–	–	–	उ.न.	उ.न.
13. कोयला तथा खनन						
मशीनरी	मिलि. रुपये	–	–	–	उ.न.	उ.न.
14. रसायन मशीनरी	मिलि. रुपये	–	–	–	–	–
15. मुद्रण मशीनरी	मिलि. रुपये	–	–	–	–	1.0
16. मशीनी पुर्जे-औजार	मिलि. रुपये	3	8	70	294	247
17. कृषि ट्रैक्टर	'000 संख्या	–	–	उ.न.	6.3	15.4
18. डीजल इंजन (स्थैतिक)	'000 संख्या	5.5	10.4	44.7	93.1	118.0
19. बाल और रोलर						
बियरिंग	मिलि. संख्या	0.1	0.9	3.2	8.3	12.7
20. बिजली द्वारा चालित पंप	'000 टन	34	37	109	244	356
21. इस्पात कमस्टंग	'000 टन	–	–	34	57	50.4
22. इस्पात पिण्ड	'000 टन	–	–	35	68	445
23. बायलर (पावर और						
औद्योगिक)	मिलि. रुपये	उ.न.	उ.न.	उ.न.	उ.न.	उ.न.

8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
32.5	35.7	38.2	39.0	60.0	42.2	58.1	47.7	52.7	48.6
उ.न.	1.6	1.5*	0.97	1.5	1.22	1.06	1.12	1.26	1.20
6.14	6.3	8.2*	8.0*	12.45	10.81	12.68	12.15	12.40	13.08
4.48	4.5	6.6*	6.04	11.51	7.78	12.64	9.49	9.70	10.65
350	339	629.6	738.0	920	800	980	886	943	1,079
9.3	12.8	21.9	18.8	50	33	42.75	29.7	34.4	30.96
168.8	147.9	213.7	194.4	300.0	276.5	499	265	257	278
46.2	81.2	386.5	252.9	600.0	538.0	800.0	954.0	980.0	650.0
139.8	232.2	352	316	700	437.0	600.0	426.0	386.0	393.0
303	458	1,292	2100	2950	4000	5000	3685	3996	4154.0
उ.न.	51.7	276.4	321.3	420.3	202	250	190	190	200.0
उ.न.	260	513.1	422.0	820.0	630	750	900	1120	980.0
उ.न.	75.3	259	303.0	450.0	450	750	440	650	590.0
उ.न.	343.8	707.1	798.0	1,300.0	1,550	2,200	1,680	1,890	1,920
उ.न.	9.3	52.8	73.4	140.4	147	250	उ.न.	उ.न.	उ.न.
414.8	673	1,328	1652	2,500	3,028	5,000	2,914	3,571	3,899.0
20.1	24.2	54.3	62.5	100.0	85	135	76.3	80.0	83.20
68.6	136.3	143.5	144.6	–	170.9	–	183.9	187.2	198.80
18.2	24.5	28.7	28.3	64.0	47.9	80	58	52	71.0
269.9	340	378	347	–	496	–	512	459	516.0
54.0	66.9	75.4	73.1	135	88	120	93	104	उ.न.
–	97.3	103.7	122.5	180	159	240	163	165	उ.न.
371.9	826.6	2,337	2,594	3,460	5,376	8,000	6,160	7,360	5,470

1	2	3	4	5	6	7
बिजली के उपकरण (भारी के अलावा)						
24. ट्रांसफॉर्मर	'000 कि.वा.	178	625	1,392	5,692	8,300
25. मोटरें	मिलि. हार्स पावर	0.10	0.27	0.73	2.25	2.69
26. एस एस आर कंडक्टर्स	'000 टन	1.7	9.4	23.6	40.6	62.5
27. भंडार बैटरियां (संगठित क्षेत्र)	'000 संख्या	200	.258	515	708.5	940
28. इलैक्ट्रोनिक्स	करोड़ रुपये	–	–	–	26.5	110.0
बिजली के उपकरण (भारी)						
29. जलीय और तापीय टर्बाइन	मिलि. कि.वा.	–	–	–	–	0.5
रासायनिक उर्वरक						
30. नाइट्रोजनयुक्त	'000 टन (N)	9	80	101	232	541
31. फास्फेटिक	'000 टन P_2O_5	9	12	53	123	210
32. कीटनाशक (रसायन)	'000 टन	–	2.6	8	उ.न.	19
भारी रसायन						
33. सोडा राख	'000 टन	45	82	152	331	405
34. कास्टिक सोडा	'000 टन	12	36	101	218	304

* 1951 और 1956 वर्षों के लिए
* केवल मुख्य उत्पादक
@ केवल बी.एच.सी.

8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
7,939	12,465	20,500	18,700	35,000	25,400	32,000	27,250	28,250	24,730
2.80	3.3	3.9	3.8	7.0	4.9	6.5	5.3	5.4	4.3
64.2	46.4	67.5	69.1	120.0	53.2	50	61	58	40.8
1,133	1,293	1,641	1645	2,310	1,997	2,800	2,200	2,600	2,930
	228.0	590.5	680.4	1,921.0	2,090	10,860	2,880	3,855	5,285
	2.10	3.1	3.2	4.7	3.1	5.1	3.3	3.6	2.48
830	1,060	2,170	2,226	4,200	3,917	6,560	4,328	5,410	5,466
29	323	770	744	1,400	1,264	2,190	1,428	1,660	1,665
16.2@	29	52.7	50.0	86.9	65.7	105.75	55.73	56.30	71.40
449	480	581	541.6	850	801	1140	849.0	912.0	956
365	419	562	545.4	850	687.9	950	727.0	764.0	958

अनुसूची 5

1	2	3	4	5	6	7
माध्यमिक उत्पाद						
1. सभी तरह के धागे	मिलि. कि.ग्रा.	534	744	801	907	959
2. रेयन फिलामेंट यार्न	'000 टन	2.1	13.5	21.7	36.2	37.2
3. विस्कोज स्टैपल फाइबर	'000 टन	2.1	13.5	22.1	38.0	60.0
4. सीमेंट	मिलि. टन	2.73	4.67	7.97	10.8	12.2
5. कागज तथा गत्ते	'000 टन	116	190	350	558	646.6
6. न्यूजप्रिंट	'000 टन	–	3.6	23.3	30.3	31.0
7. प्लास्टिक (पी.वी.सी.)	'000 टन					
एच.डी.पी, एलडीपी पोलिस्टरीन		–	–	9.5	31.3	58.1
8. सिन्थेटिक रबड़	'000 टन	–	–	–	14.3	26.0
9. जूट निर्माण	'000 टन	837	1,071	1,097	1,399	1,088
10. नाइलोन फिलामेंट यार्न,						
टायर धागा, इत्यादि	'000 टन	–	–	–	1.5	6.5
11. पोलिस्टर फिलामेंट यार्न	–	–	–	–	1.4	–
12. पोलिस्टर स्टेपल फाइबर	'000 टन	–	–	–	–	4.8
13. एक्रिलिक फाइबर	'000 टन	–	–	–	–	–
14. ऑटो टायर	'000 टन	–	898	1,438	2,308	3,412
15. विस्कौज टायर धागा	'000 टन	–	–	–	10.0	13.5
16. डी.एम.टी.	'000 टन	–	–	–	–	–
17. कैप्रोलेक्टम	'000 टन	–	–	–	–	–

8	9	10	11	12	13	14	15	16	17
1,016	10,002	1,268	1,217	1,425	1,382	542	1,454	1,526	1,555
36.0	37	42.9	41.8	43	33.1	50	42	45	46
63.0	62.0	96.2	84.5	120.0	102.0	174	90	96	119
14.35	14.7	19.3	17.7	34.5	30.1	49	33.1	36.49	39.5
755	777	1,008	1,058	1,500	1,361.2	1,800	1,517	1,569	1,662
37.3	48.7	48.0	47.5	1,80.0	197.1	340	270	285	287.0
94.6	111.9	163.1	160.0	275	247.7	623	268	276.7	259.3
30.6	23.3	25.0	29.4	45.0	38.1	72	34.64	39.24	43.0
1,060	1,074	1.046	1,336	1,500- 1,540	1368	1,625	1,352	1,395	1,195
9.2	13.5	27.7	28.8	41.5	52.8	101-115	60.76	57.73	62.0
1.0	4.5	7.2	9.0	18	55	77.8	67.9	81.0	111.0
5.4	10.6	25.5	23.6	55.0	39.6	100-117	42.86	66.0	79.00
–	–	–	3.4	14.0	20.8	30.0	22.0	23.16	22.0
3,790	4,660	7,140	7,100	11,500	11,448	23,300	12,330	12,710	14,620
17.8	16.9	16.8	15.1	21.0	7.1	15.0	10.0	11.0	8.0
27.4	4.2	27.1	27.9	56.0	26.6	178-194	55.86	96.77	115.0
–	–	14.3	13.5	18.0	16.3	118-133	19.14	18.19	18.0

अनुसूची 6

औद्योगिक उत्पादन का सूचकांक–भारित मान का वितरण

	उद्योग समूह	आधार 1956	आधार 1960	आधार 1970	आधार 1980-81
	1	2	3	4	5
I	खनन और खदान	7.47	9.72	9.69	11.46
II	बिजली	3.68	5.37	9.23	11.43
III	निर्माण	88.85	84.91	81.08	77.11
1.	खाद्य उत्पाद	13.99	12.09	7.74	5.53
2.	पेय तथा तंबाकू उत्पाद	1.49	2.22	3.02	1.57
3.	कपड़ा-सूती	42.07	27.27	17.43	15.13
4.	कागज तथा कागज उत्पाद	1.39	1.61	2.24	3.24
5.	चर्म तथा फर उत्पाद	0.18	0.43	0.66	0.49
6.	रबड़, प्लास्टिक, पेट्रोलियम तथा कोयला उत्पाद	6.83	3.56	3.93	4.00
7.	रसायन तथा उत्पाद (पेट्रोलियम और कोयला उत्पादों को छोड़ कर)	3.58	7.26	10.76	12.51
8.	अधात्विक खनिज उत्पाद	2.47	3.85	3.35	3.00
9.	प्राथमिक धातु तथा	9.25	7.38	9.31	9.80
	मिश्र धातु (लौह तथा इस्पात)	(7.48)	(6.23)	(9.12)	(9.18)
10.	धातु उत्पाद मशीनरी के अतिरिक्त	0.99	2.51	3.08	2.29
11.	इलैक्ट्रिकल के अतिरिक्त मशीनरी	1.10	3.38	5.55	6.24
12.	इलैक्ट्रिकल मशीनरी आदि	2.41	3.05	5.28	5.78
13.	परिवहन उपकरण	2.86	7.77	7.39	6.39
14.	अन्य	0.24	2.53	1.34	1.34
	कुल–खनन, बिजली तथा निर्माण	1,00.00	100.00	100.00	100.00
क्षेत्र आधारित वर्गीकरण					
I	प्राथमिक उद्योग	22.33	25.11	32.28	36.00
II	पूंजीगत माल	4.71	11.76	15.74	16.40

	उद्योग समूह	आधार 1956	आधार 1960	आधार 1970	आधार 1980-81
	1	2	3	4	5
III	माध्यमिक वस्तुएं	24.59	25.88	20.95	25.60
IV	उपभोक्ता स्थायी वस्तुएं		5.68	2.92	2.30
V	उपभोक्ता अस्थायी वस्तुएं	48.37	31.57	28.11	19.70

अध्याय 14 की अनुसूची

क्षमता उपयोगिता अनुपात : 1974-84

	भार	1974	1975	1976	1977	1978
1	2	3	4	5	6	7
प्राथमिक उद्योग	16.98	55.6	60.3	68.2	62.5	62.6
–उर्वरक	1.39	55.7	58.3	70.3	67.0	66.5
–सीमेंट	1.17	71.9	76.8	87.0	87.8	88.2
–बिक्री के लिए कच्चा लोहा	0.76	77.3	85.6	111.0	82.5	90.0
–बिक्री के लिए इस्पात	3.88	72.8	85.9	102.9	93.5	81.6
–अल्मुनियम	0.55	65.5	72.6	84.0	61.3	67.3
–बिजली	9.23	43.8	45.0	46.9	44.0	48.0
पूंजीगत वस्तु उद्योग	6.69	63.9	56.8	57.2	59.8	60.9
–बाल तथा रोलर बियरिंग	0.48	104.7	81.0	110.3	91.1	93.9
–भंडारण बैटरियां	0.22	76.2	69.7	63.0	64.7	65.5
–डीजल इंजन (अचलित)	0.64	37.5	47.3	35.2	43.3	41.5
–सूखा सेल	0.32	51.6	42.2	46.4	48.2	62.3
–पॉवर ट्रांस्फार्मर्स	1.48	83.2	60.8	58.9	66.0	66.0
–बिजली मोटरें	0.35	60.0	90.0	55.6	59.9	60.3
–रेलवे वैगन	1.13	32.7	36.0	33.3	41.5	34.6
–व्यावसायिक वाहन	1.25	65.1	59.4	61.9	58.9	65.3
–कृषि ट्रैक्टर	0.33	60.4	64.8	73.4	65.0	90.0
–सवारी कारें	0.49	77.6	49.6	66.9	79.1	66.0
माध्यमिक वस्तु उद्योग	11.67	77.1	73.5	73.7	79.8	83.6
–जूट निर्माण	2.71	72.8	76.2	80.2	88.0	88.5
–सूत कताई	6.24	76.9	69.0	67.6	75.5	79.7
–टायर	1.10	85.7	79.7	83.1	78.5	88.6
–पेट्रोलियम उत्पाद	1.62	78.9	82.2	78.1	83.2	87.4
उपभोग्य वस्तु उद्योग	15.41	80.8	77.1	77.2	79.5	85.1
–चीनी	2.75	91.6	106.4	90.6	93.2	115.9

वार्षिक औसत							वार्षिक औसत
(1974-78)	1979	1980	1981	1982	1983	1984	(1980-84)
8	9	10	11	12	13	14	15
61.8	56.8	58.5	62.5	59.1	55.7	57.2	58.6
63.6	71.4	56.3	66.0	66.7	66.1	74.1	65.8
82.3	79.6	73.3	71.6	75.0	67.0	74.0	72.2
89.3	62.0	77.2	51.6	49.2	54.9	55.8	57.7
87.3	69.2	85.5	99.3	74.9	66.1	60.6	77.3
70.1	65.1	61.7	66.3	67.0	64.0	74.0	66.6
45.5	45.0	43.6	45.8	49.4	47.9	50.1	47.4
59.7	62.3	65.7	75.0	67.1	68.8	69.1	69.1
96.2	77.2	90.7	111.1	83.5	88.00	84.0	91.5
67.8	65.4	65.5	75.1	74.6	72.0	75.0	72.4
41.0	41.2	44.2	54.9	50.1	51.2	53.0	50.7
50.1	66.4	76.9	75.1	77.0	69.1	70.0	73.6
67.0	70.3	60.3	66.2	55.5	60.4	71.0	62.7
65.1	56.3	56.7	66.7	68.1	73.0	75.0	67.9
35.6	40.8	37.3	56.5	51.6	53.6	50.0	49.8
62.1	69.5	93.3	88.6	85.8	83.2	73.0	84.8
70.7	101.9	99.9	109.5	75.7	80.6	92.0	91.5
67.8	55.9	57.5	80.0	80.4	84.9	81.0	76.8
77.5	83.8	84.8	86.2	77.7	76.1	72.4	79.4
81.1	88.5	106.4	105.0	99.5	86.6	74.8	94.5
73.7	78.9	76.7	76.9	65.5	66.4	66.9	70.5
83.1	100.0	91.9	91.2	79.0	82.5	67.0	82.3
82.0	85.0	74.8	86.8	87.6	91.4	93.2	86.8
79.9	81.4	75.1	79.9	80.8	75.9	68.1	76.0
99.5	97.2	70.0	81.0	130.2	124.9	85.7	98.4

अनुसूची

1	2	3	4	5	6	7
सिगरेट	2.21	93.3	79.6	88.9	70.8	73.5
वनस्पति	0.68	31.4	40.3	42.2	44.9	50.6
साबुन (संग्रहित क्षेत्र के)	0.61	88.1	118.1	119.0	124.7	149.8
कागत तथा गत्ता	2.17	91.7	76.1	78.9	82.3	79.8
सूती कपड़ा (मिल क्षेत्र का)	5.34	72.5	66.8	68.1	76.0	78.4
रबड़ के जूते	0.44	76.9	70.5	72.3	75.1	69.3
पंखे	0.24	78.1	72.6	79.2	109.7	93.5
रेडियो सेट	0.97	75.2	52.1	58.5	63.3	61.8
30 उद्योगों का औसत	50.75	69.3	68.0	69.0	70.4	73.1

स्रोत : भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की वार्षिक रिपोर्ट 1982-83 तथा 1984-85

	8	9	10	11	12	13	14	15
	81.2	75.9	73.8	84.1	90.9	64.0	68.0	76.2
	41.9	49.3	54.8	63.4	66.4	65.0	68.0	63.5
	119.9	127.5	141.4	147.5	135.0	109.2	109.0	128.4
	81.8	73.7	67.1	73.4	68.1	63.0	63.0	66.9
	72.4	78.9	76.9	77.9	58.0	65.3	59.6	67.5
	72.8	72.1	87.1	64.9	72.3	68.3	70.4	70.8
	86.6	118.8	115.9	98.8	83.9	92.8	96.9	97.7
	62.2	68.9	61.8	62.8	50.2	38.0	42.2	51.0
	70.0	71.1	71.0	75.8	71.0	68.3	65.6	70.3

संदर्भ सूची

1. **सर जार्ज वाट** : *द कमर्शियल प्रोडक्ट्स आफ इंडिया*, लंदन, जॉन मुरै, 1908
2. **सर जार्ज वाट** : *ए डिक्शनरी आफ इकानामिक्स प्रोडक्ट्स आफ इंडिया*, दिल्ली, काम्पो पब्लिकेशन, 1970, (6 खंड)
3. **एम. जी. रानाडे** : *ऐस्सेज़ ऑन इंडियन इकानामिक्स*, 32 वां संस्करण, मद्रास, जी. ए. नटेसन एंड कंपनी, 1920
4. **टी. मारीसन** : *इ इकानामिक ट्रांजीशन इन इंडिया*, जॉन मुरै, 1911
5. **वेरा आन्सेट** : *इकानामिक डेवलपमेंट आफ इंडिया*, लंदन, लांगमैन, 1952
6. **डेनियल एच. बुचानन** : *डेवलपमेंट आफ कैपिटेलिस्टिक एंटरप्राइज इन इंडिया*, न्यूयार्क, मैकमिलन, 1934
7. **पी. पी. पिल्लई** : *इकानामिक कंडीशन्स इन इंडिया*, लंदन, रुटलेज, 1925
8. **डी. आर. गाडगिल** : *इंडस्ट्रियल इवोल्यूशन ऑफ इंडिया इन रीसेंट टाइम्स* (1960 से 1969), पांचवां संस्करण, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971
9. **आर. सी. दत्त** : *इकानामिक हिस्टरी आफ इंडिया*, लंदन, रुटलेज, 1956 (दो खंड)
10. **विलफ्रेड मालेनबोम** : *प्रास्पेक्ट्स फार इंडियन डेवलपमेंट, जार्ज एलेन तथा अनविन*, 1962
11. **विलफ्रेड मालेनबोम** : *मार्डन इंडिया'ज इकानामी–टू डिकेड्स आफ प्लेन्ड ग्रोथ*, कोलम्बस, चार्ल्स; ई. मेरिल पब्लिशिंग कंपनी, 1971
12. **बारबरा वार्ड तथा पी. टी. बोअर** : *टू व्यूज आन ऐड टू डेवलपिंग कंट्रीज*, बम्बई, वोरा एंड कंपनी, 1968
13. **हला मिन्ट** : *द इकानामिक्स आफ द डेवलपिंग कंट्रीज*, लंदन, ह्यूचिन्सन, 1961
14. **हला मिन्ट** : *इकानामिक थ्योरी एंड अंडरडेवलपड कंट्रीज*, लंदन, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1971
15. **के. एन. राज** : *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, वार्षिक संख्या, फरवरी, 1976
16. **के. एन. राज** : *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, 13 अक्तूबर 1984

17. **के. एल. शेट्टी** : "स्ट्रक्चरल रेट्रोग्रेशन आफ द इंडियन इकानामी सिंस द मिड–60", *इकानामिक एंड पोलिटिकल वीकली*, वार्षिक संख्या, फरवरी, 1978

18. **ईश्वर आहलूवालिया** : "इंडस्ट्रियल ग्रोथ इन इंडिया–स्टेगनेशन सिंस द मिड–60", आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 1985

19. **वाई. के. अलग** : गोविंद वल्लभ पंत मेमोरियल लेक्चर्स, मार्च 1985

20. **एम. आर. कुलकर्णी तथा सतीश कुलकर्णी** : इंडस्ट्रियल ग्रोथ-I : 60 के दशक की समीक्षा", *इकानामिक टाइम्स*, 9 सितंबर, 1986

21. **एम. आर. कुलकर्णी तथा सतीश कुलकर्णी** : "इंडस्ट्रियल ग्रोथ–II : इंपेक्ट आफ पालिसी मेजर्स", *इकानामिक टाइम्स*, 10 सितंबर, 1986

22. **एम. आर. कुलकर्णी तथा सतीश कुलकर्णी,** : "इंडस्ट्रियल लाइसेंसिंग–ए क्रिटीकल इवोल्यूशन", *इकानामिक टाइम्स*, 11 फरवरी, 1987

अनुक्रमणिका

ई

उ

ऊ

ए

ओ

औ

ट

ड

त

थ

द

म

य

ह